श्री श्रीगुरु-गौरांगौ जयत.

कृष्णद्वैपायन व्यास

कृत

भगवत्-सन्देश

ऋषभ उवाच

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥१॥

(पृष्ठ १२८)

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

द्वारा विरचित वैदिक-ग्रन्थ-रत्न :

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
श्रीमद्भागवत ([illegible])
श्रीचैतन्यचरितामृत ([illegible])
भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षाएँ
श्री भक्तिरसामृतसिन्धु
श्री उपदेशामृत
श्रीईशोपनिषद्
अन्य लोकों की सुगम यात्रा
श्रीकृष्णभावनामृत : सर्वोत्तम योग पद्धति
लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ([illegible])
पूर्ण प्रश्न पूर्ण उत्तर
द्वन्द्वात्मक अध्यात्मवाद—पाश्चात्य दर्शन [illegible]
देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल की शिक्षाएँ
प्रह्लाद महाराज की [illegible]
रसराज श्रीकृष्ण
जीवन का स्रोत जीवन
योग की पूर्णता
जन्म-मृत्यु से परे
श्रीकृष्ण की ओर
श्रीकृष्ण-भक्ति की अनुपम भेंट
गीतार गान (बंगाली)
राजविद्या
श्रीकृष्णभावनामृत की प्राप्ति
दिव्य ग्रन्थ बाँटिए
पुनरागमन—पुनर्जन्म का विज्ञान
भगवत्-दर्शन पत्रिका (मासिक)

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखें—

अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

हरे कृष्ण लैण्ड, गांधी ग्राम रोड, जुहू, बम्बई—४०००४९

भगवत्-सन्देश

पंचम स्कन्ध

"सृष्टि की प्रेरणा"

(भाग एक—अध्याय १-१३)

मूल सस्कृत पाठ, हिन्दी शब्दार्थ,
हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत तात्पर्य सहित—

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति

श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

सस्थापकाचार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत सघ

अनुवादक
डा० शिवगोपाल मिश्र

अनुवाद सपादक
वेदव्यास दास
श्रीनिवासाचार्य दास

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

बम्बई * न्यूयार्क * लॉस एजिलस * लदन * पेरिस * फ्रैंकफर्ट

इस ग्रन्थ की विषय वस्तु मे रुचिवान पाठको को अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत सघ अपने निम्नलिखित भारतीय केन्द्रो से सम्पर्क तथा पत्र-व्यवहार करने के लिए आमन्त्रित करता है—

अंतर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ

१ इस्कॉन वृन्दावन, कृष्ण-बलराम मदिर, भक्तिवेदान्त स्वामी मार्ग, रमणरेती, **वृन्दावन** (मथुरा, उत्तर प्रदेश)

२. इस्कॉन बबई, हरे कृष्ण धाम, जुहू, **बम्बई**—४०००४६ (महाराष्ट्र)

३ इस्कॉन दिल्ली, एम-११६, ग्रेटर कैलाश १, **नई दिल्ली**—११००४८

४. इस्कॉन कलकत्ता, ३, एल्बर्ट रोड, **कलकत्ता**—७०००१७ (प० बगाल)

५. इस्कॉन मद्रास, २३२, किल्पक गार्डेन रोड, किल्पक, **मद्रास**—६०००१०

६ इस्कॉन अहमदाबाद, ७, कैलास सोसायटी, आश्रम रोड, **अहमदाबाद**—३८०००९

७ इस्कॉन हैदराबाद, नमपल्ली स्टेशन रोड, **हैदराबाद**—५००००१ (आ प्र)

८ इस्कॉन बगलोर, ३४/ए, ६-बी क्रॉस, कॉर्ड रोड के पश्चिम मे, राजाजी नगर, दूसरी गली, **बंगलोर**—५६००१०

९. इस्कॉन गौहाटी, पोस्ट बॉक्स १२७, **गौहाटी**—७८१००१ (आसाम)

१० इस्कॉन सूरत, श्री श्रीराधाकृष्ण मदिर, जहागीरपुरा, रैंडर रोड, **सूरत**, (गुजरात)

११ इस्कॉन बडौदा, १६, बडौदा मदिर, हरे कृष्ण धाम, १८, सुजाता सोसायटी, गोत्री रोड, **बड़ौदा**—३९०००७ (गुजरात)

१२ इस्कॉन चडीगढ, हरे कृष्ण धाम, दक्षिण मार्ग, सेक्टर न० ३६-बी, **चंडीगढ** (पजाब)

१३ इस्कॉन मायापुर, मायापुर चद्रोदय मदिर, **श्रीमायापुर धाम**, नदिया (प. ब)

१४ इस्कॉन भुवनेश्वर, पोस्ट बॉक्स १७३, नैशनल हाइवे न० ५, नुआपल्ली, **भुवनेश्वर**—७५१००१ (उडीसा)

१५. इस्कॉन मणिपुर, तिडिम रोड, शघाई प्रो, **इम्फाल**—७९५००१ (मणिपुर)

१६. इस्कॉन त्रिवेन्द्रम, स्थानु भवन, विक्रनपुरम हिल, कुरवनकोनम, **त्रिवेन्द्रम**—६९५००३ (केरल)

१७ इस्कॉन सिल्चर, महाप्रभु कॉलनी, मलूग्राम, **सिल्चर**—७८८००२ (आसाम)

१८ इस्कॉन तिरूपति, शखभृतदास, ३७-बी, टाईप टी टी. डी क्वाटर्स विनायक नगर, के. टी. रोड, **तिरूपति**

१९ इस्कॉन नेपाल, श्री कुज, कमलडी, **काठमाण्डु**, (नेपाल)

प्रथम हिन्दी सस्करण, जून १९८३—५,२०० प्रतियाँ

प्रकाशक : भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, बम्बई—४०००४९

मुद्रक : अशोक मुद्रण गृह, ४२, ताशकन्द मार्ग, इलाहाबाद—२११००१

लेखक-परिचय

कृष्णकृपाश्रीमूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद का जन्म १८९६ ई० में भारत के कलकत्ता नगर मे हुआ था। अपने गुरु महाराज श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी से १९२२ में कलकत्ता मे उनकी प्रथम भेट हुई। एक सुप्रसिद्ध धर्म तत्त्ववेत्ता, अनुपम प्रचारक, विद्वान्-भक्त, आचार्य एव चौसठ गौडीय मठो के संस्थापक श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती को ये सुशिक्षित नवयुवक प्रिय लगे और उन्होने वैदिक ज्ञान के प्रचार के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करने की इनको प्रेरणा दी। श्रील प्रभुपाद उनके छात्र बने और ग्यारह वर्ष बाद (१९३३ ई) प्रयाग (इलाहाबाद) मे विधिवत् उनके दीक्षा-प्राप्त शिष्य हो गये।

अपनी प्रथम भेट, १९२२ ई० मे ही श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने श्रील प्रभुपाद से निवेदन किया था कि वे अँग्रेजी भाषा के माध्यम से वैदिक ज्ञान का प्रसार करें। आगामी वर्षो मे श्रील प्रभुपाद ने श्रीमद्भगवद्गीता पर एक टीका लिखी, गौडीय मठ के कार्य मे सहयोग दिया तथा १९४४ ई० मे बिना किसी की सहायता के एक अँग्रेजी पाक्षिक पत्रिका आरम्भ की, जिसका सम्पादन, पाण्डुलिपि का टङ्कण और मुद्रित सामग्री के प्रूफ शोधन का सारा कार्य वे स्वय करते थे। उन्होने एक-एक प्रति नि.शुल्क बाँटकर भी इसके प्रकाशन को वर्त्तमान रखने के लिए सघर्ष किया। एक बार आरम्भ होकर फिर यह पत्रिका कभी बन्द नही हुई, अब यह उनके शिष्यो द्वारा पश्चिमी देशो मे भी चलाई जा रही है।

श्रील प्रभुपाद के दार्शनिक ज्ञान एव भक्ति की महत्ता पहचान कर "गौडीय वैष्णव समाज" ने १९४७ ई० मे उन्हे **भक्तिवेदान्त** की उपाधि से सम्मानित किया। १९५० ई० मे चौवन वर्ष की अवस्था मे श्रील प्रभुपाद ने गृहस्थ जीवन से अवकाश लिया और चार वर्ष बाद वानप्रस्थ ले लिया जिससे वे अपने अध्ययन और लेखन के लिए अधिक समय दे सके। श्रील प्रभुपाद ने तदनन्तर श्रीवृन्दावन धाम की यात्रा की, जहाँ वे बडी ही सात्विक परिस्थितियो मे मध्यकालीन ऐतिहासिक श्रीराधा-दामोदर मन्दिर मे रहे। वहाँ वे अनेक वर्षो तक गम्भीर अध्ययन एव लेखन मे सलग्न रहे। १९५९ ई० मे उन्होने सन्यास ग्रहण कर लिया। श्रीराधा-दामोदर मन्दिर मे ही श्रील प्रभुपाद ने अपने जीवन के सबसे श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण ग्रन्थ का आरम्भ किया था। वह ग्रन्थ था अठारह हजार श्लोक सख्या के श्रीमद्भागवत पुराण का अनेक खण्डो मे अँग्रेजी मे अनुवाद और व्याख्या। वही उन्होने "अन्य लोकों की सुगम यात्रा" नामक पुस्तिका भी लिखी थी।

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ के तीन खण्ड प्रकाशित करने के बाद श्रील प्रभुपाद १९६५ ई० मे अपने गुरुदेव का धर्मानुष्ठान पूरा करने के लिये सयुक्त राज्य अमेरिका गये। अन्ततः श्रील प्रभुपाद ने भारतवर्ष के श्रेष्ठ दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थो के प्रामाणिक अनुवाद, टीकाएँ एव सक्षिप्त अध्ययन-सार के रूप मे साठ से अधिक ग्रन्थ रत्न प्रस्तुत किये।

१९६५ ई० मे जब श्रील प्रभुपाद एक मालवाहक जलयान द्वारा प्रथम बार न्यूयॉर्क नगर मे आये तो उनके पास एक पैसा भी नही था। इसके पश्चात् कठिनाई भरे

लगभग एक वर्ष के वाद जुलाई १६६६ ई० मे उन्होने "अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत संघ" की स्थापना की। १४ नवम्बर १६७७ ई० को, कृष्ण-वलराम मन्दिर, श्रीवृन्दावन धाम मे अप्रकट होने से पूर्व तक श्रील प्रभुपाद ने अपने कुशल मार्ग निर्देशन के कारण इस सघ को विश्वभर मे सौ से अधिक मन्दिरो के रूप मे आश्रमो, विद्यालयो, सस्थाओ और कृषि-समुदायो का बृहद् सगठन बना दिया।

१६६५ ई० मे श्रील प्रभुपाद ने प्रयोग के रूप मे, वैदिक समाज के आधार पर पश्चिमी वर्जीनिया की पहाडियों मे एक नव-वृन्दावन की स्थापना की। तीन हजार एकड से भी अधिक के इस समृद्ध नव-वृन्दावन के कृषि-क्षेत्र से प्रोत्साहित होकर उनके शिष्यो ने सयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशो में भी ऐसे अनेक समुदायो की स्थापना की।

१६७२ ई० मे श्रील प्रभुपाद ने डल्लास, टेक्सस मे गुरुकुल विद्यालय की स्थापना द्वारा पश्चिमी देशो मे प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा की वैदिक प्रणाली का सूत्रपात किया। तव से, उनके निर्देशन के अनुसार श्रील प्रभुपाद के शिष्यो ने सम्पूर्ण विश्व में दस से अधिक गुरुकुल खोले है। श्रीवृन्दावन धाम का भक्तिवेदान्त स्वामी गुरुकुल इनमे सर्वप्रमुख है।

श्रील प्रभुपाद ने श्रीधाम-मायापुर, पश्चिम बगाल मे एक विशाल अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र के निर्माण की प्रेरणा दी है। यही पर वैदिक साहित्य के अध्ययनार्थ सुनियोजित सस्थान की योजना है, जो अगले दस वर्ष तक पूर्ण हो जायेगा। इसी प्रकार श्रीवृन्दावन धाम मे भव्य कृष्ण-बलराम मन्दिर और अन्तर्राष्ट्रीय अतिथि भवन का निर्माण हुआ है। ये वे केन्द्र है जहाँ पाश्चात्य लोग वैदिक सस्कृति का मूल रूप से प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते है। बम्बई मे भी श्री राधारासबिहारीजी मन्दिर के रूप मे एक विशाल सास्कृतिक एव शैक्षणिक केन्द्र का विकास हो चुका है। इसके अतिरिक्त भारत मे वारह अन्य महत्वपूर्ण स्थानो मे हरे कृष्ण मन्दिर खोलने की योजना कार्याधीन है।

किन्तु, श्रील प्रभुपाद का सवसे वडा योगदान उनके ग्रन्थ है। ये ग्रन्थ विद्वानो द्वारा अपनी प्रमाणिकता, गम्भीरता और स्पष्टता के कारण अत्यन्त मान्य है और अनेक महाविद्यालयो मे उच्चस्तरीय पाठ्य ग्रन्थो के रूप मे प्रयुक्त है। श्रील प्रभुपाद की रचनाएँ अट्ठाईस भाषाओ मे अनूदित है। १६७२ ई० मे केवल श्रील प्रभुपाद के ग्रन्थो के प्रकाशन के लिए स्थापित भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे विश्व का सवसे वडा प्रकाशक हो गया है। इस ट्रस्ट का एक अत्यधिक आकर्षक प्रकाशन श्रील प्रभुपाद द्वारा केवल अठारह मास मे पूर्ण की गई उनकी एक अभिनव कृति है जो बगाली धार्मिक महाग्रन्थ श्रीचैतन्यचरितामृत का सत्रह खण्डो मे अनुवाद और टीका है।

वारह वर्षो मे, अपनी वृद्धावस्था की चिन्ता न करते हुए परिव्राजक (व्याख्यान-पर्यटक) के रूप मे श्रील प्रभुपाद ने विश्व के छहो महाद्वीपो की चौदह परिक्रमाएँ की। इतने व्यस्त कार्यक्रम के रहते हुए भी श्रील प्रभुपाद की उर्वरा लेखनी अविरत चलती रहती थी। उनकी रचनाएँ वैदिक दर्शन, धर्म, साहित्य और सस्कृति के एक यथार्थ पुस्तकालय का निर्माण करती है।

विषय-सूची

अध्याय छह

अध्याय सात

अध्याय आठ

अध्याय नौ

अध्याय दस

आमुख

हमे मानव समाज की वर्तमान आवश्यकता का ज्ञान होना चाहिए। लेकिन यह आवश्यकता है क्या ? अव मानव समाज किसी देश-विशेष या जाति-विशेष की भौगोलिक सीमाओ से बँधा हुआ नही है। यह मध्ययुग की अपेक्षा अधिक व्यापक है और अव एक राज्य अथवा एक मानव समाज की सार्वभौम प्रवृत्ति परलक्षित होती है। श्रीमद्भागवत के अनुसार आध्यात्मिक साम्यवाद के आदर्श समग्र मानव समाज की एकरूपता पर, अथवा कहना चाहे तो जीवात्माओ की समग्र शक्ति पर आधारित है। महान विचारक इसे सफल आदर्शवाद वनाने के लिए उत्सुक है। श्रीमद्भागवत द्वारा मानव समाज की इस आवश्यकता की पूर्ति हो सकेगी। अतः इसका शुभारम्भ वेदान्त दर्शन के इस सूत्र, **जन्माद्यस्य यतः** से होता है, जिससे सामान्य हित के आदर्श की स्थापना हो सके।

इस समय मानव समाज विस्मृति के अन्धकार मे नही है। इसने सम्पूर्ण विश्व में भौतिक सुविधाओ, शिक्षा तथा आर्थिक विकास के क्षेत्र मे तीव्र प्रगति की है। किन्तु इस समाज के विराट वपु (शरीर) मे कही न कही कुछ टीस है, जिससे छोटी-छोटी वातों पर व्यापक रूप से झगडे हो रहे है। अत ऐसे दिशावोध की आवश्यकता है जिससे सामान्य हित के लिए मानवता, शान्ति, मैत्री तथा समृद्धि के क्षेत्रों मे एक हो सके। श्रीमद्भागवत से इस आवश्यकता की पूर्ति होगी क्योकि यह समग्र मानव समाज के पुनर्आध्यात्मिकीकरण के लिए एक सास्कृतिक भेट है।

श्रीमद्भागवत का पठन-पाठन विद्यालयो तथा महाविद्यालयो मे भी होना चाहिए, क्योकि महान छात्र-भक्त प्रह्लाद महाराज ने समाज के आसुरी स्वरूप को वदलने के लिए भागवत मे (७ ६ १) इसकी संस्तुति की है—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥

मानव समाज मे जो विषमता व्याप्त है उसका मूल कारण ईश्वरविहीन सभ्यता में नियमो का अभाव है। ईश्वर एक है, जो सर्वशक्तिमान है, जिससे प्रत्येक वस्तु का उद्भव होता है और उसी से सब का पालन होता है और उसी मे सब का निलय होता है। भौतिक विज्ञान ने सृष्टि के परम स्रोत की खोज के लिए जो उपाय किये है वे अपर्याप्त है, किन्तु तथ्य यही है कि प्रत्येक वस्तु का परम स्रोत एक ही है। इस परम स्रोत की अत्यन्त सुन्दर एव आधिकारिक व्याख्या भागवत अथवा श्रीमद्-भागवत मे हुई है।

श्रीमद्भागवत न केवल प्रत्येक वस्तु के मूल स्रोत को जानने, अपितु ईश्वर से अपने सम्बन्ध को जानने और इस परम ज्ञान के आधार पर मानव समाज की पूर्णता

के प्रति अपने कर्तव्य को पहचानने का दिव्य विज्ञान है। यह सस्कृत भापा की ओजवान पठनीय सामग्री है जिसका विस्तृत अग्रेजी अनुवाद किया जा रहा है, जिसके सतर्क पठन मात्र से ईश्वर को भलीभाँति जाना जा सकेगा, यहाँ तक कि इसका पाठक नास्तिको द्वारा किये जाने वाले प्रहारो से अपनी रक्षा करने के लिए पूर्ण योग्य वन सकेगा। इसके अतिरिक्त, पाठक दूसरो को भी मूर्त तत्त्व के रूप मे ईश्वर को स्वीकार कराने मे सक्षम हो सकेगा।

श्रीमद्भागवत का शुभारम्भ मूल स्रोत की परिभाषा से होता है। यह श्रील व्यासदेव द्वारा रचे वेदान्त सूत्र का प्रामाणिक भाष्य है, जो क्रमशः नौ स्कन्धो मे विकसित होकर भगवत्-साक्षात्कार की सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचाने वाला है। दिव्य ज्ञान की इस महान कृति के अनुशीलन के हेतु मनुष्य मे जिस एकमात्र योग्यता की आवश्यकता है वह यह कि सावधानी के साथ एक-एक पग आगे वढा जाय, पढने मे कूद-फाँद न मचाई जाय। इसके अध्यायों को एक-एक करके पढा जाय। पठन-सामग्री को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि पहले मूल सस्कृत पाठ है, फिर शब्दार्थ, अनुवाद और तब तात्पर्य दिया गया है, जिससे कि जव कोई प्रथम नौ स्कधो का वाचन समाप्त कर ले तो वह निश्चय ही भगवत्-साक्षात्कार कर लेता है।

इसका दशम स्कन्ध प्रथम नौ स्कन्धो से भिन्न है क्योकि इसका सीधा सम्वन्ध भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य लीलाओ से है। जब तक प्रथम नौ स्कन्धो को पढ नही लिया जाता तब तक दशम स्कन्ध के प्रभावो को ग्रहण नही किया जा सकता। यह ग्रथ बारह स्कधो मे पूरा हुआ है, इनमें से प्रत्येक स्कंध अपने आप मे स्वतन्त्र है, किन्तु सबो के लिए उत्तम होगा कि क्रमश एक के पश्चात् दूसरे अध्याय को विराम दे दे कर पढे।

श्रीमद्भागवत को प्रस्तुत करते हुए मै अपनी न्यूनताओ को स्वीकार करता हूँ, किन्तु फिर भी मुझे विश्वास है कि श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित कथन के आधार पर विचारक तथा समाज के नायक इसका स्वागत करेगे।

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥

(भागवत १ ५.११)

"इसके विपरीत, वह साहित्य जो अनन्त भगवान् के नाम, यश, रूप, तथा लीलाओ की दिव्य महिमा के वर्णनो से परिपूर्ण है, ऐसी दिव्य रचना है जो कुमार्गगामी सभ्यता के अपवित्र जीवन मे क्रान्ति लाने के उद्देश्य से की गई है। ऐसा दिव्य साहित्य भले ही अनियमित रूप से प्रणीत हो, किन्तु पवित्र एव साधुजनो के द्वारा सुना, गाया और स्वीकार किया जाता है।"

ॐ तत् सत्

ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी

भूमिका

"यह भागवत पुराण सूर्य के समान प्रकाशमान है और इसका उदय भगवान् श्रीकृष्ण के धर्म, ज्ञान आदि के सहित अपने धाम को प्रयाण करने के तुरन्त बाद ही हुआ। जिन व्यक्तियो ने कलियुग मे अविद्या के घोर अन्धकार मे अपनी दृष्टि खो दी है उन्हे इस पुराण से प्रकाश मिलेगा।" [श्रीमद्भागवत १.३ ४३]

भारत का कालातीत ज्ञान प्राचीन सस्कृत ग्रन्थो अर्थात् वेदो मे व्यक्त हुआ है जो मानव ज्ञान के समस्त क्षेत्रो को स्पर्श करने वाला है। प्रारम्भ मे इसका सरक्षण मौखिक परम्परा द्वारा होता रहा, किन्तु पाँच हजार वर्ष पूर्व, "भगवान् के साहित्यिक अवतार" श्रील व्यासदेव ने सर्वप्रथम वेदो को लिखित रूप प्रदान किया। वेदो के सकलन के पश्चात् उन्होने उनके साराश को **वेदान्त सूत्र** के रूप मे प्रस्तुत किया। श्रीमद्भागवत व्यासदेव द्वारा ही विरचित उनके वेदान्त सूत्रो का भाष्य (टीका) है। इसका प्रणयन उन्होने अपने आध्यात्मिक जीवन की परिपक्व अवस्था मे अपने गुरु नारद मुनि के निर्देशन मे किया था। वैदिक वाङ्मय रूपी वृक्ष का परिपक्व फल कहा जाने वाला यह श्रीमद्भागवत वैदिक साहित्य का सर्वाधिक पूर्ण प्रामाणिक भाष्य है।

श्रीमद्भागवत की रचना कर लेने के वाद व्यासजी ने अपने पुत्र मुनि शुकदेव गोस्वामी को इसके सार भाग को हृदयगम कराया। तत्पश्चात् शुकदेव गोस्वामी ने सम्पूर्ण भागवत महाराज परीक्षित को हस्तिनापुर (दिल्ली के निकट) मे गगातट पर मुनियो की एक सभा मे सुनाया। महाराज परीक्षित चक्रवर्ती सम्राट और महान राजर्षि थे। उन्हे जव सूचित किया गया कि एक सप्ताह के भीतर उनकी मृत्यु हो जायेगी, तो उन्होने अपना सारा साम्राज्य त्याग दिया और वे गगा नदी के तट पर आमरण व्रत करने तथा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए चले गये। भागवत का शुभारम्भ सम्राट परीक्षित द्वारा शुकदेव गोस्वामी से पूछे गये गम्भीर प्रश्न से प्रारम्भ होता है—

> "आप महान सतो तथा भक्तो के गुरु है। अत. मै आपसे समस्त मनुष्यो और विशेष रूप से मरणासन्न मनुष्यो के लिए सिद्धि-मार्ग दिखलाने की याचना करता हूँ। कृपया मुझे वताये कि मनुष्य के श्रवण, कीर्तन, स्मरण और आराधन का विषय क्या होना चाहिए और उसे क्या नही करना चाहिए? कृपया यह सब विधि-निषेध मुझे समझाइए।"

महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये इस प्रश्न तथा अनेक अन्य प्रश्नो का जो आत्मा की प्रकृति से लेकर ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के विषय तक सम्वन्ध रखते है, श्रीशुकदेव गोस्वामी ने जो उत्तर दिया उसे साधु-सभा सात दिनो तक मन्त्रमुग्ध होकर सुनती रही। फिर राजा की मृत्यु हो गई। जब गगातट पर शुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भागवत सुना रहे थे तो परम साधु सूत गोस्वामी वहाँ उपस्थित थे, जिन्होने उसी कथा को नैमिषारण्य मे पुन. एक साधु गोष्ठी मे कह सुनाया। ये सभी ऋषिगण वहाँ पर

दीर्घकालीन यज्ञ-सत्रो का अनुष्ठान करने के उद्देश्य से एकत्र हुए थे और वे सभी कलियुग के आने के कारण, दुष्प्रभावो को शमन करने तथा जनसामान्य की कल्याण भावना से पूरित थे। जब इन ऋषियो ने प्रार्थना की कि सूत गोस्वामी वैदिक ज्ञान का सार कह सुनाएँ तो उन्होने अपनी स्मरण शक्ति से श्रीमद्भागवत के अठारहो हजार श्लोक सुना दिये।

श्रीमद्भागवत का पाठक वस्तुत महाराज परीक्षित द्वारा पूछे गये प्रश्नो का शुकदेव गोस्वामी द्वारा दिया गया उत्तर जिस रूप मे सुनता है वे सूत गोस्वामी के मुख से निकले है। कही कही ये नैमिषारण्य मे एकत्र साधुओ के प्रतिनिधि शौनक ऋषि द्वारा पूछे गये प्रश्नो का भी उत्तर देते है। इस प्रकार एकसाथ दो प्रकार के सवाद चलते रहते है—एक गगातट पर महाराज परीक्षित तथा शुकदेव गोस्वामी के मध्य और दूसरा नैमिषारण्य मे सूत गोस्वामी तथा शौनक ऋषि के मध्य का संवाद। यही नही, बीच-बीच मे शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित को उपदेश देते हुए ऐतिहासिक घटनाओ का भी वर्णन करते चलते है। वे उन लम्बे-लम्बे दार्शनिक तर्को का विवरण भी प्रस्तुत करते है जो मैत्रेय मुनि तथा उनके शिष्य विदुर के बीच हुए। भागवत की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझ लेने पर सवादों मे जो मिश्रण हुआ है तथा घटनाओ के जो जो स्रोत है उन्हे सरलता से समझा जा सकता है। चूंकि मूलपाठ मे तिथिक्रम नही, वरन् दार्शनिक वाड्मय ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, अत. श्रीमद्भागवत की विषयवस्तु के प्रति सजग रहने की आवश्यकता है जिससे इसके गम्भीर सन्देश को पूरी तरह हृदयगम किया जा सके।

यह ध्यान देने की बात है कि भागवत के समस्त खडो को आदि से अन्त तक क्रमानुसार पढने की आवश्यकता नही है। इस संस्करण के अनुवादक ने भागवत की तुलना मिश्री से की है---चाहे जहाँ से इसका रसास्वाद करे सर्वत्र समान मिठास और स्वाद मिलेगा।

भागवत का यह सस्करण इसका पहला पूर्ण अग्रेजी अनुवाद है जिसमें मूलपाठ के साथ इसकी विस्तृत टीका है जो अग्रेजी भाषी जनता के लिए सर्वसुलभ बनाया गया है। यह विश्व के सर्वाधिक प्रसिद्ध भारतीय धर्म तथा दर्शन के उपदेशक कृष्ण कृपाश्रीमूर्ति श्रील ए० सी० भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के पाण्डित्यपूर्ण एव भक्तिमय प्रयास का परिणाम है। उनके सस्कृत पाण्डित्य और वैदिक सस्कृति के साथ ही आधुनिक जीवन-पद्धति से घनिष्ट परिचय के फलस्वरूप इस महत्वपूर्ण वरेण्य साहित्य का भव्य भाष्य पाश्चात्य जगत के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है।

पाठको को यह कृति अनेक कारणो से महत्वपूर्ण लगेगी। जो लोग भारतीय सस्कृति के मूल से परिचित होना चाहते है उनके लिए यह प्रत्येक पक्ष पर विस्तृत सूचना का आगार सिद्ध होगी। तुलनात्मक दर्शन तथा धर्म के विद्यार्थियो के लिए भागवत, भारतीय आध्यात्मिक धरोहर के अर्थ समझने मे भेदक दृष्टि प्रदान करने वाला है। समाज-विज्ञानियो तथा नृतत्वशास्त्रियो के लिए भागवत शान्त एव वैज्ञानिक ढग से सुनियोजित वैदिक सस्कृति की व्यावहारिक कार्यपद्धति को प्रकट करने वाला

है, जिसके प्रतिष्ठानों का एकीकरण अत्यन्त विकसित चिन्मय सार्वभौम दृष्टिकोण के आधार पर हुआ था। साहित्य के रसिको को भागवत श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थ प्रतीत होगा। मनोविज्ञान के छात्रो को इससे चेतना, मानव आचरण तथा आत्मस्वरूप के दार्शनिक अध्ययन की महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हो सकेगी। अन्त मे, जो आत्म-प्रकाश की खोज करने वाले है उनके लिए भागवत एक सरल व्यावहारिक पथप्रदर्शक का काम देगा जो आत्मज्ञान तथा परम सत्य का साक्षात्कार करायेगा। **भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट** द्वारा प्रस्तुत किया गया अनेक खण्डो में समाप्य समग्र मूलपाठ दीर्घकाल तक आधुनिक मानव के बौद्धिक, सास्कृतिक तथा आध्यात्मिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान बनाये रखेगा।

—प्रकाशक

अध्याय एक

महाराज प्रियव्रत का चरित्र

इस अध्याय मे वताया गया है कि राजा प्रियव्रत किस प्रकार से राजसी ऐश्वर्य तथा वैभव भोग कर पुन: पूर्ण ज्ञान को परावृत हुए। राजा प्रियव्रत पहले सासारिक ऐश्वर्य से विरक्त थे और वाद मे अपने राज्य के प्रति आसक्त हुए थे, किन्तु अन्त मे वे पुन. भुक्ति से विरक्त हो गये और इस प्रकार से उन्होने मुक्ति प्राप्त की। जब राजा परीक्षित ने यह सुना तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, किन्तु साथ ही वे मोहग्रस्त भी हुए कि भौतिक सुख (भुक्ति) से विरक्त रहने वाला एक भक्त किस प्रकार वाद मे आसक्त हो गया। इस प्रकार विस्मित होकर उन्होने शुकदेव गोस्वामी से इसके विपय मे प्रश्न किया।

राजा के पूछने पर शुकदेव गोस्वामी ने कहा कि भक्तियोग दिव्य होने के कारण किसी भौतिक प्रभाव से विचलित नही हो सकता। प्रियव्रत को यह दिव्य ज्ञान नारद के उपदेशो से प्राप्त हुआ था, अत: वे राज्य का सुखोपभोग करने के इच्छुक नही थे। किन्तु भगवान् ब्रह्मा तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र की प्रार्थना पर उन्होने राज्य स्वीकार कर लिया।

प्रत्येक वस्तु परम नियन्ता श्रीभगवान् के वश मे है अत. प्रत्येक प्राणी को उनके अनुसार कार्य करना चाहिए। जिस प्रकार से बलीबर्द को नकेल द्वारा वश मे रखा जाता है वैसे ही समस्त वद्ध जीवात्माएँ प्रकृति-गुणो के वशीभूत है। अत. सभ्य मनुष्य वर्ण तथा आश्रम धर्म के अनुसार कार्य करता है। यहाँ तक कि भौतिक जीवन मे भी कर्म करने की स्वतन्त्रता नही है। प्रत्येक प्राणी को परमेश्वर द्वारा प्रदत्त कोई-न-कोई देह ग्रहण करनी पडती है और उसी के अनुसार सुख-दुख का विभाजन होता है। अत यदि कोई बनावटी ढग से गृह-त्याग करके वन चला जाता है तो वह पुन. भौतिक जीवन मे लिप्त होता है। इन्द्रियो को वश मे करने के लिए गृहस्थजीवन एक दुर्ग के समान है। इन्द्रियो को वश मे कर लेने के वाद चाहे कोई घर मे रहे या वन मे, कोई अन्तर नही पडता।

जव महाराज प्रियव्रत ने श्रीब्रह्मा के उपदेश का पालन करते हुए राज-सिहासन स्वीकार कर लिया तो उनके पिता मनु गृह त्याग कर वन चले गये। उसके पश्चात् प्रियव्रत ने विश्वकर्मा की पुत्री वर्हिष्मती से विवाह कर लिया। वर्हिष्मती के गर्भ

से दस पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम थे—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञवाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। उनसे एक कन्या भी जन्मी जिसका नाम ऊर्जस्वती था। महाराज प्रियव्रत अपनी पत्नी तथा परिवार के साथ कई सहस्र वर्षो तक जीवित रहे। महाराज प्रियव्रत के रथ के पहियो की खॉच से सात समुद्र तथा साथ द्वीप उत्पन्न हुए। प्रियव्रत के दस पुत्रों मे से तीन ने सन्यास ग्रहण कर लिया। इनके नाम थे—कवि, महावीर तथा सवन। शेष सात पुत्र सात द्वीपो के राजा हुए। महाराज प्रियव्रत के दूसरी पत्नी भी थी जिससे उत्तम, रैवत तथा तामस नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इन सवो ने मनु की पदवी प्राप्त की। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी ने बताया कि महाराज प्रियव्रत ने किस प्रकार मुक्ति प्राप्त की।

राजोवाच

प्रियव्रतो भागवत आत्मारामः कथं मुने।
गृहेऽरमत यन्मूलः कर्मबन्धः पराभवः ॥ १ ॥

राजा उवाच=राजा परीक्षित ने कहा, **प्रिय-व्रतः**=राजा प्रियव्रत; **भागवतः** =परमभक्त; **आत्म-आरामः**=आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखने वाला; **कथम्**= क्यो; **मुने**=हे मुनि !, **गृहे**=घर पर, **अरमत**=भोग किया; **यत्-मूलः**=जिसे मूल कारण मानते हुए, **कर्म-बन्ध.**=सकाम कर्मो का वन्धन, **पराभवः**=उद्देश्य की पराजय।

अनुवाद

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे मुनि ! परम आत्मदर्शी भगवद् भक्त राजा प्रियव्रत ने ऐसे गृहस्थ जीवन में रहना क्यो पसन्द किया जो कर्म-बन्धन (सकाम कर्म) का मूल कारण तथा मानव जीवन के उद्देश्य को पराजित करने वाला है ?

तात्पर्य

भागवत के चतुर्थ स्कध मे श्रील शुकदेव गोस्वामी ने विस्तारपूर्वक वताया है कि नारद मुनि ने प्रियव्रत को किस प्रकार मानव जीवन के उद्देश्य के विषय मे पूर्णतया उपदिष्ट किया। मानव जीवन का उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार करने के पश्चात् क्रमशः भगवान् के धाम को जाना है। जब नारद मुनि राजा को इस विषय के सम्बन्ध में पूर्णतया उपदेश दे चुके थे तो फिर उन्होने भवबन्धन के मूल कारण गृहस्थ जीवन मे पुन: प्रवेश क्यो किया ? महाराज परीक्षित अत्यन्त विस्मित थे कि आत्म-साक्षात्कार करने वाले तथा भगवान् के प्रथम कोटि के भक्त राजा प्रियव्रत गृहस्थ जीवन मे कैसे

रहे आये। भक्त को गृहस्थ जीवन का कोई आकर्षण नही होता, किन्तु आश्चर्य है कि राजा प्रियव्रत ने गृहस्थ जीवन का उपभोग किया। कोई यह तर्क कर सकता है कि गृहस्थ जीवन का उपभोग क्यो अनुचित है? इसका उत्तर यह है कि गृहस्थ जीवन मे प्राणी कर्म के फल से बँध जाता है। गृहस्थ जीवन का सार इन्द्रिय-सुख है और जव तक मनुष्य इन्द्रिय-सुख प्राप्त करने की दिशा में मन को लगाता रहता है तव तक वह कर्म-फल से बँधा रहता है। आत्म-साक्षात्कार के प्रति अनभिज्ञता ही मानव जीवन की सवसे वडी पराजय है। यह मनुष्य जीवन विशेष रूप से कर्म-वन्धन से वाहर निकलने के लिए प्राप्त होता, किन्तु जब तक मनुष्य जीवन के उद्देश्य को विस्मृत करता हुआ सामान्य पशु की तरह आचरण—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन—करता है तव तक वह बद्धजीवन विताता है। ऐसा जीवन **स्वरूप-विस्मृति** कहलाता है। इसीलिए वैदिक सभ्यता मे ब्रह्मचारी के रूप मे जीवन का शुभारम्भ होता था। ब्रह्मचारी का परम कर्तव्य होता था कि वह संयम का पालन करे और संभोग से विरत रहे। अत: यदि कोई ब्रह्मचर्य के नियमों का पूर्णतया पालन करता है तो फिर वह गृहस्थ जीवन मे प्रवेश नही करता। तव वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहलाता है जिसका अर्थ है पूर्ण ब्रह्मचर्य। इस प्रकार राजा परीक्षत आश्चर्यचकित थे कि नैष्ठिक ब्रह्मचारी होते हुए भी महाराज प्रियव्रत ने गृहस्थ आश्रम मे क्यो प्रवेश किया?

इस श्लोक मे **भागवत आत्मारामः** शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि कोई श्रीभगवान् के ही समान आत्मतुष्ट होता है तो उसे **भागवत आत्मारामः** कहा जाता है। तुष्टि कई प्रकार की होती है। कर्मीजन अपने कर्मो से, ज्ञानीजन ब्रह्मा की ज्योति मे मिल जाने तथा भक्तजन भगवान् की सेवा मे तत्पर रहने से तुष्ट रहते है। श्रीभगवान् आत्मतुष्ट रहते है क्योकि वे परम ऐश्वर्यवान् है और जो उनकी सेवा करने से सतुष्ट होता है वह **भागवत आत्मारामः** कहलाता है। **मनुष्याणां सहस्रेषु**—हजारो पुरुषो मे से कोई एक पुरुष मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है और हजारो ऐसे पुरुषो मे किसी एक को इस ससार से मुक्ति प्राप्त हो पाती है और वह आत्मतुष्ट हो पाता है। यह तुष्टि भी परम तुष्टि नही होती। ज्ञानी तथा कर्मी सकाम होते है और योगी भी किन्तु भक्त निष्काम होते है। श्रीभगवान् की सेवा मे जो तुष्टि होती है उसे **अकाम** कहते है और यही परम तुष्टि है। इसीलिए महाराज परीक्षित ने जिज्ञासा की कि जो परम पद पर रह कर पूर्ण तुष्ट रहा हो वह गृहस्थ जीवन से कैसे तुष्ट हो सकता है?

इस श्लोक में आगत **पराभव** शब्द भी उल्लेखनीय है। जव कोई पुरुष गृहस्थ जीवन मे तुष्ट रहता है तो वह ईश्वर से अपने सम्वन्ध को भूल चुका होता है। प्रह्लाद महाराज ने बताया है कि गृहस्थजीवन के कार्य-कलापो मे मनुष्य किस प्रकार उलझता जाता है। **आत्मपातं गृहं अन्धकूपम्**—गृहस्थ जीवन अंधकूप के समान

है। यदि कोई इस कूप मे गिर जाता है तो उसकी आत्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है। अगले श्लोक मे यह बताया गया है कि गृहस्थ जीवन विताते हुए भी महाराज प्रियव्रत किस प्रकार मुक्त परमहस बने रहे।

न नूनं मुक्तसङ्गानां तादृशानां द्विजर्षभ।
गृहेष्वभिनिवेशोऽयं पुंसां भवितुमर्हति ॥ २ ॥

न=नही, **नूनम्**=निश्चय ही, **मुक्त-संगानाम्**=विरक्त; **तादृशानाम्**=ऐसे, **द्विज-ऋषभ**=हे ब्राह्मणो मे श्रेष्ठ, विप्रवर!, **गृहेषु**=गृहस्थ जीवन मे, **अभिनिवेशः**=अत्यधिक अनुरक्ति, **अयम्**=यह, **पुंसाम्**=मनुष्यो का, **भवितुम्**=होना, **अर्हति**=सम्भव है।

अनुवाद

भक्त-जन निश्चय ही मुक्त पुरुष होते है। अतः हे विप्रवर! वे गृहकार्यो मे दत्तचित्त नही रह सकते।

तात्पर्य

भक्तिरसामृतसिंधु ग्रन्थ मे कहा गया है कि मनुष्य ईश्वर की भक्ति करने से जीवात्मा की दिव्य स्थिति तथा श्रीभगवान् को जान सकता है। श्रीभगवान् को जानने का एकमात्र उपाय भक्ति है। श्रीमद्भागवत मे इसकी पुष्टि स्वय भगवान् करते है (११.१४ २१)। **भक्त्याहम् एकया ग्राह्यः**—"भक्ति के द्वारा ही मुझे ग्रहण किया जा सकता है। इसी प्रकार भगवद्गीता मे (१८.५५) भगवान् श्रीकृष्ण कहते है—**भक्त्या मामभिजानाति**—"केवल भक्ति द्वारा मुझे जाना जा सकता है।" अत. गृहस्थ जीवन मे लिप्त होना भक्त के लिए असम्भव है क्योकि भक्त तथा उसके साथी मुक्त होते है। प्रत्येक प्राणी आनन्द की खोज मे रहता है, किन्तु इस भौतिक जगत मे कभी भी आनन्द नही मिल सकता। इसकी प्राप्ति केवल भक्ति मे सम्भव है। पारिवारिक कार्यो मे अनुरक्ति तथा भक्ति मे कोई मेल नही है। अत महाराज परीक्षित को यह सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ कि महाराज प्रियव्रत भक्ति के साथ-साथ गृहस्थ जीवन मे भी अनुरक्त थे।

महतां खलु विप्रर्षे उत्तमश्लोकपादयोः।
छायानिर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः ॥ ३ ॥

महताम्=परम भक्तो की, **खलु**=निश्चय ही, **विप्र-ऋषे**=हे विप्रो मे ऋषि, **उत्तम-श्लोक-पादयोः**=श्री भगवान् के चरणकमलो की, **छाया**=छाया से, **निर्वृत**

=तृप्त, **चित्तानाम्**=जिनकी चेतना; **न**=नही, **कुटुम्बे**=पारिवारिक सदस्यों पर; **स्पृहा-मतिः**=आसक्ति।

अनुवाद

जिन सिद्ध महात्माओं ने श्रीभगवान् के चरणकमलो की शरण ली है वे उन चरणकमलो की छाया से परम तृप्त है। उनकी चेतना कभी भी कुटुम्बीजनों में आसक्त नहीं हो सकती।

तात्पर्य

श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—**निताइ पद-कमल; कोटिचन्द्र सुशीतल; ये छायया जगत जुड़ाय।** उन्होने भगवान् नित्यानन्द के चरणकमलो की छाया को इतना शीतल तथा सुन्दर बताया है कि भौतिक कार्यो की अग्नि से सदैव सतप्त रहने वाले समस्त भौतिकवादी उन चरणकमलो की छाया मे आकर परम तृप्त हो सकते है। गृहस्थ जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन का अन्तर वही समझ सकता है, जिसने परिवार मे रहकर कष्ट भोगे है। अत. जो एक बार भगवान् के चरणकमलों की शरण मे पहुँच जाता है वह फिर गार्हस्थ व्यापारो के प्रति आकृष्ट नही होता। जैसा कि भगवद्गीता मे (२ ५९) कहा गया है—**परंदृष्ट्वा निवर्तते**—अच्छा स्वाद चखने के पश्चात् मनुष्य निम्न कार्यो का त्याग कर देता है। इस प्रकार भगवान् के चरण-कमलो की शरण मे आते ही मनुष्य गृहस्थ जीवन से विरक्त हो जाता है।

संशयोऽयं महान् ब्रह्मन्दारागारसुतादिषु।
सक्तस्य यत्सिद्धिरभूत्कृष्णे च मतिरच्युता॥ ४॥

संशयः=सन्देह, **अयम्**=यह; **महान्**=महान्; **ब्रह्मन्**=हे ब्राह्मण, **दार**=स्त्री के प्रति, **आगार**=घर; **सुत**=बच्चे, **आदिषु**=इत्यादि, **सक्तस्य**=अनुरक्त पुरुष का; **यत्**=क्योकि; **सिद्धि**=सिद्धि, **अभूत**=हो गया, **कृष्णे**=श्रीकृष्ण मे; **च**=भी, **मतिः**=आसक्ति, **अच्युता**=अविचल।

अनुवाद

राजा ने आगे पूछा, हे विप्र! मेरा सबसे बड़ा सन्देह यही है कि राजा प्रियव्रत जैसे व्यक्ति के लिए, जो अपनी सन्तान तथा घर के प्रति इतने आसक्त थे, श्रीकृष्ण भक्ति में सर्वोच्च अविचल सिद्धि प्राप्त करना कैसे सम्भव हो सका?

तात्पर्य

राजा परीक्षित को आश्चर्य हुआ कि जो व्यक्ति पत्नी, बच्चो तथा घर के प्रति

इतना अनुरक्त हो वह किस प्रकार परम कृष्णभक्त हो सकता है। प्रह्लाद महाराज ने कहा है—**मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्**—एक **गृहव्रत** अर्थात् जिसने गृह कार्यों के पालन का व्रत ले रखा हो कभी कृष्णभक्त नही हो सकता क्योंकि अधिकाश गृहव्रत इन्द्रियतुष्टि में लगे रहते हैं, अत. वे अस्तित्व के अन्धतम स्थानों को प्राप्त होते हैं (**अदान्त-गोभिर्विशतां तमिस्रम्**)। भला ऐसे व्यक्ति कृष्णभक्ति मे किस प्रकार पूर्णता प्राप्त कर सकते है ? महाराज परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से इस सन्देह को दूर करने की प्रार्थना की।

श्रीशुक उवाच

बाढमुक्तं भगवत उत्तमश्लोकस्य श्रीमच्चरणारविन्दमकरन्दरस आवेशित-चेतसो भागवतपरमहंस दयितकथां किञ्चिदन्तरायविहतां स्वां शिवतमां पदवीं न प्रायेण हिन्वन्ति ॥ ५ ॥

श्री-शुकः उवाच=श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले, **बाढम्**=ठीक; **उक्तम्**=आपने जो कहा; **भगवतः**=श्रीभगवान् का, **उत्तम-श्लोकस्य**=जिनकी प्रशंसा उत्तम श्लोकों से की जाती है; **श्रीमत्-चरण-अरविन्द**=अत्यन्त सुन्दर सुरभित कमल पुष्पों के समान चरणो का; **मकरन्द**=मधु; **रसे**=अमृत मे; **आवेष्टित**=डुबोया हुआ, सराबोर, **चेतसः**=जिनके हृदय; **भागवत**=भक्तों को, **परम-हंस**=मुक्त पुरुष, **दयित**=रुचिकर, मनोहारी; **कथाम्**=यशोगान; **किञ्चित्**=कभी-कभी; **अन्तराय**=अवरोधों से; **विहताम्**=अवरुद्ध, **स्वाम्**=अपने; **शिव-तमाम्**=अत्यन्त शुभ; **पदवीम्**=पद; **न**=नही, **प्रायेण**=प्रायः; **हिन्वन्ति**=त्यागते है।

अनुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—तुम्हारा कथन सही है। ब्रह्मा के समान सिद्ध पुरुषों के द्वारा दिव्य श्लोको से प्रशंसित श्रीभगवान् की कीर्ति परम भक्तों तथा मुक्त पुरुषों के लिए अत्यन्त मनोहारी है। जो भगवान् के चरणकमल के अमृततुल्य मधु में अनुरक्त है तथा जिसका मन सदैव उनकी कीर्ति में लीन रहता है, वह भले ही किसी बाधा से रुक जाय, किन्तु जिस परम पद को उसने प्राप्त किया है उसे वह कभी नहीं छोड़ता।

तात्पर्य

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने राजा के दोनो कथनो को स्वीकार किया—पहला तो यह कि जो व्यक्ति कृष्णभक्ति को प्राप्त है वह पुनः गृहस्थ जीवन स्वीकार नही कर सकता और दूसरा यह कि जिसने एक बार गृहस्थ जीवन स्वीकार कर लिया है वह

कभी भी कृष्णभक्ति ग्रहण नही कर सकता—श्रीशुकदेव गोस्वामी ने इन दोनों कथनों को स्वीकार तो कर लिया, किन्तु साथ ही यह कहा कि जिस व्यक्ति ने पहले श्रीभगवान् की कीर्ति मन से स्वीकार की है वह कभी-कभी बाधाओ से प्रभावित हो सकता है, किन्तु तो भी वह अपनी भक्ति को नहीं छोड़ पाता।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भक्ति के मार्ग में दो प्रकार की वाधाएँ आती है। प्रथम, वैष्णव के चरणकमल पर ही अपराध करना जिसे **वैष्णव अपराध** कहते है—श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्तो को वैष्णव अपराध से बचने के लिए सतर्क किया और इसकी तुलना प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये अपराध से की। जव कोई प्रमत्त हाथी सुन्दर उद्यान मे घुस जाता है तो वह प्रत्येक वस्तु को विनष्ट करके खेत को उजाड देता है। इसी प्रकार वैष्णव-अपराध की शक्ति इतनी प्रबल है कि बडा से बडा भक्त भी अपराध करने पर अपनी सात्विक सम्पत्ति को खो देता है। चूंकि कृष्णभक्ति शाश्वत है, अत इसे पूर्णतया विनष्ट नही किया जा सकता, किन्तु इसकी प्रगति को कुछ काल के लिए रोका तो जा ही सकता है। इस प्रकार वैष्णव-अपराध भक्ति के मार्ग मे पहली बाधा है। किन्तु कभी-कभी श्रीभगवान् या उनके भक्त अपनी भक्ति को जानबूझ कर अवरुद्ध करना चाहते है। उदाहरणार्थ हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष पूर्वजन्म मे जय-विजय नामक वैकुण्ठ के द्वारपाल थे, किन्तु भगवदिच्छा से वे तीन जन्मो तक उनके शत्रु बने रहे। इस प्रकार दूसरे प्रकार की वाधा है भगवदिच्छा। किन्तु दोनो ही दशाओ में एक बार कृष्णभक्ति प्राप्त कर लेने के वाद विशुद्ध भक्त विनष्ट नही होता। अपने गुरुजनों (स्वायभुव तथा ब्रह्मा) के आदेश से प्रियव्रत ने गृहस्थ जीवन स्वीकार किया था, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि भक्तियोग से उसको हाथ धोना पड़ा। कृष्णभक्ति तो पूर्ण एव शाश्वत है, अत. किसी भी दशा मे वह नष्ट नही होती। चूंकि इस जगत में कृष्ण-भक्ति के पथ पर अनेक भौतिक बाधाएँ आती है, अत. कभी-कभी अनेक अवरोध प्रकट हो सकते है तो भी भगवद्गीता मे (९ ३१) भगवान् श्रीकृष्ण घोषित करते है—**कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति**—"एक बार मेरे चरणकमल में शरण लेने पर उसका विनाश नही होता।"

इस श्लोक मे **शिवतमाम्** शब्द अत्यन्त सार्थक है। इसका अर्थ है "अत्यन्त शुभ।" भक्ति का मार्ग इतना शुभ होता है कि भक्त का कभी नाश नही होता। श्रीमद्भगवद्गीता मे (६.४०) श्रीकृष्ण ने स्वय इसका वर्णन किया है—**पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते**—"हे अर्जुन! भक्त का न तो इस जन्म मे, न ही अगले जन्म मे विनाश होता है।" अन्यत्र (६ ४३) भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया है कि यह कैसे होता है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

कभी-कभी भगवान् के आदेश से परम भक्त इस भौतिक जगत् मे सामान्य मनुष्य की भाँति जन्म लेता है। ऐसा भक्त पूर्वाभ्यास के कारण अकारण ही भक्ति मे संलग्न होता है। अपने चारो ओर की परिस्थितियो के कारण सभी प्रकार की वाधाओ के आने पर भी वह स्वत: अपनी भक्ति तब तक बनाये रखता है, जव तक कि सिद्ध नही हो जाता। विल्वमगल ठाकुर पूर्वजन्म मे महान भक्त थे, किन्तु दूसरे जन्म मे उनका पतन हुआ और वे एक वेश्या से अनुरक्त हो गये। किन्तु जिस वेश्या के प्रति वे इतने आकृष्ट थे उसी के वचनो से अचानक उनकी जीवनधारा वदल गई और वे एक महान भक्त बन गये। सिद्ध भक्तो के जीवन के ऐसे अनेक उदाहरण है जिससे यह सिद्ध होता है कि एक बार भगवान् के चरणकमल की शरण ले लेने पर उनका विनाश नही होता (**कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति**)।

तो भी वास्तविकता यही है कि पापमय जीवन के फलो से पूर्णतया मुक्त होने पर ही कोई भक्त वनता है। भगवद्गीता मे (७ २८) श्रीकृष्ण कहते है—

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

"जिन पुरुषो ने पुण्य कर्मो का आचरण किया है और जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये है, वे द्वन्द्व रूप मोह से मुक्त हुए पुरुष निष्ठापूर्वक मेरी सेवा करते है।" दूसरी ओर जैसा कि महाराज प्रह्लाद ने कहा है—

मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।

जो व्यक्ति सासारिक गृहस्थ जीवन—घर, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र आदि—मे अत्यधिक आसक्त है वह कृष्णभक्ति नही कर सकता।

इन विरोधाभासो का समाधान श्रीभगवान् के अनुग्रह से एक भक्त के जीवन मे मिलता है, अत भक्त को कभी मुक्ति के पथ से भ्रष्ट नही होना पडता, जिसका वर्णन इस श्लोक मे **शिवतमां पदवीम्** के रूप मे किया गया है।

यर्हि वाव ह राजन् स राजपुत्रः प्रियव्रतः परमभागवतो नारदस्य चरणोपसेवयाञ्जसावगतपरमार्थसतत्त्वो ब्रह्मसत्रेण दीक्षिष्यमाणोऽवनितलपरिपालनायाम्नातप्रवरगुणगणैकान्तभाजनतया स्वपित्रोपामन्त्रितो

भगवति वासुदेव एवाव्यवधानसमाधियोगेन समावेशितसकलकारक-क्रियाकलापो नैवाभ्यनन्दद्यद्यपि तदप्रत्याम्नातव्यं तदधिकरण आत्मनोऽन्यस्मादसतोऽपि पराभवमन्वीक्षमाणः ॥ ६ ॥

यर्हिः = चूँकि, क्योकि, **वाव ह** = निस्सदेह, **राजन्** = हे राजा, **सः** = वह; **राज-पुत्रः** = राजकुमार, **प्रियव्रतः** = प्रियव्रत, **परम** = महान, **भागवतः** = भक्त, **नारदस्य** = नारद के, **चरण** = चरणकमल, **उपसेवया** = सेवा से, **अञ्जसा** = शीघ्र, **अवगत** = परिचित हो गया, **परम-अर्थ** = दिव्य विषय; **स-तत्त्वः** = समस्त ज्ञेय सहित, **ब्रह्म-सत्रेन** = ब्रह्म की निरन्तर चर्चा से, **दीक्षिष्यमाणः** = पूर्ण समर्पण की कामना से, **अवनि-तल** = गोलक पृष्ठ, **परिपालनाय** = राज्य करने के लिए, **आम्नात्** = शास्त्रो मे निर्दिष्ट, **प्रवर** = सर्वोच्च, **गुण** = गुणो का, **गण** = समूह, **एकान्त** = विचलित हुए विना, अविचल, **भाजनतया** = पात्रता के कारण, **स्व-पित्र** = अपने पिता के द्वारा, **उपामन्त्रित** = आज्ञा दिये जाने पर, **भगवति** = श्रीभगवान्, **वासुदेवे** = सर्वव्यापी ईश्वर मे, **एव** = निश्चय ही, **अव्यवधान** = बिना विराम के; **समाधि-योगेन** = मग्न होकर योग साधने से, **समावेशित** = अत्यन्त समर्पित, **सकल** = समस्त, **कारक** = इन्द्रियाँ, **क्रिया-कलापः** = जिनके समस्त कार्य, **न** = नही, **एव** = इस प्रकार, **अभ्यनन्दत्** = अभिनन्दित, **यद्यपि** = यद्यपि, **तत्** = वह, **अप्रत्याम्नातव्यम्** = किसी प्रकार उल्लघन न करने योग्य, **तत्-अधिकरणे** = उस पद को ग्रहण करने मे, **आत्मनः** = अपने आपको, **अन्यस्मात्** = अन्य कार्यो से, **असतः** = भौतिक, **अपि** = निश्चय ही, **पराभवम्** = ह्रास; **अन्वीक्षमाणः** = दूरदर्शिता से ।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—हे राजन् ! राजकुमार प्रियव्रत महान भक्त थे क्योकि उन्होने अपने गुरु नारद के चरणकमलों को प्राप्त कर दिव्य ज्ञान में उच्चतम सिद्धि प्राप्त की। परम ज्ञान के कारण वे आत्म-विषयों की चर्चा में सदैव संलग्न रहे और अपना ध्यान किसी ओर नही मोड़ा। इसके बाद राजकुमार के पिता ने आदेश दिया कि वह ससार पर राज्य करने का भार ग्रहण करे। उन्होंने प्रियव्रत को आश्वस्त करना चाहा कि शास्त्रो के अनुसार यह उसका कर्तव्य है, किन्तु प्रियव्रत ने तो निरन्तर भक्तियोग की साधना में रत रह कर श्रीभगवान् का स्मरण करते हुए समस्त इन्द्रियों को ईश्वर की सेवा में अर्पित कर रखा था। अतः पिता की आज्ञा अनुलंघ्य होने पर भी राजकुमार ने उसका स्वागत नही किया। इस प्रकार उन्होंने अपने अन्तःकरण में यह प्रश्न किया कि संसार पर राज्य करने

के उत्तरदायित्व को स्वीकार करके कहीं वे अपनी भक्ति से पराङ्‌मुख तो नहीं हो जायेंगे ?

तात्पर्य

श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने गाया है—**छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा**—"विशुद्ध वैष्णव या गुरु के चरणकमलो की सेवा किये विना निस्तार नही है।" राजकुमार प्रियव्रत नारद के चरणकमलो की नियमित सेवा करते थे और इस प्रकार उसे दिव्य-तत्वों का सही ज्ञान (स-तत्त्वतः) हो गया था। स-तत्त्वतः का अर्थ है कि प्रियव्रत को आत्मा, श्रीभगवान् तथा आत्मा एव श्रीभगवान् के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान था। वे इस भौतिक जगत के विषय मे तथा ईश्वर से इसके सम्बन्ध के विषय मे भी सव कुछ जानते थे। अत राजकुमार ने ईश्वर की भक्ति में अपने को लगाये रखने का निश्चय किया था।

जब प्रियव्रत के पिता स्वायभुव मनु ने उनसे ससार पर राज्य करने के दायित्व को स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की तो उन्होने उनके इस प्रस्ताव का स्वागत नही किया। यह महान मुक्त भक्त का लक्षण है। सासारिक व्यापारो मे लीन होते हुए भी वह उनमे रुचि नही दिखाता, वरन् भगवान् की सेवा मे तल्लीन रहता है। इस प्रकार ईश्वर की सेवा करते हुए भी ऊपर से वह सासारिक व्यापारो को उनसे प्रभावित हुए विना करता रहता है। उदाहरणार्थ, वच्चो के प्रति आकर्षण न होते हुए भी वह उनकी परवाह करता है और उन्हे भक्त वनने की शिक्षा देता है। इसी प्रकार वह अपनी पत्नी से प्रिय वचन वोलता है, किन्तु वह उससे आसक्त नही रहता। भक्ति के द्वारा भक्त परमात्मा के समस्त गुण ग्रहण कर लेता है। श्रीकृष्ण के एक से एक परम सुन्दरी सोलह हजार पत्नियाँ थी और वे प्रत्येक से प्रिय पति की तरह आचरण करते थे, किन्तु वे किसी के प्रति आकृष्ट या आसक्त नही हुए। इसी प्रकार भक्त भले ही गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करके अपनी पत्नी तथा पुत्रो से अत्यन्त प्यार जताता रहे, किन्तु इन कार्यो मे वह कभी आसक्त नही होता।

यह श्लोक वताता है कि अपने गुरु के चरणकमलो की सेवा करने से प्रियव्रत को शीघ्र ही कृष्णभक्ति की सिद्ध-अवस्था प्राप्त हो चुकी थी। आत्मिक जीवन मे अग्रसर होने की यही एकमात्र विधि है। वेदो मे कहा गया है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

"यदि श्रीभगवान् तथा गुरु मे अविचल श्रद्धा हो तो मनुष्य को वैदिक ज्ञान का सार प्राप्त हो जाता है।" (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६ २३) भक्त निरन्तर ईश्वर का चिन्तन करता रहता है। "हरे कृष्ण मन्त्र" का कीर्तन करते हुए उसे 'कृष्ण' तथा

'हरे' शब्दों से तुरन्त ही ईश्वर की समस्त लीलाओ का स्मरण हो आता है। चूंकि भक्त का समग्र जीवन ईश्वर की भक्ति में समर्पित रहता है, अतः वह एक क्षण के लिए भी ईश्वर को नही भुला पाता। जिस प्रकार एक सामान्य पुरुष अपने मन को भौतिक गतिविधियो मे लगाता है उसी प्रकार एक भक्त अपने मन को आध्यात्मिक कार्यो मे लगाता है। इसे **ब्रह्म-सत्र** अथवा सदैव श्रीभगवान् का चिन्तन कहते है। श्रीनारद ने राजकुमार प्रियव्रत को इस साधना मे पूर्णतया दीक्षित कर दिया था।

अथ ह भगवानादिदेव एतस्य गुणविसर्गस्य परिबृंहणानुध्यानव्यवसित सकलजगदभिप्राय आत्मयोनिरखिलनिगमनिजगणपरिवेष्टितः स्वभवना-दवततार ॥ ७ ॥

अथ=इस प्रकार, **ह**=निस्सदेह, **भगवान्**=सर्वशक्तिमान, **आदि-देवः**=प्रथम देवता; **एतस्य**=इस ब्रह्माण्ड के, **गुण-विसर्गस्य**=तीनो गुणो की उत्पत्ति; **परिबृंहण**=कल्याण, **अनुध्यान**=सदैव ध्यानमग्न, **व्यवसित**=ज्ञात, **सकल**=सम्पूर्ण, **जगत्**=ब्रह्माण्ड का, **अभिप्रायः**=परम उद्देश्य, **आत्म**=परम-आत्मा, **योनिः**=जिसके जन्म का स्रोत, **अखिल**=सम्पूर्ण, **निगम**=वेदो के द्वारा, **निज-गण**=अपने गणो (सहयोगियो) से, **परिवेष्ठितः**=घिरे हुए, **स्वभवनात्**=अपने धाम से, **अवततार**=नीचे आये।

अनुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामी बोले—इस ब्रह्माण्ड के आदि एवं सर्वशक्तिमान देवता भगवान् ब्रह्मा हैं जो इस सृष्टि की समस्त गतिविधियों के लिए उत्तरदायी हैं। श्रीभगवान् से प्रत्यक्ष जन्म लेकर वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हित को ध्यान में रखते हुए कार्य करते हैं। ऐसे परमशक्तिशाली देवता भगवान् ब्रह्मा अपने पार्षदों तथा मूर्तिमान वेदों सहित अपने सर्वोच्च लोक से उस स्थान पर उतरे जहाँ राजकुमार प्रियव्रत ध्यान धर रहे थे।

तात्पर्य

जैसा कि वेदान्त सूत्र मे व्याख्या की गई है, भगवान् विष्णु प्रत्येक वस्तु के कारण है—**जन्माद्यस्य यतः**। चूंकि ब्रह्मा का जन्म भगवान् विष्णु से हुआ था, अत. वे **आत्मयोनि** कहलाते है। उन्हे **भगवान्** भी कहा जाता है, यद्यपि सामान्यतः भगवान् से श्रीभगवान् (विष्णु या श्रीकृष्ण) का वोध होता है। कभी-कभी ब्रह्मा, नारद या शिव जैसी महान विभूतियो को भी भगवान् कहकर सम्बोधित किया जाता है क्योंकि वे श्रीभगवान् का कार्य करते है। ब्रह्मा को इसलिए भगवान् कहा जाता है क्योकि वे इस ब्रह्माण्ड के गौण सृष्टा है। वे सदैव इस विचार में रहते हैं कि इस

भौतिक जगत मे भोग हेतु आई बद्ध जीवात्माओ को किस प्रकार उठाया जाय। इसीलिए वे वैदिक ज्ञान को ब्रह्माण्ड भर मे प्रत्येक प्राणी के मार्गदर्शन हेतु प्रसारित करते रहते है।

वैदिक ज्ञान के दो विभाग किये गये है—प्रवृत्ति मार्ग तथा निवृत्ति मार्ग। निवृत्ति मार्ग इन्द्रिय सुख के वहिष्कार का मार्ग है जवकि प्रवृत्ति मार्ग वह मार्ग है जिससे जीवात्माएँ सुखोपभोग के पश्चात् भगवान् के धाम को वापस जा सकती है। चूँकि ब्रह्माण्ड पर राज्य करना एक महान उत्तरदायित्व है, अत विभिन्न युगो मे ब्रह्मा अनेक मनुओ को यह भार उठाने के लिए वाध्य करते रहते है। प्रत्येक मनु के अधीन अनेक राजा रहते है जो ब्रह्मा के कार्य को सम्पादित करते रहते है। पिछले विवरण से यह समझा जा सकता है कि ध्रुव महाराज के पिता उत्तानपाद ने विश्व का शासन इसलिए सँभाला क्योकि उनके वडे भाई प्रियव्रत प्रारम्भ से तप कर रहे थे। इस प्रकार प्रचेताओ तक ब्रह्माण्ड के राजा उत्तानपाद के वशज ही रहे। चूँकि प्रचेताओ के पश्चात् कोई उपयुक्त राजा नही हुआ, अत. स्वायभुव मनु गन्धमादन पर्वत से अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत को लाने पहुँचे, जहाँ वे ध्यान कर रहे थे। उन्होने प्रियव्रत से विश्व का शासन सँभालने के लिए प्रार्थना की। किन्तु जव उन्होने मना कर दिया तो प्रियव्रत को मनाने के लिए सत्यलोक मे ब्रह्माजी नीचे उतरे। उनके साथ मरीचि, आत्रेय तथा वशिष्ट जैसे अन्य मुनि भी थे। वे अपने साथ साक्षात् वेदो को भी लेते आये जिससे प्रियव्रत को विश्वास हो सके कि वैदिक आज्ञा का पालन तथा विश्व शासन का भार सँभालना उनके लिए अनिवार्य था।

इस श्लोक मे **स्व-भवनात्** शव्द भी महत्वपूर्ण है जिससे यह सूचित होता है कि ब्रह्माजी अपने धाम से उतरे। प्रत्येक देवता का अपना धाम है। देवताओ के राजा इन्द्र, चन्द्र ग्रह के स्वामी चन्द्र तथा सूर्य ग्रह के प्रमुख श्रीविग्रह सूर्य के अपने-अपने धाम है। देवताओ की सख्या कई लाख है और विभिन्न नक्षत्र तथा ग्रह उनके धाम स्वरूप है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता मे मिलती है—**यान्ति देवव्रता देवान्**—"जो देवताओ की उपासना करते है वे उनके लोको को जाते है।" भगवान् ब्रह्मा का धाम सत्यलोक अथवा कभी-कभी ब्रह्मलोक कहलाता है। सामान्यत ब्रह्मलोक वैकुण्ठ जगत् का सूचक है और ब्रह्मा का धाम सत्यलोक है, किन्तु वहाँ पर निवास करने के कारण कभी-कभी इसे ब्रह्मलोक भी कहा जाता है।

स तत्र तत्र गगनतल उडुपतिरिव विमानावलिभिरनुपथममरपरिवृढैरभिपूज्यमानः पथि पथि च वरूथशः सिद्धगन्धर्वसाध्यचारणमुनिगणैरुपगीयमानो गन्ध-मादनद्रोणीमवभासयन्नुपससर्प ॥ ८ ॥

सः=वह (भगवान् ब्रह्मा), **तत्र तत्र**=यहाँ वहाँ, **गगन-तले**=आकाश मडप के नीचे, **उडु-पतिः**=चन्द्रमा, **इव**=सदृश, **विमान-आवलिभिः**=अपने-अपने विमानो मे, **अनुपथम्**=पथ में, **अमर**=देवताओ का, **परिवृढ़ैः**=नायको द्वारा, **अभिपूज्यमानः**=पूजित होकर, **पथि पथि**=एक के वाद एक पथ पर, **च**=भी; **वरूथशः**=समूहो मे, **सिद्ध**=सिद्धलोक के वासियो द्वारा; **गंधर्व**=गन्धर्वलोक के वासियो द्वारा, **साध्य**=साध्यलोक के वासियो द्वारा, **चारण**=चारणलोक के वासियों द्वारा; **मुनि-गणैः**=तथा मुनियो के द्वारा, **उपगीयमानः**=पूजित होकर; **गंध-मादन**=उस लोक का जहाँ गधमादन पर्वत है, **द्रोणीम्**=घाटी, किनारा, **अवभासयन्**=प्रकाशित करते हुए, **उपससर्प**=पहुँचे ।

अनुवाद

ज्योंही भगवान् ब्रह्मा अपने वाहन हंस में आरूढ होकर नीचे उतरे तो सिद्धलोक, गंधर्वलोक, साध्यलोक तथा चारणलोक के समस्त वासी तथा मुनि एवं अपने-अपने विमानों में उड़ते हुए देवताओं ने आकाशमण्डल के नीचे एकत्र होकर उनका स्वागत किया और पूजा की। विभिन्न लोको के वासियो से आदर तथा स्तवन पाकर भगवान् ब्रह्मा ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो प्रकाशमान नक्षत्रो से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा हो। तब भगवान् ब्रह्मा का विशाल हंस गंधमादन की घाटी में पहुँचा जहाँ प्रियव्रत बैठे हुए थे।

तात्पर्य

इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि देवताओ के लोको के वीच नियमित अन्तर्ग्रहीय यात्रा का प्रावधान था। एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह भी प्रकट होती है कि एक ऐसा ग्रह भी है जो पर्वतो से आच्छादित है, जिनमे से गन्धमादन पर्वत एक है। इस पर्वत पर प्रियव्रत, नारद तथा स्वायभुव मनु—ये तीन महापुरुष आसीन थे। ब्रह्मसहिता के अनुसार प्रत्येक ब्रह्माण्ड विभिन्न लोको से पूरित है और प्रत्येक लोक का अपना अद्वितीय ऐश्वर्य है। उदाहरणार्थ, सिद्धलोक के सभी वासी योग शक्तियो मे अत्यधिक सिद्ध है। वे विमानो या अन्य उड़ने वाले यानो के विना ही एक ग्रह से दूसरे तक उडान भर सकते है। इसी तरह गन्धर्वलोक के वासी गायन विद्या मे कुशल हैं और साध्यलोक के वासी परम साधु है। निस्सन्देह अन्तर्ग्रहीय प्रणाली का अस्तित्व है तथा एक ग्रह के वासी दूसरे ग्रह को जाते रहते है। लेकिन पृथ्वी पर अभी तक कोई ऐसी मशीन आविष्कृत नही हो पायी जो एक ग्रह से दूसरे को जा सके, यद्यपि चन्द्रमा तक जाने का असफल प्रयास किया गया है।

तत्र ह वा एनं देवर्षिर्हंसयानेन पितरं भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपलभमानः
सहसैवोत्थायार्हणेन सह पितापुत्राभ्यामवहिताञ्जलिरुपतस्थे ॥ ८ ॥

तत्र=वहाँ, **ह वा**=निश्चय ही, **एनम्**=उसको, **देव-ऋषिः**=देवर्षि नारद; **हंस-यानेन**=अपने वाहन हस द्वारा, **पितरम्**=उसका पिता, **भगवन्तम्**=सर्व-शक्तिमान; **हिरण्यगर्भम्**=भगवान् ब्रह्मा, **उपलभमानः**=समझकर; **सहसा एव**=तुरन्त; **उत्थाय**=उठ कर; **अर्हणेन**=पूजन-सामग्री; **सह**=सहित, **पिता-पुत्राभ्याम्**=प्रियव्रत तथा उनके पिता स्वायभुव मनु द्वारा, **अवहित-अञ्जलिः**=आदरपूर्वक हाथ जोडकर, **उपतस्थे**=अर्चना की।

अनुवाद

नारद मुनि के पिता भगवान् ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के परम पुरुष है। नारद ने ज्योंही विशाल हंस को देखा, वे तुरन्त समझ गये कि भगवान् ब्रह्मा आ गये है, अतः वे स्वायंभुव मनु तथा नारद द्वारा उपदेश दिये जाने वाले उनके पुत्र प्रियव्रत सहित अविलम्ब खड़े हो गये। तब उन्होंने हाथ जोड़कर आदरपूर्वक भगवान् की आराधना प्रारम्भ की।

तात्पर्य

जैसा कि पिछले श्लोक मे कथित है, भगवान् ब्रह्मा के साथ अन्य देवता भी थे, किन्तु उनका विशेष वाहन विशाल हस था। अत. जैसे ही नारद मुनि ने हस को देखा, वे समझ गये कि उनके पिता ब्रह्माजी, जिन्हे हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है, आ रहे है। वे ब्रह्माजी का स्वागत करने तथा उनका सम्मान करने के लिए तुरन्त स्वायभुव मनु तथा उनके पुत्र प्रियव्रत सहित उठ खड़े हुए।

भगवानपि भारत तदुपनीतार्हणः सूक्तवाकेनातितरामुदितगुणगणावतार-सुजयः प्रियव्रतमादि पुरुषस्तं सदयहासावलोक इति होवाच ॥१०॥

भगवान्=भगवान् ब्रह्मा, **अपि**=भी, **भारत**=हे राजा परीक्षित!, **तत्**=उनके द्वारा, **उपनीत**=आगे लाया गया, **अर्हणः**=पूजन-सामग्री, **सूक्त**=वैदिक शिष्टाचार के अनुसार, **वाकेन**=वाणी से, **अतितराम्**=अत्यधिक; **उदित**=प्रशसित, **गुण-गण**=गुण समूह, **अवतार**=नीचे उतरने के कारण, **सु-जयः**=जिसकी कीर्ति, **प्रियव्रतम्**=प्रियव्रत को, **स-दय**=दयापूर्वक, **हास**=हँसते हुए, **अवलोकः**=जिनकी दृष्टि, **इति**=इस प्रकार, **ह**=निश्चय ही, **उवाच**=कहा।

अनुवाद

हे राजा परीक्षित! चूँकि भगवान् ब्रह्मा सत्यलोक से भूलोक में उतर चुके थे, अतः नारद मुनि, राजकुमार प्रियव्रत तथा स्वायंभुव मनु ने आगे बढ़कर पूजन-

सामग्री अर्पित की और वैदिक विधि के अनुसार अत्यन्त शिष्ट वाणी से उनकी प्रशंसा की। उस काल आदि पुरुष ब्रह्मा प्रियव्रत पर सदय मन्द मुस्कान से दृष्टि डालते हुए उनसे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य

प्रियव्रत से भेट करने के लिए ब्रह्माजी सत्यलोक से नीचे उतरे जिससे यह सूचित होता है कि कोई अत्यन्त गभीर प्रयोजन था। नारद मुनि प्रियव्रत को आध्यात्मिक जीवन, ज्ञान, त्याग तथा भक्ति का उपदेश देने के लिए पधारे थे और ब्रह्मा यह जानते थे कि नारद के उपदेश अत्यन्त प्रभावशाली है। अत. ब्रह्माजी जानते थे कि जब तक वे स्वय प्रियव्रत को मनाने के लिए गधमादन पर्वत नही जाते, प्रियव्रत अपने पिता की आज्ञा मानने वाले नही। ब्रह्माजी का उद्देश्य प्रियव्रत के सकल्प को भग करना था। अत· उन्होने पहले प्रियव्रत को सदय दृष्टि से देखा। उनके मन्द हास तथा शान्त भगिमा से यह भी सूचित हो रहा था कि यद्यपि ब्रह्माजी प्रियव्रत से गृहस्थ जीवन स्वीकार करने का अनुरोध करेगे, किन्तु प्रियव्रत का भक्ति योग से सम्पर्क टूटेगा नही। वैष्णव के आशीर्वाद से सब कुछ सम्भव है। **भक्ति-रसामृत-सिंधु** मे इसे **कृपा-सिद्धि** अथवा गुरुजन के आशीर्वाद मात्र से सिद्धि की प्राप्ति कहा गया है। यदि शास्त्रो मे उल्लिखित अनुष्ठानो का पालन किया जाय तो प्राणी मुक्त और सिद्ध बन सकता है। फिर भी अनेक पुरुष अपने गुरु या गुरुजन के आशीर्वाद मात्र से सिद्धि को प्राप्त हुए है।

प्रियव्रत भगवान् ब्रह्मा के पौत्र थे और जैसा कि कभी-कभी पौत्र तथा पितामह मे हँसी-हँसी मे स्पर्धा होती है, इस प्रसंग मे भी प्रियव्रत ध्यान धरने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ थे, जबकि ब्रह्माजी उन्हें ब्रह्माण्ड का शासक बनाने पर तुल गये थे। अतः ब्रह्मा की सदय मुस्कान का अभिप्राय था, "हे प्रियव्रत! तुमने सकल्प लिया है कि गृहस्थ जीवन स्वीकार नही करोगे, किन्तु मै तुम्हे विश्वास दिलाने पर तुल गया हूँ कि तुम्हे स्वीकार करना होगा।" वास्तव मे ब्रह्माजी प्रियव्रत के त्याग, तप, सयम तथा अनुरक्ति के उच्च आदर्श की प्रशंसा करने के लिए पधारे थे, जिससे वह गृहस्थ जीवन को स्वीकार कर लेने पर भी भक्ति के मार्ग से विचलित न हो।

इस श्लोक मे **सूक्त-वाकेन** एक महत्वपूर्ण शब्द है। वेदो मे ब्रह्मा की स्तुति है—**हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकासीत्**—ब्रह्मा का स्वागत वैदिक स्तुतियो से किया गया, इसलिए वे परम प्रसन्न थे।

श्रीभगवानुवाच

निबोध तातेदमृतं ब्रवीमि
मासूयितुं देवमर्हस्यप्रमेयम्।

वयं भवस्ते तत एष महर्षि-
र्वहाम सर्वे विवशा यस्य दिष्टम् ॥११॥

श्री-भगवान् उवाच=परम पुरुष ब्रह्मा ने कहा, **निबोध**=ध्यानपूर्वक सुनो, **तात्**=मेरे प्रिय पुत्र, **इदम्**=यह, **ऋतम्**=सत्य, **ब्रवीमि**=बोल रहा हूँ, **मा**=मत, **असूयितुम्**=ईर्ष्यालु, **देवम्**=श्रीभगवान्, **अर्हसि**=तुम्हें चाहिए, **अप्रमेयम्**=जो हमारे प्रयोगात्मक ज्ञान से परे है, **वयम्**=हम, **भवः**=भगवान् शिव, **ते**=तुम्हारा, **ततः**=पिता, **एषः**=यह, **महाऋषिः**=नारद, **वहामः**=पालन करते है, **सर्वे**=सभी, **विवशाः**=विचलित होने मे अशक्त, **यस्य**=जिसकी, **दिष्टम्**=आज्ञा ।

अनुवाद

इस ब्रह्माण्ड के परम पुरुष भगवान् ब्रह्मा ने कहा—हे प्रियव्रत ! मै जो कुछ कहूँ उसे ध्यान से सुनो। परमेश्वर से ईर्ष्या न करो क्योकि वे हमारे प्रयोगात्मक परिमापों से परे है । हम सबों को, जिसमें भगवान् शिव, तुम्हारे पिता तथा महर्षि नारद भी सम्मिलित है, परमेश्वर की आज्ञा का पालन करना चाहिए । हम उनकी आज्ञा का उल्लंघन नही कर सकते ।

तात्पर्य

बारह भक्त महापुरुषो मे से चार—स्वय ब्रह्मा, उनके पुत्र नारद, स्वायभुव मनु तथा भगवान् शिव—प्रियव्रत के सम्मुख उपस्थित थे । उनके साथ अनेक साधु भी थे । भगवान् ब्रह्मा ने प्रियव्रत को सर्वप्रथम यह बताना चाहा, यद्यपि ये सभी महापुरुष **अधिकारी** है, किन्तु वे इस श्लोक मे वर्णित **देव** अर्थात् **सदैव कीर्तिमय** श्रीभगवान् की आज्ञा का उल्लघन नही कर सकते । श्रीभगवान् की शक्ति, कीर्ति तथा शौर्य कभी न घटने वाले है । ईशोपनिषद् मे ईश्वर को **अपापविद्ध** कहा गया है जिससे यह सूचित होता है कि वे पापो से कभी प्रभावित नही होते । श्रीमद्भागवत मे भी श्रीभगवान् को अत्यन्त शक्तिमान वर्णित किया गया है । परमेश्वर के पद की व्याख्या करने के लिए कभी-कभी सूर्य का उदाहरण दिया जाता है जो पृथ्वी से मूत्र को उडा देता है, किन्तु स्वय कलुषित नही होता । श्रीभगवान् पर यह दोषारोपण नही किया जा सकता कि ये कोई गलत काम करते है ।

ब्रह्माजी प्रियव्रत को ब्रह्माण्ड के शासन का भार स्वीकार करने के लिये प्रेरित करने गये तो किसी सनक वश नही गये । वे तो श्रीभगवान् की आज्ञा का ही पालन कर रहे थे । निस्सदेह ब्रह्मा तथा अन्य अधिकारी भगवान् की आज्ञा के विना कुछ भी नही करते । वे प्रत्येक प्राणी के हृदय मे विराजमान है । श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ मे कहा गया है—**तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये**—ईश्वर ने ब्रह्मा को अपने हृदय के

भीतर से वैदिक ज्ञान की शिक्षा दी। जीवात्मा भक्ति से जितनी ही पवित्र होती जाती है वह श्रीभगवान् के उतने ही निकट सम्पर्क मे आती है, जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता मे (१०.१०) पुष्टि की गई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।

"जो मेरी सतत भक्ति और प्रीतिपूर्वक पूजा करते है, उन्हे मै बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे मेरे पास आ सके।" अत. भगवान् ब्रह्मा अपनी सनक से प्रियव्रत के पास नही आये थे, इससे यही समझना चाहिए कि श्रीभगवान् ने उन्हे प्रियव्रत को मनाने की आज्ञा दी थी। क्योकि उन्हे भौतिक इन्द्रियो के द्वारा नही जाना जा सकता इसीलिए उन्हे **अप्रमेय** कहा गया है। इसीलिए भगवान् ब्रह्मा ने प्रियव्रत को समझाया कि वे उनके शब्दो को ध्यानपूर्वक ईर्ष्यारहित होकर सुने।

यहाँ यह वताया गया है कि न चाहते हुए भी किस प्रकार मनुष्य को कुछ कार्य करने के लिए प्रवृत्त किया जाता है। कोई भी प्राणी, चाहे वह भगवान् शिव, ब्रह्मा, मनु या महर्षि नारद के समान शक्तिशाली क्यो न हो, परमेश्वर की आज्ञा का उल्लघन नही कर सकता। ये सभी महापुरुष निश्चय ही अत्यन्त शक्तिमान है, किन्तु उनमे श्रीभगवान् की आज्ञा उल्लघन करने की तनिक भी शक्ति नही है। चूँकि ब्रह्मा श्रीभगवान् की आज्ञानुसार प्रियव्रत के पास आये थे, अत. सर्वप्रथम उन्होने प्रियव्रत के मन से इस भ्रान्ति को दूर करना चाहा कि वे उसके कोई शत्रु है। ब्रह्माजी परमेश्वर की आज्ञा का पालन कर रहे थे, अत. प्रियव्रत के लिए भगवान् ब्रह्मा की आज्ञा का पालन करना श्रेयस्कर था।

न तस्य कश्चित्तपसा विद्यया वा
न योगवीर्येण मनीषया वा।
नैवार्थधर्मैः परतः स्वतो वा
कृतं विहन्तुं तनुभृद्विभूयात् ।।१२।।

न=कभी नही; **तस्य**=उसका; **कश्चित्**=कोई भी, **तपसा**=तप से, **विद्यया**=विद्या से, **वा**=अथवा, **न**=कभी नही; **योग**=योगवल से; **वीर्येण**=शारीरिक वल से, **मनीषया**=बुद्धि से, **वा**=अथवा, **न**=कभी नही; **एव**=निश्चय ही; **अर्थ**=भौतिक ऐश्वर्य से, **धर्मैः**=धर्म से, **परतः**=किसी वाह्य शक्ति से, **स्वतः**=अपने

प्रयास से, वाः=अथवा; कृतम्=आज्ञा; विहन्तुम्=टालने में; तनु-भृत्=भौतिक देह स्वीकार करने वाला जीवात्मा; विभूयात्=समर्थ है।

अनुवाद

श्रीभगवान् की आज्ञा को कोई न तो तपबल, वैदिक शिक्षा, योगबल या बुद्धिबल से, न धर्म या अर्थशक्ति से, न स्वयं या पराई सहायता से टाल सकता है। ब्रह्मा से लेकर एक चीटी तक किसी भी जीवात्मा के लिए ऐसा कर पाना सम्भव नही है।

तात्पर्य

गर्ग उपनिषद मे गर्गमुनि अपनी पत्नी से कहते है—**एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः**—"हे गार्गी, प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् के वश मे है। यहाँ तक कि सूर्य-चन्द्र तथा अन्य नियन्ता एव देवतागण, यथा ब्रह्मा तथा इन्द्र, सभी उनके वश मे है।" चाहे सामान्य मनुष्य हो या पशु, जिस किसी ने भौतिक देह धारण की है वह श्रीभगवान् की नियन्त्रण-सीमा से बाहर नही रह सकता। भौतिक देह मे इन्द्रियाँ होती है, किन्तु नामधारी वैज्ञानिको की इन्द्रिय-गतिविधियाँ वृथा है क्योकि वे ईश्वर के नियम अथवा प्रकृति के नियमो से विमुक्त होना चाहते हैं। भगवद्गीता से (७ १४) भी इसकी पुष्टि होती है। **मम माया दुरत्यया**—प्रकृति के नियन्त्रण को पार कर पाना दुस्तर है क्योकि इसके पीछे श्रीभगवान् का हाथ रहता है। कभी-कभी हम अपने तप, त्याग तथा योगबल पर गर्व करते है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि कोई श्रीभगवान् के नियमो तथा आदेशो का उल्लघन नही कर सकता। यह असम्भव है।

यहाँ **मनीषया** (बुद्धि से) शब्द का विशेप महत्व है। प्रियव्रत तर्क कर सकते थे कि एक ओर ब्रह्मा उनसे गृहस्थ जीवन तथा राज्य भार स्वीकार करने का अनुरोध कर रहे है जब कि नारद मुनि ने उनसे गृहस्थ जीवन मे न प्रवेश करने का उपदेश दिया था। इनमे से किसे स्वीकार किया जाय? यह प्रियव्रत के समक्ष उलझन थी क्योकि भगवान् ब्रह्मा तथा नारद मुनि दोनो ही अधिकारी महाजन है। इन परिस्थितियो के अन्तर्गत **मनीषया** शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है क्योकि इससे सूचित होता है कि नारद मुनि तथा ब्रह्मा दोनो ही उपदेश देने के लिए अधिकृत थे, अत प्रियव्रत इनमे से किसी की उपेक्षा नही कर सकता था, किन्तु उसे दोनो का उपदेश पालन करने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करना था। ऐसी दुविधाओ को हल करने के लिए श्रील रूप गोस्वामी ने बुद्धि का अत्यन्त स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया है। उनका कथन है।

अनासक्तस्य विषयान् यथार्थं उपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

विषयान् अर्थात् भौतिक व्यापारो को विना आसक्ति के स्वीकार करना चाहिए और प्रत्येक वस्तु का सामंजस्य ईश्वर की सेवा से बैठा लेना चाहिए। यही वास्तविक बुद्धि (मनीषा) है। यदि कोई कृष्ण की सेवा के लिए प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करता है तो गृहस्थ होना या राजा होना हानिकर नही है। इसके लिए विमल बुद्धि की आवश्यकता है। मायावादी दार्शनिक कहते हैं—**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**—यह संसार झूठ है और केवल परब्रह्म ही सत्य है। किन्तु ब्रह्मा तथा महामुनि नारद की परम्परा का अर्थात् ब्रह्मसम्प्रदाय का बुद्धिमान भक्त इस जगत को मिथ्या नही मानता। जिसकी श्रीभगवान् ने सृष्टि की वह मिथ्या कैसे हो सकता है, किन्तु सुख के लिए उसका उपयोग अवश्य ही मिथ्या है। जैसा कि भगवद्गीता में (५.२९) कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् के भोग के निमित्त है। **भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्**—श्रीभगवान् सम्पूर्ण यज्ञ तथा तप के परम भोक्ता है, अतः उनके भोग तथा सेवा के निमित्त ही प्रत्येक वस्तु होनी चाहिए। अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियो का ध्यान न रखते हुए प्रत्येक वस्तु का उपभोग परमेश्वर की सेवा के लिए करना चाहिए। अपनी बुद्धि का यही उचित उपयोग है।

भवाय नाशाय च कर्म कर्तुं
शोकाय मोहाय सदा भयाय।
सुखाय दुःखाय च देहयोग-
मव्यक्तदिष्टं जनताङ्ग धत्ते ॥१३॥

भवाय=जन्म के निमित्त, **नाशाय**=मृत्यु के लिए, **च**=भी; **कर्म**=कार्य; **कर्तुम्**=करने के लिए, **शोकाय**=शोक के लिए; **मोहाय**=मोह के लिए; **सदा**=सदैव, **भयाय**=भय के लिए, **सुखाय**=सुख हेतु; **दुःखाय**=दुःख हेतु, **च**=भी, **देह योगम्**=भौतिक देह से सम्बन्ध, **अव्यक्त**=श्रीभगवान् द्वारा, **दिष्टम्**=निर्देशित; **जनता**=जीवात्माएँ; **अङ्ग**=हे प्रियव्रत, **धत्ते**=धारण करते है।

अनुवाद

हे प्रियव्रत ! श्रीभगवान् की आज्ञा से ही जीवात्माएँ जन्म, मृत्यु, कर्म, शोक, मोह, भय, सुख तथा दुख के हेतु विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करती है।

तात्पर्य

जितनी भी जीवात्माएँ इस संसार में आई है वे सुखोपभोग के प्रयोजन से आई

है, किन्तु अपने कर्म के अनुसार उन्हे श्रीभगवान् की आज्ञा से प्रकृति द्वारा प्रदत्त एक न एक शरीर को धारण करना पडता है। जैसा कि भगवद्गीता मे (३ २७) कहा गया है—**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः**—श्रीभगवान् के आदेशानुसार प्रकृति सारे कार्य करती है। आधुनिक वैज्ञानिक यह नही जानते कि चौरासी लाख प्रकार के शरीर क्यो है। तथ्य यह है कि जीवात्माओ की इच्छानुसार श्रीभगवान् ने उन्हे ये शरीर प्रदान किये है। वह उन्हे इच्छानुसार कार्य करने की छूट देते है, किन्तु इसके साथ ही उन्हे अपने कर्मो के अनुसार शरीर स्वीकार करना पडता है। इस प्रकार अनेक प्रकार के शरीर है। कुछ जीव अल्पजीवी है तो कुछ दीर्घकाल तक जीवित रहते है। किन्तु इनमे से प्रत्येक जीव, ब्रह्मा से लेकर चीटी तक, श्रीभगवान् के आदेशानुसार कार्य करता है क्योकि वे प्रत्येक हृदय मे स्थित है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता मे (१५ १५) इस प्रकार हुई है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मै सभी प्राणियो के हृदय मे स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति होती है।" किन्तु यह सच नही है कि कुछ जोवात्माओ को श्रीभगवान् एक प्रकार का और अन्यो को अन्य प्रकार का आदेश देते है। वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा की कुछ-न-कुछ इच्छा होती है और परमेश्वर उसकी पूर्ति के लिए अवसर प्रदान करते है। इसलिए सर्वोत्तम मार्ग यही है कि श्रीभगवान् को आत्मसमर्पण करके उनकी इच्छानुसार कार्य करे। जो ऐसा करता है वह मुक्त हो जाता है।

यद्वाचि तन्त्यां गुणकर्मदामभिः
सुदुस्तरैर्वत्स वयं सुयोजिताः।
सर्वे वहामो बलिमीश्वराय
प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पदः ॥१४॥

यत्=जिसका, **वाचि**=वैदिक आदेश के रूप मे, **तन्त्याम्**=लम्बी रस्सी से, **गुण**=गुण की, **कर्म**=(तथा) कर्म, **दामभिः**=रस्सियो से, **सु-दुस्तरैः**=टाल पाना अत्यन्त कठिन है; **वत्स**=हे बालक!, **वयम्**=हम, **सु-योजिता.**=नधे है, लगे हुए है, **सर्वे**=सभी, **वहामः**=पालन करते है, **बलिम्**=ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उनकी आज्ञाओ को, **ईश्वराय**=श्रीभगवान् को, **प्रोताः**=बद्ध होकर, **नसि**=नाक मे, **इव**=सदृश, **द्वि-पदे**=दो पैर वाले (हॉकने वाले) को; **चतु-पदः**=चौपाया (बैल)।

अनुवाद

हे बालक ! हम सभी अपने गुण तथा कर्म के अनुसार वैदिक आज्ञा द्वारा वर्णाश्रम विभागों में बँधे हुए है। इन विभागों से बचा नहीं जा सकता क्योंकि ये वैज्ञानिक विधि से व्यवस्थित हैं। अतः हमें वर्णाश्रम धर्म के कर्तव्यों का पालन उन बैलों के समान करना चाहिए जो नाक में बँधी रस्सी खींचने वाले चालक के आदेश पर घूमने के लिए बाध्य है।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **तन्त्यां गुणकर्मदामभिः**—ये शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमें अपने गुणों के अनुसार शरीर प्राप्त होता है और तदनुसार हम कर्म करते है। जैसा कि भगवद्गीता मे कहा गया है, सामाजिक प्रणाली के चार आश्रम—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—गुण तथा कर्म के अनुसार व्यवस्थित है। किन्तु इस सम्बन्ध मे कुछ मतभेद है क्योकि कुछ का कहना है कि जब पूर्वजन्म के गुण तथा कर्म के अनुसार देह प्राप्त होती है तो जन्म के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक पदवी निर्धारित होनी चाहिए। किन्तु अन्यो का कथन है कि पूर्वजन्म के गुण तथा कर्म के अनुसार जन्म हो ऐसा आवश्यक नही क्योकि इस जीवन मे भी गुण तथा कर्म वदल सकते है। इस प्रकार उनका कहना है कि इसी जीवन के गुण तथा कर्म के अनुसार वर्णाश्रम के चार विभाग—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—किये जाने चाहिए। नारद मुनि ने श्रीमद्भागवत मे इस मत की पुष्टि की है। महाराज युधिष्ठिर को गुण तथा कर्म के लक्षणो का उपदेश देते हुए नारद मुनि ने बताया कि इन लक्षणों से समाज-विभाजन को नियन्त्रित होना चाहिए। दूसरे शब्दो में, यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होकर शूद्र के लक्षण वाला हो तो उसे शूद्र कहा जाना चाहिए। इसी प्रकार यदि शूद्र मे ब्राह्मण के गुण हो तो उसे ब्राह्मण कहलाना चाहिए।

वर्णाश्रम प्रणाली वैज्ञानिक है अतः यदि हम वर्ण तथा आश्रम के विभागों को वैदिक निर्देशो के अनुसार स्वीकार कर ले तो हमारा जीवन सफल हो सकेगा। जब तक मानव समाज इस प्रकार से विभाजित और व्यवस्थित नही हो जाता, वह कभी भी पूर्ण नही हो सकता। विष्णुपुराण मे (३ ८.९) कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पंथा नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

"श्रीभगवान् विष्णु की आराधना वर्णाश्रम प्रणाली मे निर्देशित कर्तव्यो के समुचित

पालन से की जाती है। श्रीभगवान् को प्रसन्न करने का कोई अन्य साधन नही है। मनुष्य को चाहिए कि वह वर्णाश्रम धर्म में स्थित रहे।" पूरा मनुष्य-समाज भगवान् विष्णु की आराधना के निमित्त है। किन्तु इस समय मानव-समाज को यह पता नही है कि जीवन का यही परम ध्येय या सिद्धि है। इसलिए मनुष्यों को भगवान् विष्णु की पूजा न करके पदार्थ की पूजा करने की शिक्षा दी जाती है। आधुनिक समाज के निर्देशानुसार मनुष्य सोचते है कि वे पदार्थ को गगनचुम्बी इमारतें, बडी-बडी सडके, स्वचलित वाहन इत्यादि मे परिणत करके सभ्यता को प्रगति के पथ पर ले जा सकते है। ऐसी सभ्यता निश्चय ही भौतिकवादी है क्योकि इसके व्यक्तियों को जीवन-लक्ष्य का पता नही है। जीवन का लक्ष्य तो विष्णु को प्राप्त करना है। किन्तु लोग विष्णु तक न पहुँच कर भौतिक शक्ति के वाह्य प्रकाश से मोहित हो जाते है। अतः भौतिक प्रगति अंधी होती है और इसके नायक भी अंधे होते है। वे अपने अनुयायियों को उलटी दिशा मे ले जा रहे है।

अतः सबसे अच्छा यही है कि वेदो की आज्ञा मानी जाय जिसका उल्लेख इस श्लोक में **यद्-वाचि** के रूप में हुआ है। इस आज्ञा के अनुसार हर व्यक्ति को चाहिए कि वह जाने कि वह ब्राह्मण है अथवा क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र ? तभी उसका जीवन कृतार्थ है अन्यथा मानव समाज मे दुर्व्यवस्था फैल जायेगी। यदि मानव समाज वर्ण तथा आश्रम के अनुसार वैज्ञानिक दृष्टि से विभाजित हो जाय और वैदिक आज्ञा का पालन किया जाय तो मनुष्य का जीवन, चाहे वह जिस पद पर हो, सफल (कृतार्थ) हो सकेगा। ऐसा नही है कि केवल ब्राह्मणो को दिव्य पद प्राप्त हो सकता है, शूद्रो को नही। यदि वैदिक आज्ञा का पालन किया जाय तो सभी वर्ण, चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो, दिव्य पद तक पहुँच सकते है। वेदो की आज्ञाएँ श्रीभगवान् के प्रत्यक्ष आदेश है। इस श्लोक मे रस्सी से नाथे हुए वैल का दृष्टान्त दिया गया है, जो हाँकने वाले के निर्देशानुसार चारो ओर घूमता है। इसी प्रकार यदि हम वेदों के निर्देशानुसार चले तो हमारा जीवन-पथ सुस्थिर हो सकता है। अन्यथा अपनी सनक के अनुसार कार्य करते रहने से हमारा जीवन निराशापूर्ण बन जायगा। चूँकि इस समय लोग वेदो के निर्देशानुसार नही चल रहे इसलिए इतनी अव्यवस्था है। इसलिए हमे चाहिए कि हम प्रियव्रत को श्रीब्रह्मा द्वारा दिये गये निर्देश को वास्तविक वैज्ञानिक निर्देश मान कर अपने जीवन को सफलीभूत करे। भगवद्गीता में (१६.२३) भी इसकी पुष्टि हुई है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

यदि हम शास्त्रो अर्थात् वेदो के निर्देश के अनुसार नही चलते तो हमें जीवन में कभी भी सफलता प्राप्त नही हो सकती, सुख अथवा उच्च पद प्राप्त करने की बात तो दूर रही।

ईशाभिसृष्टं ह्यवरुन्ध्महेऽङ्ग
दुःखं सुखं वा गुणकर्मसङ्गात् ।
आस्थाय तत्तद्यदयुङ्क्त नाथ-
श्चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः ॥१५॥

ईश-अभिसृष्टम्=ईश्वर द्वारा उत्पन्न या प्रदत्त; हि=निश्चय ही; **अवरुन्ध्महे**=हमे स्वीकार करना होता है; **अंग**=हे प्रियव्रत, **दुःखम्**=दुख, **सुखम्**=सुख; **वा**=अथवा, **गुण-कर्म**=गुण तथा कार्य के साथ, **सङ्गात्**=सगति से; **आस्थाय**=स्थित होकर, **तत् तत्**=वह स्थिति, **यत्**=जो शरीर, **अयुङ्क्त**=उसने प्रदान किया, **नाथः**=परमेश्वर; **चक्षुष्मता**=नेत्रयुक्त पुरुष के द्वारा, **अन्धाः**=अंधे पुरुष, **इव**=सदृश; **नीयमानः**=ले जाया जाकर ।

अनुवाद

हे प्रियव्रत ! श्रीभगवान् विभिन्न गुणों के अनुसार हमें विशिष्ट शरीर प्रदान करते हैं और हम सुख तथा दुःख प्राप्त करते है । अतः मनुष्य को चाहिए कि वह जिस रूप में है वैसे ही रहे और श्रीभगवान् द्वारा उसी प्रकार मार्गदर्शन प्राप्त करे जिस प्रकार एक अंधा व्यक्ति आँख वाले व्यक्ति से प्राप्त करता है ।

तात्पर्य

कोई भी व्यक्ति भौतिक साधनो के द्वारा शारीरिक सुख तथा दुख से बच नही सकता । कुल मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ है जिनमे से प्रत्येक में कुछ न कुछ सुख तथा दुख भोगना होता है । इसे हम बदल नहीं सकते क्योकि सुख तथा दुख उन श्रीभगवान् के द्वारा निर्धारित है जिनके निर्णय के अनुसार ही हमे अपना शरीर मिला है । चूँकि हम श्रीभगवान् के विधान से बच नही सकते, अतः हमे चाहिए कि जिस प्रकार अंधा व्यक्ति किसी आँख वाले व्यक्ति के द्वारा पथ प्राप्त करता है उसी प्रकार हम ईश्वर के द्वारा सचालित हों । यदि हम चाहे तो परिस्थिति कैसी भी क्यो न हो, श्रीभगवान् ने जिस स्थिति मे हमें डाल दिया है उसी मे रहे और उनके आदेशो का पालन करते रहे तो हम सिद्ध (पूर्ण) हो सकते है । जीवन का मुख्य लक्ष्य श्रीभगवान् के आदेशो का पालन है। ऐसे ही निर्देश हमारे धर्म या कर्तव्य के अग है ।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता मे (१८.६६) कहा है—**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**—"अन्य समस्त व्यापारों को त्याग कर मेरे समक्ष आत्म-समर्पण करके मेरा अनुगमन करो ।" श्रीभगवान् के निर्देशो का पालन करते हुए

आत्मसमर्पण की यह विधि किसी जाति विशेष के लिए नही है। एक ब्राह्मण भी समर्पण कर सकता है और एक क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी। सभी इस विधि को अपना सकते है। जैसा कि इस श्लोक मे कहा गया है—**चक्षुष्मतान्धा इव नीयमानाः** —मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीभगवान् का उसी प्रकार अनुगमन करे जिस प्रकार एक अधा व्यक्ति किसी आँख वाले पुरुष का करता है। यदि हम वेदो तथा भगवद्-गीता मे दिये गये श्रीभगवान् के निर्देशो का पालन करते है तो हमारा जीवन कृतार्थ हो जायेगा। अत श्रीकृष्ण कहते है (गीता १८.६५)—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

"निरन्तर मेरे विषय मे सोचो, मेरे भक्त बनो तथा मेरा पूजन करो और मुझे ही प्रणाम करो। इस प्रकार तुम निश्चय ही मेरे धाम को प्राप्त होगे यह मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ क्योकि तुम मेरे अतिशय प्रिय सखा हो।" यह निर्देश सभी लोगो के लिए है—चाहे वह ब्राह्मण हो अथवा क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र। यदि कोई, चाहे वह किसी भी जाति का क्यों न हो, श्रीभगवान् को आत्मसमर्पण करता है और उनके निर्देशो का पालन करता है तो उसका जीवन कृतार्थ होगा।

पिछले श्लोक मे बैलगाडी को हाँकने वाले के निर्देश पर घूमने वाले बैलों की उपमा दी गई है। बैल पूर्णतया हाँकनेवाले के प्रति समर्पित रहने के कारण वह उन्हे जहाँ चाहता है ले जाता है और जैसा चाहता है खाने को देता है। इसी प्रकार श्रीभगवान् के प्रति पूर्णतः समर्पित होकर हमे सुख या दुख की आकाक्षा नही करनी चाहिए; हमे ईश्वर द्वारा निर्धारित पद से सतुष्ट रहना चाहिए। हमे भक्ति-मार्ग का पालन करना चाहिए और ईश्वर द्वारा प्रदत्त सुख तथा दुख से असतुष्ट नही होना चाहिए। सामान्यत. रजो तथा तमो गुणो के वशीभूत होकर लोग चौरासी लाख योनियो मे घूमने के कारण श्रीभगवान् की व्यवस्था को नही समझ पाते, किन्तु मनुष्य योनि को यह विशेष सुविधा प्राप्त है कि वह इस व्यवस्था को समझे, भक्ति करे और ईश्वर के निर्देशो का अनुगमन करते हुए उच्च पद प्राप्त करे। सम्पूर्ण जगत गुणों के, विशेषतया रजो तथा तमो गुणो के, अधीन कार्यशील है, किन्तु यदि लोग परमेश्वर के यश के श्रवण तथा कीर्तन मे संलग्न रहे तो उनका जीवन सफल हो सकता है और वे परम सिद्धि प्राप्त कर सकते है। अतः **वृहन्नारदीय पुराण** मे कहा गया है कि—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

इस कलियुग मे आध्यात्मिक पूर्णता हेतु पावन हरिनाम के अलावा अन्य कोई मार्ग

नही हैं, नहीं है, नही है। प्रत्येक व्यक्ति को श्रीभगवान् का पवित्र नाम सुनने का अवसर प्राप्त होना चाहिए क्योकि इस प्रकार से वह अपनी वास्तविक स्थिति को समझेगा और सतोगुण से ऊपर दिव्य पद को प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार उसके उन्नति-पथ के सभी अवरोध छिन्न-भिन्न हो जायेंगे। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि श्रीभगवान् ने हमे जिस स्थिति मे रख दिया है उसी से हम सन्तुष्ट रहे और हम उनकी भक्ति में संलग्न रहने का प्रयास करे। तभी हमारा जीवन सफल हो सकेगा।

मुक्तोऽपि तावद्बिभृयात्स्वदेह-
मारब्धमश्नन्नभिमानशून्यः ।
यथानुभूतं प्रतियातनिद्रः
किं त्वन्यदेहाय गुणान्न वृङ्क्ते ॥१६॥

मुक्तः=मुक्त पुरुष, **अपि**=ही; **तावत्**=तव तक; **बिभृयात्**=धारण करना चाहिए; **स्वदेहम्**=अपना शरीर; **आरब्धम्**=पूर्व कर्मो के फलस्वरूप प्राप्त, **अश्नन्**=स्वीकार करते हुए; **अभिमान-शून्यः**=अभिमान रहित; **यथा**=जिस प्रकार; **अनुभूतम्**=जैसा अनुभव किया गया हो, **प्रतियात्-निद्रः**=निद्रा से जगा हुआ, **किम् तु**=लेकिन; **अन्य-देहाय**=दूसरे देह के लिए; **गुणान्**=गुणो को, **न**=नही, **वृङ्क्ते**=भोगता है।

अनुवाद

मुक्त होते हुए भी मनुष्य पूर्व कर्मो के अनुसार प्राप्त देह को स्वीकार करता है। किन्तु वह भ्रान्तिरहित होकर कर्म-वश प्राप्त सुख तथा दुख को उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार जाग्रत मनुष्य सुप्तावस्था मे देखे गये स्वप्न को। इस तरह वह दृढ़प्रतिज्ञ रहता है और तीनों गुणों के वशीभूत होकर दूसरा शरीर पाने के लिए कार्य नहीं करता।

तात्पर्य

बद्ध तथा मुक्त जीव में यही अन्तर है कि बद्धजीव देहात्मबुद्धि से प्रभावित रहता है, किन्तु मुक्त जीव जानता है कि वह देह नही वरन् देह से भिन्न आत्मा है। प्रियव्रत ने यह विचार किया होगा कि बद्धजीव प्रकृति के नियमानुसार कर्म करने के लिए बाध्य है तो फिर वह आध्यात्मिक उन्नति मे उसी प्रकार के बन्धन तथ

बाधाओं को क्यो स्वीकार करे ? वह आत्मज्ञान में इतना आगे जो था ! इस सन्देह को दूर करने के लिए ही ब्रह्मा ने उसे बताया कि मुक्तजन भी पूर्व कर्मो के फल को इस जीवन में स्वीकार करने मे आपत्ति नही करते। सोते समय स्वप्न मे अनेक मिथ्या वस्तुएँ दिखती है, किन्तु जागने पर मनुष्य इसकी परवाह नही करता और आगे बढता रहता है। इसी प्रकार, एक मुक्त व्यक्ति—जो भली प्रकार से यह जानता है कि वह यह देह नही वरन् आत्मा हैं—अज्ञानवश किये गये विगत कर्मो की परवाह नही करता और सामाजिक कार्यो को इस प्रकार से करता है कि उनका कोई प्रतिफल (बन्धन) नहीं होता। इसका उल्लेख भगवद्गीता में (३.९) हुआ है—**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**—यदि कोई यज्ञपुरुष श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए कर्म करता है तो उसका बन्धन नही होता, किन्तु कर्मीजन, जो अपने लिए कर्म करते है वे अपने कर्म फलो से बँधे रहते है। अतः मुक्त पुरुष अतीत मे अज्ञानतावश जो कुछ कर चुका है उसके सम्वन्ध मे सोच विचार नही करता, उल्टे वह इस प्रकार से कर्म करता है कि कर्मो के फलस्वरूप दूसरा शरीर न धारण करे। जैसा कि भगवद्गीता मे (१४.२६) स्पष्ट किया गया है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्म भूयाय कल्पते॥

"जो पूर्णरूप से मेरी भक्ति करता है, जो किसी स्थिति मे उससे च्युत नही होता, वह अविलम्ब तीनो गुणों का उल्लघन करता है और ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।" चाहे पूर्व जन्मो में जो भी कर्म किए गए हो, यदि इस जीवन मे हम ईश्वर की शुद्ध भक्ति करते है तो हम ब्रह्मभूत (मुक्त) दशा को प्राप्त होगे और हमे दूसरा शरीर नही धारण करना पडेगा। **त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन** (भगवद्-गीता ४ ९) जो मनुष्य इस प्रकार कर्म करता है उसे शरीर त्यागने के बाद दूसरा शरीर नही ग्रहण करना पड़ता वरन् वह भगवान् के धाम को जाता है।

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्
यतः स आस्ते सहषटसपत्नः।
जितेन्द्रियस्यात्मरतेर्बुधस्य
गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यम्॥१७॥

भयम्=भय, **प्रमत्तस्य**=मोहग्रस्त का, **वनेषु**=वनो मे; **अपि**=भी; **स्यात्**=होना चाहिए, **यतः**=क्योकि, **सः**=वह (जिसकी इन्द्रियाँ वश मे नही है); **आस्ते**

=रहता है; **सह**=साथ; **षट्-सपत्नः**=छः सवते (सपत्नियाँ), **जित-इन्द्रियस्य**=इन्द्रियों को जीतने वाले का; **आत्म-रतेः**=आत्मतुष्ट; **बुधस्य**=ऐसे विद्वान का; **गृह-आश्रमः**=गृहस्थ जीवन, **किम्**=क्या; **नु**=निस्सन्देह, **करोति**=कर सकता है; **अवद्यम्**=क्षति।

अनुवाद

जो मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत है, भले ही वह वन-वन विचरण करता रहे, तो भी उसे बन्धन का भय बना रहता है क्योंकि वह मन तथा ज्ञानेन्द्रियाँ—इन छः सपत्नियों के साथ रहता है। किन्तु गृहस्थ आत्मतुष्ट इन्द्रियजित् विद्वान को कोई क्षति नहीं पहुँचा पाता।

तात्पर्य

श्रील नरोत्तम दास ठाकुर का गीत है—**गृहे वा वनेते थाके, 'हा गौरांग' बले डाके**—चाहे कोई वन में रहे या घर में, यदि वह श्रीचैतन्य की भक्ति में लगा हुआ है तो वह मुक्त पुरुष है। यहाँ भी इसी को दुहराया गया है। यदि इन्द्रियो को वश में नही किया गया तो वन में जाकर योगी बनना निरर्थक है। चूँकि उसके साथ अनियन्त्रित मन तथा इन्द्रियाँ रहती है इसलिए गृहस्थ जीवन त्याग कर वन में रहने पर भी उसे कुछ लाभ नही होगा। प्राचीन काल मे भारत के ऊपरी भागों के वणिकजन बंगाल जाया करते थे, अतः एक परिचित कहावत है, "यदि आप बगाल जाते है तो लक्ष्मी आपका पीछा करती है।" अतः हमारा पहला कर्तव्य है कि हम इन्द्रियों को वश में रखे, किन्तु वे बिना भगवद्भक्ति के वशीभूत नही होतीं, अतः हमारा परम कर्तव्य है कि अपनी इन्द्रियों को भक्ति मे लगावे। **हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते**—भक्ति का अर्थ है ईश्वर की सेवा मे विशुद्ध इन्द्रियो का लगना।

यहाँ पर श्रीब्रह्मा यह इगित करते है कि इन्द्रियो को वश मे किये बिना वन मे जाने की अपेक्षा श्रेयष्कर होगा कि उन्हे ईश्वर मे सलग्न किया जाय। गृहस्थाश्रम ऐसे आत्मजयी पुरुष को किसी प्रकार की हानि नही पहुँचा सकता, उसे सासारिक बन्धन में नही डाल सकता। श्रील रूप गोस्वामी ने इस स्थिति को आगे स्पष्ट किया है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

"यदि कोई मनसा वाचा कर्मणा ईश्वर की भक्ति मे लगा रहता है तो उसे मुक्त पुरुष मानना चाहिए।" श्रील भक्तिविनोद ठाकुर एक निष्ठावान अधिकारी तथा गृहस्थ थे फिर भी भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु के सन्देश को दूर-दूर तक फैला कर उन्होने जो सेवा की वह अद्वितीय है। श्रील प्रवोधानन्द सरस्वती ठाकुर का कथन

है—**दुर्दान्तेन्द्रिय-काल-सर्प-पटली प्रोत्खात-दांष्ट्रायते**। ज्ञानेन्द्रियाँ हमारी परम शत्रु है अत उनकी तुलना विषधर सर्पो से की गई है। किन्तु यदि विषैले सर्प के विष-दन्त निकाल लिये जायँ तो वह डरावना नही रह जाता। इसी प्रकार यदि इन्द्रियाँ ईश्वर की सेवा मे लगी हो तो उनके कार्यो से भयभीत होने की आवश्यकता नही है। श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन मे भक्त तो इस जगत मे भ्रमण करते है, किन्तु उनकी इन्द्रियाँ ईश्वर की सेवा मे लगी रहती है इसलिए वे इस जगत से सदा विलग रहते है। वे सदैव दिव्य अवस्था मे रहते है।

यः षट् सपत्नान् विजिगीषमाणो
गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम्।
अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीन्
क्षीणेषु कामं विचरेद्विपश्चित् ॥१८॥

यः=जो कोई, **षट्**=छ; **सपत्नान्**=प्रतिपक्षी (शत्रु); **विजिगीष-माणः**=जीतने की आकाक्षा रखने वाले, **गृहेषु**=गृहस्थ जीवन मे, **निर्विश्य**=प्रवेश करके, **यतेत**=प्रयत्न करना चाहिए; **पूर्वम्**=प्रथम, **अत्येति**=जीत लेता है, **दुर्ग-आश्रितः**=सुरक्षित स्थान (दुर्ग) मे रहते हुए; **ऊर्जित-अरीन्**=अत्यन्त प्रबल शत्रु, **क्षीणेषु**=क्षीण, **कामम्**=विषय, वासना, **विचरेत्**=विचरण कर सकता है; **विपश्चित्**=अत्यन्त अनुभवी, विद्वान।

अनुवाद

जो मनुष्य गृहस्थाश्रम में रह कर अपने मन तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ठीक से जीत लेता है वह उस राजा के तुल्य है जो अपने किले (दुर्ग) में रहकर अपने बलशाली शत्रुओं को पराजित करता है। गृहस्थाश्रम में प्रशिक्षित होकर तथा कामेच्छाओं को क्षीण करके वह बिना किसी भय के कहीं भी घूम सकता है।

तात्पर्य

चार वर्णो तथा चार आश्रमो की वैदिक प्रणाली अत्यन्त वैज्ञानिक है और इसका एकमात्र उद्देश्य इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना है। गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के पूर्व विद्यार्थी को जितेन्द्रिय बनने की शिक्षा दी जाती है। ऐसे वयस्क विद्यार्थी को ही गृहस्थ बनने की अनुमति प्रदान की जाती है और चूँकि इसके पूर्व उसे इन्द्रियो को जीतने की शिक्षा दी जा चुकी रहती है इसलिए ज्यो ही तरुणावस्था की तरगे समाप्त हो जाती है और वह पचास वर्ष या इससे अधिक आयु प्राप्त कर लेता है

तो वह गृहस्थ जीवन त्याग कर वानप्रस्थी बन जाता है। इसके पश्चात् और आगे शिक्षित होकर वह सन्यास ग्रहण करता है। तव वह पूर्ण विद्वान तथा विरक्त पुरुष होता है और भौतिक इच्छाओं से आकृष्ट हुए विना वह कही भी घूम सकता है। इन्द्रियो को प्रवल शत्रु माना जाता है। जिस प्रकार से सुदृढ दुर्ग मे स्थित राजा प्रबल शत्रुओ को जीत सकता है उसी प्रकार से गृहस्थाश्रम मे रहकर एक गृहस्थ अपनी युवावस्था की विषय-वासनाओ को जीत सकता है और वानप्रस्थ तथा सन्यास ग्रहण करने पर अत्यन्त अभय, नि:शक रहता है।

त्वं त्वब्जनाभाङ्घ्रिसरोजकोश-
दुर्गाश्रितो निर्जितषट्सपत्नः ।
भुङ्क्ष्वेह भोगान् पुरुषातिदिष्टान्
विमुक्तसङ्गः प्रकृतिं भजस्व ॥१६॥

त्वम्=तुम स्वय, **तु**=तव, **अब्ज-नाभ**=जिनकी नाभि कमल-पुष्प के सदृश है, ऐसे श्रीभगवान्, **अङ्घ्रि**=चरण; **सरोज**=कमल, **कोश**=मुँह, सम्पुट; **दुर्ग**=किला, **आश्रितः**=शरणागत, **निर्जित**=विजित, **षट-सपत्नः**=छ: शत्रु (मन तथा अन्य पाँच इन्द्रियाँ), **भुङ्क्ष्व**=भोग करो, **इह**=इस जगत मे, **भोगान्**=भोग्य वस्तुएँ, **पुरुष**=परम पुरुप द्वारा; **अतिदिष्टान्**=विशेषतया आदेशित, **विमुक्त**=मुक्त हुआ, **सङ्ग**:=भौतिक लगाव से, **प्रकृतिम्**=वैधानिक स्थिति, **भजस्व**=भोग करो।

अनुवाद

भगवान् ब्रह्मा ने कहा—हे प्रियव्रत! कमलनाभि ईश्वर के चरणकमल के कोश में शरण लेकर छहों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करो। तुम भौतिक सुख-भोग स्वीकार करो क्योंकि भगवान् ने तुम्हें विशेष रूप से ऐसा करने के लिए आज्ञा दी है। इस तरह तुम भौतिक संसर्ग से मुक्त हो सकोगे और अपनी वैधानिक स्थिति में रहते हुए भगवान् की आज्ञाओं को पूरी कर सकोगे।

तात्पर्य

इस जगत मे तीन प्रकार के प्राणी है—वे जो अत्यधिक इन्द्रिय-भोग करने का प्रयास करते है, कर्मी कहलाते है, इनसे ऊपर ज्ञानी है जो इन्द्रियो की वासनाओ को रोकने का यत्न करते है और इनसे भी ऊपर योगी है जिन्होने पहले ही इन्द्रियो को जीत लिया है। किन्तु इनमे से कोई भी दिव्य स्थिति को प्राप्त नही है। केवल भक्त

जिनकी ऊपर चर्चा नही है, दिव्य होते है। जैसा कि भगवद्गीता में (१४.२६) व्याख्या की गई है--

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
सगुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्णरूप मे मेरी भक्ति मे रत है और किसी भी स्थिति मे गिरता नही वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया को पार करके मुक्त हो जाता है।" यहाँ भगवान् ब्रह्मा प्रियव्रत को गृहस्थ जीवन नही, अपितु श्रीभगवान् के चरणकमल के दुर्ग के भीतर (**अब्ज-नाभांघ्रि-सरोज**) शरण लेने का उपदेश देते है। जब भौरा कमल की कली मे घुसकर मधुपान करता है तो वह कमल की पखडियो से भली भाँति रक्षित होता है। उसे सूर्य प्रकाश तथा अन्य बाहरी कारण प्रभावित नही कर पाते। इसी प्रकार श्रीभगवान् के चरणकमलो मे शरण लेने वाले को भय नही सताते। इसीलिए श्रीमद्भागवत मे (१० १४ ५८) कहा गया है—

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं
महत्पदं पुन्ययशोमुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं
पदं पदं यद् विपदां न तेषाम्॥

"जिसने श्रीभगवान् के चरण-कमलो मे शरण ग्रहण कर ली है उसके लिए प्रत्येक वस्तु सरल हो जाती है—यहाँ तक कि इस भवसागर (**भवाम्बुधि**) का सतरण गोखुर (**वत्स-पदम्**) के समान सरल हो जाता है। ऐसे भक्त के लिए ऐसे स्थान में, जहाँ प्रति पद पर बाधा हो, रहने का प्रश्न ही नही उठता है।

हमारा वास्तविक धर्म श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करना है। यदि हम अपने सकल्प मे दृढ है तो हम चाहे स्वर्ग मे रहे या नरक मे, सर्वत्र सुरक्षित है। यहाँ पर **प्रकृतिं भजस्व** ये शब्द अत्यन्त सार्थक है। **प्रकृतिम्** का अर्थ है किसी की वैधानिक स्थिति। प्रत्येक जीवात्मा की एक वैधानिक स्थिति है कि वह भगवान् का चिरन्तन दास है। इसीलिए ब्रह्मा ने प्रियव्रत को उपदेश दिया, "अपनी मूल स्थिति मे भगवान् के चिरन्तन दास के रूप मे बने रहो। यदि तुम उनकी आज्ञा का पालन करते हो तो भौतिक भोग (भुक्ति) के बीच रहते हुए भी नीचे नही गिरोगे।" कर्म फलो से प्राप्त होने वाली भुक्ति श्रीभगवान् द्वारा प्रदत्त भुक्ति से भिन्न होती है। कभी-कभी भक्त परम ऐश्वर्यवान होते भी श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करने के लिए वह पद स्वीकार करता है। अतः भक्त भुक्ति से प्रभावित नही होता। श्रीकृष्ण

भावनामृत आन्दोलन के भक्तजन श्रीचैतन्य महाप्रभु की आज्ञा के अनुसार संसार भर मे उपदेश दे रहे है। उनकी अनेक कर्मियो से भेट होती है, किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुग्रह से वे विषय तरंगों से कभी प्रभावित नही होते। भक्तो को उनका आशीर्वाद प्राप्त है जैसा कि श्रीचैतन्य चरितामृत (मध्य ७ १२९) मे कहा गया है—

कभु न बाधिबे तोमार विषय-तरंग।
पुनरपि एइ ठांइं पाबे मोर संगे॥

ऐसा एकनिष्ठ भक्त जो श्रीचैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय का विश्व भर मे उपदेश देता है उसे विषय तरगे नही सताती। उल्टे, वह कालक्रम से श्रीचैतन्य महाप्रभु के चरणकमलो की शरण मे वापस जाता है और इस प्रकार उनसे उसकी शाश्वत संगति बनी रहती है।

श्रीशुक उवाच

इति समभिहितो महाभागवतो भगवतस्त्रिभुवनगुरोरनुशासनमात्मनो लघुतयावनतशिरोधरो बाढमिति सबहुमानमुवाह ॥२०॥

श्रीशुकः उवाच=श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; **इति**=इस प्रकार; **समभिहितः**=पूर्णतया उपदिष्ट, **महा-भागवतः**=परम भक्त, **भगवतः**=अति शक्तिमान भगवान् ब्रह्मा का, **त्रिभुवन**=तीनो लोको का, **गुरो.**=गुरु की; **अनुशासनम्**=आज्ञा, आदेश; **आत्मनः**=स्वय का, **लघुतया**=लघुता के कारण, **अवनत**=झुका हुआ; **शिरोधरः**=उसका शिर, **बाढम्**=जो आज्ञा, **इति**=इस प्रकार; **स-बहु मानम्**=अत्यन्त आदर समेत, **उवाह**=पालन किया।

अनुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार तीनों लोको के गुरु भगवान् ब्रह्मा द्वारा भलीभाँति उपदेश दिये जाने पर छोटा होने के कारण प्रियव्रत ने नमस्कार करते हुए उनका आदेश स्वीकार किया और अत्यन्त आदरपूर्वक उसका पालन किया।

तात्पर्य

श्री प्रियव्रत भगवान् ब्रह्मा के पौत्र थे, अतः सामाजिक शिष्टाचार के नाते उनका पद छोटा था और छोटो का यह धर्म है कि अपने गुरुजनो के आदेश का पालन करे। इसीलिए प्रियव्रत ने तुरन्त कहा, "जो आज्ञा।" प्रियव्रत को महाभागवत अर्थात्

महान भक्त कहा गया है। महान भक्त का यह कर्तव्य है कि वह अपने गुरु अथवा गुरु के भी गुरु का परम्परानुसार पालन करे। जैसा कि भगवद्गीता मे (४ २) कथित है--**एवं परम्परा प्राप्तम्**—मनुष्य को गुरु-परम्परा से श्रीभगवान् के आदेश प्राप्त करने होते है। भगवान् का भक्त अपने को भगवान् के दासो का भी दास मानता है।

भगवानपि मनुना यथावदुपकल्पितापचितिः प्रियव्रतनारदयोरविषमम-भिसमीक्षमाणयोरात्मसमवस्थानमवाङ्मनसं क्षयमव्यवहृतं प्रवर्तयन्नगमत ॥२१॥

भगवान्=परम शक्तिमान भगवान् ब्रह्मा, **अपि**=भी, **मनुना**=मनु द्वारा, **यथावत्**=अभीष्ट रूप से, **उपकल्पित-अपचितिः**=आराधित होकर, **प्रियव्रत-नारदयोः**=प्रियव्रत तथा नारद की उपस्थिति मे, **अविषमम्**=विना द्वेष के, **अभिसमीक्षमाणयो** =दृष्टिपात करते हुए, **आत्मसम्**=अपने पद के अनुकूल, **अस्थानम्**=अपने धाम को, **अवाक्-मनसम्**=मन तथा वाणी के वर्णन से परे, **क्षयम्**=ग्रह, लोक, **अव्यवहृतम्**=अपूर्व स्थित, **प्रवर्तयन्**=विदा लेते हुए, **अगमत** =वापस चले गये।

अनुवाद

इसके पश्चात् मनु ने भगवान् ब्रह्मा को संतुष्ट करते हुए विधिवत् पूजा की। प्रियव्रत तथा नारद ने भी किसी प्रकार का विरोध दिखाये बिना ब्रह्मा जी को देखा। प्रियव्रत से उसके पिता की मनौती स्वीकार कराकर ब्रह्माजी अपने धाम सत्यलोक को चले गये, जिसका वर्णन मन तथा वाणी के परे है।

तात्पर्य

मनु को अत्यधिक सन्तोष हुआ क्योकि भगवान् ब्रह्मा ने उनके पुत्र प्रियव्रत को जगत के शासन का भार सँभालने के लिए राजी कर लिया था। प्रियव्रत तथा नारद भी सतुष्ट थे। यद्यपि ब्रह्मा ने प्रियव्रत को सासारिकता स्वीकार करने के लिए बाध्य करके उनके ब्रह्मचारी बने रहने तथा भगवद्भक्ति मे पूर्णतया लीन रहने के व्रत को खण्डित कर दिया था तो भी नारद तथा प्रियव्रत ने ब्रह्माजी पर रोष नही प्रकट किया। नारद को इसका किंचित दु ख नही था कि प्रियव्रत को अपना शिष्य बनाकर उन्होने भूल की है। प्रियव्रत तथा नारद समान रूप से महात्मा थे जो ब्रह्मा का सम्मान करना जानते थे। अतः ब्रह्माजी पर किसी प्रकार का रोष न

प्रकट करते हुए उन्हे प्रणाम किया । इसके पश्चात् ब्रह्माजी अपने स्वर्गधाम, सत्यलोक, चले गये जिसे यहाँ पर अवर्णनातीत और अगम्य कहा गया है ।

इस श्लोक मे बताया गया है कि भगवान् ब्रह्मा अपने धाम को वापस चले गये जो उनके व्यक्तित्व के ही समान महत्वपूर्ण है । भगवान् ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के कर्ता और उसके भीतर सर्वाधिक वरेण्य विभूति है। भगवद्गीता मे (८ १७) उनकी जीवन-अवधि का वर्णन हुआ है—**सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः**—चारो युग की कुल अवधि ४३,००,००० वर्ष है । यदि इसमे १००० का गुणा किया जाय तो जो कालावधि प्राप्त होगी वह ब्रह्मा के जीवन के बारह घण्टे के तुल्य है । अतः किसी के लिए ब्रह्मा के बारह घण्टो का अनुमान लगा पाना कठिन है । फिर भला उनके सौ वर्ष के जीवन का अनुमान तो दूर रहा । वैदिक साहित्य बताता है कि सत्यलोक मे जन्म, मृत्यु, जरा या व्याधि नही होते । दूसरे शब्दो मे, सत्यलोक ब्रह्मलोक से आगे स्थित है, अतः यह वैकुण्ठ लोक के ही तुल्य हुआ । भगवान् ब्रह्मा के धाम का वर्णन हमारी शक्ति से परे है, इसीलिए इसे **अवाङ्-मनसा-गोचर** कहा गया है—अर्थात् वाणी तथा मन के वर्णन से परे । वैदिक साहित्य मे ब्रह्मा के धाम का वर्णन इस प्रकार हुआ है—**यद् वै परार्ध्यं तद् उपारमेष्ठ्यं न यत्र शोको न जरा न मृत्युर्नार्तिर्न चोद्वेगाः**—"सत्यलोक सैकड़ो हजारों वर्ष की दूरी पर स्थित है, न वहाँ शोक है, न जरा, मृत्यु, चिन्ता या शत्रुओ का प्रभाव ।"

मनुरपि परेणैवं प्रतिसन्धितमनोरथः सुरर्षिवरानुमतेनात्मजमखिलधरामण्डल-स्थितिगुप्तय आस्थाप्य स्वयमतिविषमविषयविषजलाशयाशाया उपरराम ॥२२॥

मनुः=स्वायभुव मनु; **अपि**=भी, **परेण**=ब्रह्मा द्वारा, **एवम्**=इस प्रकार; **प्रतिसन्धित**=पूर्ण हुआ, **मनः-रथः**=अपना मनोरथ, **सुर-ऋषि-वर**=महर्षि नारद की; **अनुमतेन**=अनुमति से, **आत्म-जम्**=अपने पुत्र, **अखिल**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का, **धरा-मण्डल**=ग्रहो का, **स्थिति**=पालन, **गुप्तये**=रक्षा हेतु; **आस्थाप्य**=स्थापित करके, **स्वयम्**=स्वय, **अति-विषम**=अत्यन्त भयावने, **विषय**=सासारिक प्रपच, **विष**=विष का, **जल-आशय**=समुद्र, **आशायाः**=कामनाओ से, **उपरराम**=निवृत्ति प्राप्त की ।

अनुवाद

इस प्रकार भगवान् ब्रह्मा की सहायता से स्वायंभुव मनु का मनोरथ पूर्ण हुआ । उन्होने महर्षि नारद की अनुमति से अपने पुत्र को समस्त भूमण्डल के पालन का भार सौप दिया और स्वयं भौतिक कामनाओं के अति दुस्तर तथा विषमय सागर से निवृत्ति प्राप्त कर ली ।

तात्पर्य

स्वायभुव मनु एक प्रकार से निराश ही थे क्योकि नारद जैसी विभूति ने उनके पुत्र प्रियव्रत को गृहस्थाश्रम न स्वीकार करने का उपदेश दे रखा था। अव वे अत्यधिक प्रसन्न थे क्योकि ब्रह्मा ने उनके पुत्र प्रियव्रत को राज्य भार सँभालने के लिए राजी कर लिया था। भगवद्गीता से हमे यह सूचना मिलती है कि स्वायभुव मनु सूर्यदेव के पुत्र थे और उनके पुत्र महाराज इक्ष्वाकु ने इस पृथ्वीलोक पर शासन किया। किन्तु ऐसा लगता है कि स्वायभुव मनु पर समस्त लोको के पालन और रक्षा करने का भार था। **धरामण्डल** का अर्थ "लोक" है। उदाहरणार्थ यह पृथ्वी धरा-मडल है। किन्तु **अखिल** का अर्थ सम्पूर्ण अथवा विश्वव्यापी है। अत. यह समझ पाना कठिन है कि महाराज प्रियव्रत कहाँ स्थित थे, किन्तु इस वर्णन से यह निश्चित रूप से प्रकट है कि उनका पद वैवस्त मनु से वड़ा था क्योकि उन पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों का भार सौपा गया था।

एक दूसरी महत्वपूर्ण वात यह है कि स्वायभुव मनु को ब्रह्माण्ड के राज्य भार से निवृत्ति मिलने पर परम सतोष हुआ। आजकल, राजनीतिक व्यक्ति, राष्ट्रपति या ऐसे ही उच्च पद की आकाक्षा से जनमत प्राप्त करने हेतु अपने-अपने आदमी नियुक्त करते है जो द्वार-द्वार जाकर उनका प्रचार करे। इसके विपरीत यहाँ हम पाते है कि समस्त ससार का राज्य भार एक ओर है जिसे सँभालने के लिए प्रियव्रत राजी नही है। इसी प्रकार उनके पिता स्वायभुव मनु है जिन्हे विश्व का राज्य अपने पुत्र को सौपते हुए अत्यन्त शान्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग मे राजा तथा उनके राज्य-अधिकारी इन्द्रिय-भोग के लिए इन पदो को स्वीकार नही करते थे। ऐसे महान राजा, राजर्षि कहलाते थे और प्रजा की भलाई के लिए राज्य का पालन और सरक्षण करने के लिए शासन करते थे। प्रियव्रत तथा स्वायभुव मनु का इतिहास वताता है कि किस प्रकार आदर्श राजा नि:स्वार्थ भाव से राज्य का सचालन करते थे।

यहाँ पर विषयो की तुलना विष-सागर से की गई है। श्रील नरोत्तमदास ठाकुर ने भी अपने एक गीत मे इन्हे ऐसा ही वताया है—

संसार विषानले, दिवा-निशि हिया ज्वले,
जुडाइते ना कौनु उपाय

"मेरा हृदय ससार की अग्नि मे सदा जलता रहता है और उससे उवरने का मेरे पास कोई उपाय नही है।"

गोलोकेर प्रेम-धन, हरि-नाम-सकीर्तन
रति ना जन्मिल केने ताय

"इसकी एकमात्र औषधि हरिनाम संकीर्तन अर्थात् 'हरे कृष्ण महामन्त्र' का जप है जो गोलोक वृन्दावन से प्राप्त होता है। मै कितना अभागा हूँ कि इसके लिए मुझमे तनिक भी आकर्षण नही है।" मनु ने ईश्वर के चरणकमल की शरण चाही थी, इसलिए अपने पुत्र प्रियव्रत को राज्य सौप देने के बाद वे अत्यन्त शान्त हुए। यह वैदिक-सभ्यता की परम्परा है। जीवन के अन्तिम समय प्रत्येक व्यक्ति को विषयो से मुक्त होकर भगवान् की भक्ति मे पूर्णतया लगना चाहिए।

सुर्रीष-वर-अनुमतेन शब्द भी सार्थक है। मनु ने महर्षि नारद की अनुमति से अपने पुत्र को राज्य दे दिया। इसका विशेष उल्लेख यहाँ इसलिए हुआ है क्योकि नारद चाहते थे कि प्रियव्रत समस्त विषयो से मुक्त रहे, अत: जब ब्रह्मा तथा मनु की प्रार्थना पर प्रियव्रत ने ब्रह्माण्ड का राज्य-भार स्वीकार कर लिया तो नारद अत्यन्त प्रसन्न हुए।

इति ह वाव स जगतीपतिरीश्वरेच्छयाधिनिवेशित कर्माधिकारोऽखिलजगद्बन्ध-ध्वंसनपरानुभावस्य भगवत आदिपुरुषस्याङ्घ्रियुगलानवरतध्यानानुभावेन परिरन्धितकषायाशयोऽवदातोऽपि मानवर्धनो महतां महीतलमनुशशास ॥२३॥

इति=इस प्रकार; ह वाव=निस्सन्देह; सः=वह, **जगती-पतिः**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का राजा; **ईश्वर-इच्छया**=श्रीभगवान् के आदेश से, **अधिनिवेशित**= पूर्णतया सलग्न, **कर्म-अधिकारः**=भौतिक कार्यो मे, **अखिल-जगत्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का, **बन्ध**=बन्धन, **ध्वंसन**=विनष्ट करते हुए, **पर**=दिव्य, **अनुभावस्य**=प्रभाव का, **भगवतः**=श्रीभगवान् का, **आदि-पुरुषस्य**=आदि पुरुष के, **अंघ्रि**=चरण-कमल में; **युगल**=दो, **अनवरत**=अहर्निश, **ध्यान-अनुभावेन**=ध्यान द्वारा, **परिरन्धित**=विनष्ट, **कषाय**=समस्त मल; **आशयः**=अपने हृदय मे; **अवदातः**= नितान्त शुद्ध; **अपि**=यद्यपि; **मान-वर्धनः**=केवल सम्मान देने के लिए, **महताम्** =बडों को, **महीतलम्**=भौतिक ससार (पर); **अनुशशास**=राज्य किया।

अनुवाद

श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन करते हुए महाराज प्रियव्रत सांसारिक कार्यो मे अनुरक्त रहने लगे, किन्तु उन्हें सदैव भगवान् के उन चरणकमलों का ध्यान बना रहा जो समस्त विषयों से मुक्ति दिलाने वाले हैं। यद्यपि महाराज प्रियव्रत समस्त भौतिक कलमषों से विमुक्त थे, किन्तु अपने बड़ों का मान रखने के लिए ही वे इस संसार पर शासन करने लगे।

तात्पर्य

मानवर्धनो महताम् ("अपने से श्रेष्ठजनों के प्रति सम्मान प्रकट करना")

शब्द समूह अत्यन्त सार्थक है। यद्यपि महाराज प्रियव्रत पहले से ही मुक्त पुरुष थे और भौतिक वस्तुओ के प्रति उनका कोई आकर्षण नही था, किन्तु भगवान् ब्रह्मा का मान रखने के लिए ही उन्होने शासन सँभालना स्वीकार किया। अर्जुन ने भी ऐसा ही किया। अर्जुन को राजनैतिक कार्यों में भाग लेने अथवा कुरुक्षेत्र मे युद्ध करने मे कोई अभिरुचि नही थी, किन्तु जब श्रीकृष्ण ने उन्हे वैसा करने का आदेश दिया तो बडे ही अच्छे ढग से अपने कर्तव्य का पालन किया। जो नित्य ही भगवान् के चरणकमलो का ध्यान धरता है वह इस ससार के समस्त कल्मषो से ऊपर रहता है। जैसा कि भगवद्गीता मे (६.४७) कहा गया है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

"समस्त योनियो मे भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्ति-योग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अतरग रूप में युक्त है और परम श्रेष्ठ है।" इसलिए महाराज प्रियव्रत मुक्त पुरुष एव परम योगियो में से थे, फिर भी ब्रह्मा के आदेशानुसार वे बाह्य रूप से ब्रह्माण्ड के शासक बने। इस प्रकार अपने गुरुजनो के प्रति सम्मान का प्रदर्शन उनका असाधारण गुण था। श्रीमद्भागवत मे (६ १७ २८) कहा गया है—

नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।
स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥

यदि श्रीभगवान् की आज्ञा पालन का अवसर आता है तो सिद्ध योगी किसी प्रकार भयभीत नही होता। मुक्त पुरुष होते हुए भी प्रियव्रत द्वारा सासारिक कार्यों मे निरत होने का यही कारण है। इसी सिद्धान्त के कारण एक महाभागवत, जिसका इस ससार से कोई सरोकार नही होता, भक्ति के द्वितीय स्तर मे उतर कर विश्व भर मे भगवान् की महिमा का उपदेश देता है।

अथ च दुहितरं प्रजापतेर्विश्वकर्मण उपयेमे बर्हिष्मतीं नाम तस्यामु ह वाव आत्मजानात्मसमानशीलगुणकर्मरूपवीर्योदारान्दश भावयाम्बभूव कन्यां च यवीयसीमूर्जस्वतीं नाम॥ २४॥

अथ=तत्पश्चात्, च=भी, दुहितरम्=पुत्री, प्रजापतेः=प्रजापतियो मे से एक की, विश्वकर्मणः=विश्वकर्मा नामक, उपयेमे=व्याह किया; बर्हिष्मतीम्=बर्हिष्मती, नाम=नामक, तस्याम्=उसमें, उ ह=जैसा कि प्रसिद्ध है; वाव=आश्चर्यजनक; आत्म-जान्=पुत्रो, आत्म-समान=अपने ही सदृश; शील=चरित्र;

गुण=गुण, **कर्म**=कार्य; **रूप**=सुन्दरता, **वीर्य**=वल; **उदारान्**=जिसकी उदारता, **दश**=दस, **भावयाम् बभूव**=उसके उत्पन्न हुए; **कन्याम्**=कन्या; **च**=भी; **यवीयसीम्**=सवसे छोटी, **ऊर्जस्वतीम्**=ऊर्जस्वती; **नाम**=नाम की।

अनुवाद

तदनन्तर महाराज प्रियव्रत ने प्रजापति विश्वकर्मा की कन्या बर्हिष्मती से विवाह किया। उससे उन्हे दस पुत्र प्राप्त हुए जो सुन्दरता, चरित्र, उदारता तथा अन्य गुणों में उन्हीं के समान थे। उनके एक पुत्री भी हुई जो सबसे छोटी थी। उसका नाम ऊर्जस्वती था।

तात्पर्य

महाराज प्रियव्रत ने ब्रह्मा का आदेश पालन करने के लिए न केवल राज्यभार स्वीकार किया वरन् प्रजापतियों मे से प्रजापति विश्वकर्मा की पुत्री से विवाह भी किया। चूँकि महाराज प्रियव्रत दिव्यज्ञान मे निष्णात् थे, अत: वे चाहते तो घर लौटकर ब्रह्मचारी रहते हुए शासन-भार सँभालते, किन्तु गृहस्थाश्रम मे आकर उन्होने पत्नी भी स्वीकार की। नियम यह है कि जो गृहस्थ बन जाता है उसे उस आश्रम मे पूर्णरूप से रहना चाहिए जिसका अर्थ है कि वह अपनी पत्नी तथा बच्चो के साथ शान्तिपूर्वक रहे। जव चैतन्य महाप्रभु की प्रथम पत्नी का देहान्त हो गया तो उनकी माँ ने दूसरा व्याह करने का अनुरोध किया। उस समय उनकी आयु वीस वर्ष की थी और चौवीस वर्ष की आयु मे वे सन्यास ग्रहण करने जा रहे थे तो भी अपनी माँ के अनुरोध पर उन्होने विवाह कर लिया। उन्होने अपनी माँ से कहा, "जव तक मै गृहस्थाश्रम मे हूँ, मुझे पत्नी चाहिए क्योकि गृहस्थ जीवन का अर्थ घर मे ही बने रहना नही होता। वास्तविक गृहस्थ जीवन का अर्थ है, पत्नी के साथ घर में रहना।"

इस श्लोक के तीन शब्द—**उ ह वाव**—भी महत्व के है। इनका प्रयोग आश्चर्य प्रकट करने के लिए हुआ है। प्रियव्रत महाराज ने सन्यास का व्रत ले रखा था, किन्तु पत्नी स्वीकार करके पुत्र उत्पन्न करने से सन्यास-मार्ग का कोई सम्बन्ध नही है—ये कार्य तो भोग मार्ग को वताते है। अत: यह विस्मय की बात थी कि संन्यास मार्ग के अनुगामी प्रियव्रत महाराज ने अब भोग मार्ग को स्वीकार कर लिया।

कभी-कभी मेरी आलोचना इसलिए की जाती है क्योकि सन्यासी होते हुए भी मै अपने शिष्यो के विवाहोत्सवो मे सम्मिलित हुआ हूँ। यहाँ पर वता दिया जाय कि चूँकि हमने श्रीकृष्णभावनामृत सघ प्रारम्भ किया है और मानव समाज मे आदर्श विवाह सम्पन्न होने चाहिए, इसलिए आदर्श समाज की स्थापना के लिए हमे इसके कुछ सदस्यों के विवाह मे भाग लेना ही चाहिए, भले ही हमने सन्यास क्यो न स्वीकार कर रखा हो। यह उन व्यक्तियो को आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है

जिनकी रुचि चारो सामाजिक आश्रमो तथा चारो आध्यात्मिक आश्रमो की दिव्य प्रणाली, जिसे **दैव-वर्णाश्रम** कहते है, स्थापित करने मे नही है। तो भी श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने दैव वर्णाश्रम की पुनर्स्थापना करनी चाही थी। दैव-वर्णाश्रम मे 'जन्मना' सामाजिक स्तर नही स्वीकार किया जाता क्योकि भगवद्गीता मे कहा गया है कि इसके निर्धारक तत्व **गुण** तथा **कर्म** है। श्रीकृष्णभावना के लिए उपयुक्त समाज को बनाये रखने के उद्देश्य से इसी दैव-वर्णाश्रम की पुनर्स्थापना की जानी चाहिए। मूर्ख आलोचको के लिए यह आश्चर्यजनक हो सकता है, किन्तु श्रीकृष्णभावनामृत सघ के कार्यों में से यह एक है।

आग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुमहावीरहिरण्यरेतोघृतपृष्ठसवनमेधातिथिवीतिहोत्रकवय इति सर्व एवाग्निनामानः ॥ २५ ॥

आग्नीध्र=आग्नीध्र; **इध्म-जिह्व**=इध्मजिह्व; **यज्ञ-बाहु**=यज्ञबाहु, **महा-वीर** =महावीर; **हिरण्य-रेतः**=हिरण्यरेता, **घृत-पृष्ठ**=घृतपृष्ठ, **सवन**=सवन, **मेधातिथि**=मेधातिथि, **वीतिहोत्र**=वीतिहोत्र, **कवयः**=(तथा) कवि, **इति**=इस प्रकार, **सर्वे**=ये सभी, **एव**=निश्चय ही, **अग्नि**=अग्नि देवता के, **नामानः**= नाम।

अनुवाद

महाराज प्रियव्रत के दस पुत्रों के नाम थे—आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, महावीर, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, सवन, मेधातिथि, वीतिहोत्र तथा कवि। ये ही अग्निदेव के भी नाम है।

एतेषां कविर्महावीरः सवन इति त्रय आसन्नूर्ध्वरेतसस्त आत्मविद्यायामर्भभावादारभ्य कृतपरिचयाः पारमहंस्यमेवाश्रममभजन् ॥ २६ ॥

एतेषाम्=इनमे से, **कविः**=कवि, **महावीरः**=महावीर, **सवनः**=सवन, **इति** =इस प्रकार, **त्रयः**=तीन, **आसन्**=थे, **ऊर्ध्व-रेतसः**=परम (नैष्ठिक) ब्रह्मचारी, **ते**=वे, **आत्म-विद्यायाम्**=दिव्यज्ञान मे, **अर्भ-भावात्**=वचपन से, **आरभ्य**= प्रारम्भ करके, **कृत-परिचयाः**=अत्यधिक परिचित, **पारमहंस्यम्**=मानव जीवन की उच्चतम सिद्धि का, **एव**=निश्चय ही, **आश्रमम्**=आश्रम, **अभजन्**=पालन किया।

अनुवाद

इन दस पुत्रों में से तीन—कवि, महावीर तथा सवन—पूर्ण ब्रह्मचारी रहे। इस

प्रकार बालपन से ब्रह्मचर्य जीवन की शिक्षा प्राप्त करने के कारण वे परमहंस आश्रम से पूर्णतया परिचित थे।

तात्पर्य

इस श्लोक मे आगत **ऊर्ध्व-रेतसः** शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे ऐसे पुरुष का बोध होता है जो विषयी जीवन पर विजय प्राप्त करके अपने वीर्य को स्खलित नही करता वरन् उसे शरीर मे सचित करके अपने मस्तिष्क को उर्वर बनाता है। जो पुरुष विषयी जीवन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है उसकी स्मरण शक्ति अपूर्व हो जाती है। इसी प्रकार से विद्यार्थी अपने गुरु से वैदिक उपदेशो को एक बार सुनकर उन्हे अक्षरशः स्मरण रखते थे।

अन्य महत्वपूर्ण शब्द **अर्भ-भादात्** है जिसका अर्थ है "बालपन से ही।" इसका दूसरा भी अर्थ है—"बच्चो को अत्यधिक प्रिय होने के कारण।" दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि परमहस का जीवन दूसरो के लाभ के लिए समर्पित रहता है। जिस प्रकार से पिता अपने सन्तान प्रेम के कारण अनेक वस्तुओं का त्याग करता है उसी प्रकार से साधु पुरुष समाज-हित के लिए समस्त शारीरिक सुखो का परित्याग कर देते है। इस प्रसग मे छः गोस्वामियों से सम्बन्धित एक श्लोक है—

त्यक्त्वा तूर्णं अशेष-मंडल-पति-श्रेणीं सदा तुच्छवत्।
भूत्वा दीन-गणेशकौ करुणया कौपीन-कंठाश्रितौ॥

"निर्धनहीन आत्माओं के प्रति दया भाव के कारण छः गोस्वामियो ने अपने मत्रि-पद को त्याग कर याचक बनने का व्रत लिया। उन्होने अपनी आवश्यकताओ को कम करने के लिए एक कौपीन तथा एक कमडलु धारण किया।" इस प्रकार वैष्णव साहित्य का संग्रह और प्रकाशन करके श्रीभगवान् के आदेशो का पालन करते हुए वृन्दावन में रहे।

तस्मिन्नु ह वा उपशमशीलाः परमर्षयः सकलजीवनिकायावासस्य भगवतो वासुदेवस्य भीतानां शरणभतस्य श्रीमच्चरणारविन्दाविरतस्मरणाविगलितपरम-भक्तियोगानुभावेन परिभावितान्तर्हृदयाधिगते भगवति सर्वेषां भूतानामा-त्मभूते प्रत्यगात्मन्येवात्मनस्तादात्म्यमविशेषेण समीयुः॥ २७॥

तस्मिन्=उस परमहस आश्रम मे, **उ**=निश्चय ही, **ह**=इतना प्रसिद्ध; **वा**= निस्संदेह, **उपशम-शीलाः**=संन्यास आश्रम मे; **परम-ऋषयः**=महान ऋषि, **सकल** =समस्त, **जीव**=जीवात्माओ का, **निकाय**=समूह; **आवासस्य**=निवास का, **भगवतः**=श्रीभगवान्, **वासुदेवस्य**=भगवान् वासुदेव का; **भीतानाम्**=जो भौतिक

अस्तित्व के कारण भयभीत है, उनका, **श्रीमत्**=श्रीभगवान् का, **चरण-अरविन्द**=चरणकमल; **अविरत**=निरन्तर, **स्मरण**=स्मरण, **अविगलित**=निष्कलुषित, **परम**=परम, **भक्तियोग**=भक्ति का, **अनुभावेन**=बल से, **परिभावित**=शुद्धीकृत, विमल, **अन्तः**=भीतरी; **हृदय**=हृदय, **अधिगते**=देखा हुआ, **भगवति**=श्रीभगवान्; **सर्वेषाम्**=सब, **भूतानाम्**=भूतात्माओ मे से; **आत्म-भूते**=शरीर के भीतर स्थित; **प्रत्यक्**=प्रत्यक्ष, **आत्मनि**=परम-आत्मा से; **एव**=निश्चय ही; **आत्मनः**=अपना; **तादात्म्यम्**=गुण मे एक समान; **अविशेषेण**=विना अन्तर के, **समीयुः**=साक्षात्कार किया ।

अनुवाद

प्रारम्भ से ही संन्यास आश्रम में रहकर ये तीनों अपनी इन्द्रियो को पूर्णतया वश में करते हुए परम साधु हो गये । उन्होंने अपने मनों को उन श्रीभगवान् के चरणकमलों में केन्द्रित रखा, जो समस्त जीवात्माओं के विश्रामस्थल (आश्रम) हैं और वासुदेव नाम से विख्यात है । भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान धारण करने के कारण महाराज प्रियव्रत के ये तीनो पुत्र शुद्ध भक्ति से सिद्ध हो गये । वे अपनी भक्ति के बल से परमात्मा के रूप में प्रत्येक के हृदय मे निवास करने वाले श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सके और इसका अनुभव कर सके कि उनमें तथा श्रीभगवान् में गुण के अनुसार कोई अन्तर नहीं है ।

तात्पर्य

संन्यासी जीवन में परमहस अवस्था सर्वोच्च है । संन्यास की चार अवस्थाएँ होती है—**कुटीचक, बहूदक, परिव्राजकाचार्य** तथा **परमहंस** । वैदिक प्रणाली के अनुसार सन्यास आश्रम स्वीकार कर लेने पर गाँव के वाहर कुटी मे रहना होता है और भोजन आदि आवश्यक वस्तुएँ घर से मँगाई जाती है । यह **कुटीचक** अवस्था है । जब सन्यासी और आगे बढता है, तो वह घर की कोई वस्तु स्वीकार नही करता, तब तक वह अपना भोजन कई स्थानो से एकत्र करता हैं । यह प्रणाली **मधुकरी** कहलाती है जिसका शाब्दिक अर्थ है "भौरो की वृत्ति ।" जिस प्रकार से भौरे थोड़ा-थोड़ा करके अनेक पुष्पो से मधु सचित करते है उसी प्रकार से सन्यासी को द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगनी चाहिए और प्रत्येक घर से थोडा ही ग्रहण करना चाहिए । यह **बहूदक** अवस्था कहलाती है । अधिक अनुभवी होने पर सन्यासी भगवान् वासुदेव की महिमा का उपदेश देने के लिए विश्वभर का भ्रमण करता है । तब वह **परिव्राजकाचार्य** कहलाता है । संन्यासी को **परमहंस** अवस्था तव प्राप्त होती है जब वह अपना उपदेश कार्य समाप्त करके अध्यात्म जीवन विताने के उद्देश्य से एक ही स्थान पर टिक जाता है । सच्चा परमहस वह है जो अपनी इन्द्रियो को पूर्णतया वश मे रखता है और ईश्वर की शुद्ध सेवा मे लगा रहता है । अतः प्रियव्रत

के ये तीनों पुत्र प्रारम्भ से ही परमहस अवस्था को प्राप्त थे। ईश्वर की सेवा में तल्लीन रहने के कारण उनकी इन्द्रियाँ उन्हे हिला नही सकती थी। इसीलिए तीनो भाइयो को इस श्लोक मे **उपशम शीलाः** कहा गया है। **उपशम** का अर्थ है "पूर्णतः दमित।" चूँकि उन्होने अपनी इन्द्रियो को पूर्णतः दमित कर लिया था इसलिए वे महान साधु तथा ऋषि माने जाते हैं।

इन्द्रियो को दमित करने के अनन्तर तीनों भाइयों ने अपना मन वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणकमलो मे लगा दिया। जैसा कि भगवद्गीता मे (७ १९) कहा गया है— **वासुदेवः सर्वं इति**—अर्थात् वासुदेव के चरणकमल ही सर्वस्व है। भगवान् वासुदेव समस्त जीवात्माओं के आगार है। जब इस दृश्य जगत का लय हो जाता है तो समस्त जीवात्माएँ गर्भोदकशायी विष्णु के परम देह में प्रविष्ट होती है जहाँ वे महाविष्णु में लीन हो जाती है। ये दोनों विष्णुतत्व वासुदेव तत्व ही है इसीलिए कवि, महावीर तथा सवन ये तीनो भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के चरणारविन्द मे सदैव ध्यानस्थ रहे। इस प्रकार वे यह समझ सके कि हृदय में स्थित परम आत्मा श्रीभगवान् ही है और वे अपने स्वरूप को उनमें पा सके। इसका आशय यह है कि केवल शुद्ध भक्ति से पूर्ण आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है। इस श्लोक में वर्णित **परम-भक्ति-योग** का यह भावार्थ है कि अमिश्रित (शुद्ध) भक्ति के बल पर जीवात्मा के लिए ईश्वर की सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य नही रहता, जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है (**वासुदेवः सर्वं इति**)। परम-भक्ति-योग से मनुष्य स्वतः देहात्म बुद्धि से उबर सकता है और श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। इसकी पुष्टि ब्रह्मसंहिता मे हुई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्ति विलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरं अचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

सिद्ध योगी, जिसे **सत्** या साधु कहते है अपने हृदय मे श्रीभगवान् के प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है। श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण स्वय को अपने अंशो के द्वारा विस्तार देते है और इस तरह भक्त अपने हृदय मे निरन्तर उनका दर्शन पा सकता है।

अन्यस्यामपि जायायां त्रयः पुत्रा आसन्नुत्तमस्तामसो रैवत इति मन्वन्तराधिपतयः ॥ २८ ॥

अन्यस्याम्=अन्य, **अपि**=भी, **जायायाम्**=स्त्री से, **त्रयः**=तीन, **पुत्राः**=

पुत्र, **आसन्**=थे; **उत्तमः तामसः रैवतः**=उत्तम, तामस तथा रैवत; **इति**=इस प्रकार, **मनु-अन्तर**=मन्वन्तर कल्प के, **अधिपतयः**=शासक ।

अनुवाद

महाराज प्रियव्रत की दूसरी पत्नी से तीन पुत्र उत्पन्न हुए जिनके नाम उत्तम, तामस तथा रैवत थे। बाद में इन्होंने मन्वन्तर कल्पों का भार सँभाला।

तात्पर्य

ब्रह्मा के एक दिन में १४ मन्वन्तर होते है। एक मनु का जीवन काल अर्थात् एक मन्वन्तर की अवधि ७१ युग है और प्रत्येक युग मे ४३,२०,००० वर्ष होते है। इन मन्वन्तरो पर शासन करने वाले समस्त मनु महाराज प्रियव्रत के वंशज ही रहे। इनमें से तीन—उत्तम, तामस तथा रैवत का विशेष उल्लेख हुआ है।

एवमुपशमायनेषु स्वतनयेष्वथ जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश परिवत्सराणामव्याहताखिल पुरुषकारसारसम्भृतदोर्दण्डयुगलापीडितमौर्वीगुण-स्तनितविरमितधर्मप्रतिपक्षो बर्हिष्मत्याश्चानुदिनमेधमानप्रमोदप्रसरणयौषिण्य-व्रीडाप्रमुषितहासावलोकरुचिरक्ष्वेल्यादिभिः पराभूयमानविवेक इवानव-बुध्यमान इव महामना बुभुजे ॥ २९ ॥

एवम्=इस प्रकार, **उपशम-अयनेषु**=सभी सुयोग्य, **स्व-तनयेषु**=अपने पुत्रो मे से, **अथ**=तत्पश्चात्, **जगती-पतिः**=ब्रह्माण्ड के स्वामी, **जगतीम्**=ब्रह्माण्ड, **अर्बुदानि**=अर्बुद (१०,००,००,००० की संख्या), **एकादश**=ग्यारह, **परिवत्स-राणाम्**=वर्षो का, **अव्याहत**=बिना रोकटोक के, **अखिल**=विश्वव्यापी; **पुरुष-कार**=शौर्य, **सार**=शक्ति; **सम्भृत**=प्रदत्त, **दोः-दंडः**=बलिष्ट भुजाओ वाले, **युगल**=दो, **आपीडित**=खीची गई, **मौर्वी-गुण**=धनुष की डोरी; **स्तनित**=टकार से, **विरमित**=पराजित, **धर्म**=धार्मिक नियम; **प्रतिपक्षः**=विपक्षी, **बर्हिष्मत्याः**=अपनी पत्नी बार्हिष्मती का, **च**=तथा, **अनुदिनम्**=प्रतिदिन, **एधमान**=वर्धमान, **प्रमोद**=मनोरंजन, **प्रसरण**=सुशीलता, सौजन्य, **यौषिण्य**=स्त्रियोचित व्यवहार, **व्रीडा**=लज्जा से, **प्रमुषित**=सकुचित, **हास**=हसी, हास्य, **अवलोक**=चितवन, **रुचिर**=मनोहर, **क्ष्वेलि-आदिभिः**=विनोद आदि, **पराभूयमान्**=पराजित होकर, **विवेकः**=अपने वास्तविक ज्ञान, **इव**=सदृश, **अनवबुध्यमानः**=विवेकहीन व्यक्ति, **इव**=सदृश, **महा-मनाः**=महान आत्मा, **भुजे**=राज्य किया, भोगा।

अनुवाद

इस प्रकार से कवि, महावीर तथा सवन के परमहंस अवस्था में भलीभाँति प्रशिक्षित हो जाने पर महाराज प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक ब्रह्माण्ड पर शासन किया। जिस समय वे अपनी बलशाली भुजाओं से धनुष की डोरी खींच कर तीर चढ़ा लेते थे उस समय धार्मिक जीवन के नियमों को न मानने वाले उनके विपक्षी उनके अद्वितीय शौर्य से डरकर न जाने कहाँ भाग जाते थे। वे अपनी पत्नी बर्हिष्मती को अत्यधिक प्यार करते थे और समय बीतने के साथ ही उनका प्रणय भी बढ़ता गया। अपनी स्त्रियोचित वेशभूषा, उठने-बैठने, हँसी तथा चितवन से महारानी बर्हिष्मती उन्हे शक्ति प्रदान करती थीं। इस प्रकार महात्मा होते हुए भी वे अपनी पत्नी के प्यार में डूब गये। वे उसके साथ सामान्य पुरुष सा आचरण करते, किन्तु वे वास्तव में महान आत्मा थे।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **धर्म प्रतिपक्षः** से न केवल किसी विशेष धर्म का वरन् वर्णाश्रम धर्म का सकेत मिलता है। सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने एवं नागरिको को जीवन-लक्ष्य की ओर क्रमशः अग्रसर होने के लिए आवश्यक है कि वर्णाश्रम धर्म के नियमो का पालन किया जाय। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि वर्णाश्रम धर्म के पालन में वे इतने कठोर थे कि इसकी उपेक्षा करने वाले युद्ध के लिए ललकारे जाने या दडित किये जाने के भय से दूर भागते फिरते थे। निस्सन्देह महाराज प्रियव्रत को अपने दृढ़ संकल्प के कारण लड़ने की आवश्यकता नही पडी, उनके विपक्षी वर्णाश्रम धर्म के नियमो का उल्लघन करने का दुस्साहस भी नही कर सकते थे। कहा गया है जो मानव समाज वर्णाश्रम धर्म द्वारा चालित नही है वह बिल्लियो तथा कुत्तों के पशु समाज से बढकर नही है। अतः महाराज प्रियव्रत ने अपने असाधारण तथा अद्वितीय शौर्य से वर्णाश्रम धर्म को दृढ़ बनाये रखा।

इस प्रकार का कठोर जागरूक जीवन बनाये रखने के लिए मनुष्य को अपनी पत्नी से प्रोत्साहन की आवश्यकता पडती है। वर्णाश्रम धर्म प्रणाली मे, ब्राह्मण तथा संन्यासियो को स्त्रियो से किसी प्रकार के प्रोत्साहन की आवश्यकता नही होती। किन्तु क्षत्रियो तथा गृहस्थो को अपने कर्तव्य पालन के लिए अपनी पत्नियो से प्रेरणा लेने की आवश्यकता रहती है। वास्तविकता तो यह है कि कोई गृहस्थ या क्षत्रिय अपनी पत्नी के सहयोग के बिना अपना दायित्व निभा ही नही सकता। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने स्वय यह स्वीकार किया था कि गृहस्थ को अपनी पत्नी के साथ रहना चाहिए। क्षत्रियो को राज-काज चलाने के लिए कई पत्नियाँ रखने की छूट थी। कर्म-जीवन तथा राजनैतिक कार्य मे योग्य पत्नी का साहचर्य अनिवार्य है। अत. सुचारु रूप से कर्तव्य पालने के लिए महाराज प्रियव्रत ने अपनी सुन्दर

पत्नी बर्हिष्मती का लाभ उठाया, क्योकि वह स्त्रियोचित वेशभूषा, मुस्कान तथा हाव-भाव से अपने पति को प्रसन्न रखने मे दक्ष थी। वह महाराज प्रियव्रत को प्रोत्साहित करती रहती जिससे वे उचित रीति से शासन करते थे। इस श्लोक मे **इव** शब्द का दो बार प्रयोग यह बताने के लिए किया गया है कि महाराज प्रियव्रत स्त्री-दास के रूप मे आचरण करते हुए मानवोचित विवेक खो बैठे। किन्तु वास्तव मे वे अपने महात्मा पद के प्रति भिज्ञ थे यद्यपि ऊपर से वे कर्मी पति का-सा आचरण कर रहे थे। महाराज प्रियव्रत ने ग्यारह अर्बुद वर्षों तक राज्य किया। एक अर्बुद दस करोड़ (१०,००,००,०००) वर्ष के तुल्य होता है।

यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन् भगवानादित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयतितदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन् समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय इव पतङ्गः ॥ ३० ॥

यावत्=जब तक, **अवभासयति**=प्रकाश देता है, **सुर-गिरिम्**=सुमेरु पर्वत; **अनुपरिक्रामन्**=परिक्रमा करते हुए, **भगवान्**=परम शक्तिमान, **आदित्यः**=सूर्यदेव, **वसुधा-तलम्**=अधोलोक; **अर्धेन**=आधे से, **एव**=निश्चय ही, **प्रतपति**=तप्त करता है; **अर्धेन**=आधे से; **अवच्छादयति**=अँधेरे से ढके रहता है, अंधेरा करता है, **तदा**=उस समय, **हि**=निश्चय ही, **भगवत्-उपासना**=श्रीभगवान् की उपासना द्वारा, **उपचित्**=उन्हे पूरी तरह प्रसन्न करके, **अति-पुरुष**=परम पुरुष, **प्रभावः**=प्रभाव, **तत्**=वह, **अनभिनन्दन्**=बिना प्रशसा किये, **समजवेन**=समान बलशाली के द्वारा, **रथेन**=रथ पर, **ज्योतिः-मयेन**=ज्योतिर्मय, प्रकाशवान्; **रजनीम्**=रात्रि, **अपि**=भी, **दिनम्**=दिन, **करिष्यामि**=बना दूँगा, **इति**=इस प्रकार; **सप्तकृत**=सात बार, **वस्तरणिम्**=सूर्य की कक्ष्या का अनुगमन करते हुए, **अनुपर्यक्रामत्**=परिक्रमा करते हुए, **द्वितीयः**=दूसरा; **इव**=सदृश; **पतंगः**=सूर्य।

अनुवाद

इस प्रकार सुचारु रूप से राज्य करते हुए राजा प्रियव्रत एक बार परम बलशाली सूर्यदेव की परिक्रमा से असन्तुष्ट हो गये। सूर्यदेव अपने रथ पर आरूढ होकर सुमेरु पर्वत की परिक्रमा करते हुए समस्त लोकों को प्रकाशित करते है, किन्तु जब सूर्य उत्तरायण रहता है तो दक्षिण भाग को कम प्रकाश मिलता है और जब सूर्य दक्षिणायन होता है तो उत्तर को कम प्रकाश मिलता है। राजा प्रियव्रत को यह स्थिति नहीं भायी इसलिए उन्होंने संकल्प किया कि जहाँ रात्रि है वहाँ वे दिन कर

देंगे। उन्होंने एक प्रकाशमान रथ पर चढ़कर सूर्यदेव की कक्ष्या का पीछा करके अपनी इच्छा पूर्ण की। वे ऐसे विस्मयजनक कार्यकलाप इसीलिए कर पाये क्योंकि उन्होने श्रीभगवान् की उपासना के द्वारा शौर्य अर्जित किया था।

तात्पर्य

बँगला मे एक कहावत है कि वह इतना बलवान है कि चाहे तो रात को दिन और दिन को रात कर दे। यह कहावत प्रियव्रत के शौर्य के कारण ही प्रचलित है। उनके कार्यों से यह पता चलता है कि श्रीभगवान् की उपासना से वे कितने शक्तिशाली हो गये थे। भगवान् श्रीकृष्ण को योगेश्वर अर्थात् समस्त शक्तियो का स्वामी कहा गया है। भगवद्गीता मे (१८ ७८) कहा गया है कि जहाँ जहाँ योगेश्वर रहते है वहाँ वहाँ विजय, धन तथा ऐश्वर्य रहते है (**यत्र योगेश्वरः कृष्णः**)। भक्ति इतनी वलशाली होती है। जव भक्त की मनोकामना पूर्ण होती है तो वह उसकी शक्ति से नही वरन् शक्ति के स्वामी (योगेश्वर कृष्ण) के अनुग्रह से होती है। उनके अनुग्रह से भक्त को ऐसी आश्चर्यजनक वस्तुएँ प्राप्त हो सकती है जिनकी बड़े से बड़े वैज्ञानिक कल्पना तक नही कर सकते।

इस श्लोक के वर्णन से ऐसा लगता है कि सूर्य चलता है। आधुनिक ज्योतिर्विदो के अनुसार सूर्य स्थिर है और सौर मण्डल से घिरा हुआ है, किन्तु यहाँ हम पाते है कि सूर्य स्थिर नही है, वह अपनी नियत कक्ष्या मे चक्कर लगा रहा है। इस कथन की पुष्टि ब्रह्मसहिता (५ ५२) से होती है—**यस्याज्ञया भ्रमति संभृत-काल-चक्रः**—सूर्य श्रीभगवान् की आज्ञा के अनुसार स्थिर कक्ष्या मे घूमता है। वैदिक साहित्य के नक्षत्र-विज्ञान अथवा ज्योतिर्वेद के अनुसार सूर्य छ. मास तक सुमेरु पर्वत के उत्तर में और छ. मास दक्षिण मे घूमता रहता है। इस ग्रह (पृथ्वी) मे यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि जब उत्तर मे ग्रीष्म ऋतु होती है तो दक्षिण मे शीत ऋतु रहती है। इसी प्रकार इसके विपरीत भी होता है। कभी-कभी आधुनिक विज्ञानी दावा करते है कि उन्होने सूर्य के सारे अवयवो का पता लगा लिया है, किन्तु फिर भी वे प्रियव्रत के समान दूसरा सूर्य प्रदान नही कर सके।

यद्यपि प्रियव्रत ने सूर्य के समान तेजस्वी रथ का आविष्कार कर लिया था, किन्तु उनकी इच्छा सूर्यदेव से प्रतिस्पर्धा करने की नही थी क्योकि एक वैष्णव दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न नही करता। उनका उद्देश्य अधिकाधिक भौतिक लाभ प्रदान करना था। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती की टिप्पणी है कि महाराज प्रियव्रत के तेजस्वी सूर्य की किरणे अप्रैल तथा मई के महीनो मे चन्द्रमा के समान भाने वाली थी जवकि अक्टूबर तथा नवम्बर मे प्रात. तथा सायकाल इस सूर्य से सूर्य प्रकाश की अपेक्षा अधिक ताप प्राप्त होता था। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि महाराज प्रियव्रत अत्यन्त वलशाली थे और उनके कार्यो (चरित्र) से उनका शौर्य चतुर्दिक फैल गया था।

ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः ॥ ३१ ॥

ये=वे; **वा उ ह**=निश्चय ही, **तत्-रथ**=उस रथ का, **चरण**=पहियो का; **नेमि**=परिधि से, **कृत**=बने हुए, **परिखातः**=खाइयाँ (गड्ढे), **ते**=वे, **सप्त**= सात, **सिन्धवः**=सागर, **आसन्**=हो गये, **यतः**=जिसके कारण; **एव**=निश्चय ही, **कृताः**=बने हुये, **सप्त**=सात, **भुवः**=भूमण्डल के, **द्वीपाः**=द्वीप।

अनुवाद

जब प्रियव्रत ने अपना रथ सूर्य के पीछे हाँका, तो उनके रथ के पहियों की परिधि से जो चिह्न बन गये वे ही बाद में सात समुद्र हो गये और भूमण्डल सात द्वीपो में विभाजित हो गया।

तात्पर्य

कभी-कभी अन्तरिक्ष लोको को द्वीप कहा जाता है। हम सागरो मे विभिन्न प्रकार के द्वीपो से परिचित है। इसी प्रकार से चौदह लोक भी आकाश रूपी सागर के द्वीप है। सूर्य के पीछे रथ हाँकते हुए प्रियव्रत ने सात विभिन्न सागरो तथा लोकों की सृष्टि की जिन्हे मिलाकर भूमण्डल या भूलोक कहा जाता है। गायत्री मन्त्र मे हम ॐ **भूर् भुवः स्वः तत् सवितुर् वरेण्यम्**—का जप करते है। भूलोक के ऊपर भुवर्लोक और उससे भी ऊपर स्वर्गलोक है। इन सवो का नियन्त्रण सविता (सूर्यदेव) द्वारा किया जाता है। प्रात काल उठने के पश्चात् गायत्री मन्त्र का जाप करने से सूर्यदेव की आराधना की जाती है।

जम्बू प्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां परिमाणं पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तर उत्तरो यथासंख्यं द्विगुणमानेन बहिः समन्तत उपक्लृप्ताः ॥ ३२ ॥

जम्बू=जम्बू, **प्लक्ष**=प्लक्ष, **शाल्मलि**=शाल्मलि, **कुश**=कुश, **क्रौच**= क्रौच, **शाक**=शाक; **पुष्कर**=पुष्कर, **संज्ञा**=जाने जाते है, **तेषाम्**=उनमे से, **परिमाणम्**=परिमाप, **पूर्वस्मात् पूर्वस्मात्**=अपने से पूर्व वाले से, **उत्तरः उत्तरः**= वाद वाले, **यथा**=क्रमानुसार, **संख्यम्**=सख्या, **द्वि-गुण**=दो गुना, **मानेन**=माप से, **बहिः**=बाहर; **समन्ततः**=चारो ओर, **उपक्लृप्ताः**=उत्पन्न किया।

अनुवाद

(सात) द्वीपों के नाम है—जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौच, शाक तथा पुष्कर।

प्रत्येक द्वीप अपने से पहले वाले द्वीप से आकार में दुगुना है और एक तरल पदार्थ से घिरा है जिसके आगे दूसरा द्वीप है।

तात्पर्य

प्रत्येक लोक के सागर का तरल पदार्थ भिन्न प्रकार का है। वे किस प्रकार स्थित है, इसका विस्तृत विवरण अगले श्लोक में हुआ है।

क्षारोदेक्षुरसोदसुरोदघृतोदक्षीरोददधिमण्डोदशुद्धोदाः सप्त जलधयः सप्त द्वीपपरिखा इवाभ्यन्तर द्वीपसमाना एकैकश्येन यथानुपूर्वं सप्तस्वपि बहिर्द्वीपेषु पृथक्परित उपकल्पितास्तेषु जम्ब्वादिषु बर्हिष्मतीपतिरनुव्रताना-त्मजानाग्नीध्रेध्मजिह्वयज्ञबाहुहिरण्यरेतोघृतपृष्ठमेधातिथिवीतिहोत्रसंज्ञान् यथा संख्येनैकैकस्मिन्नेकमेवाधिपतिं विदधे ॥ ३३ ॥

क्षार=लवण, खारे, **उद्**=जल; **इक्षु-रस**=गन्ने का रस, **उद्**=जल, **सुरा**=मदिरा, **उद्**=जल, **घृत**=घी; **उद्**=जल, **क्षीर**=दुग्ध, **उद्**=जल, **दधि-मण्ड**=मट्ठा, **उद्**=जल, **शुद्ध-उदाः**=तथा पेय जल, **सप्त**=सात, **जल-धयः**=सागर, **सप्त**=सात, **द्वीप**=द्वीप, **परिखाः**=खाइयाँ, **इव**=सदृश, **अभ्यन्तर**=भीतरी, **द्वीप**=द्वीप, **समाना**=के तुल्य, **एक-एकश्येन**=एक के बाद दूसरा, **यथा-अनुपूर्वम्**=क्रमानुसार; **सप्तसु**=सात, **अपि**=यद्यपि, **बहिः**=बाह्य, **द्वीपेषु**=द्वीपो मे, **पृथक्**=अलग, **परितः**=चारो ओर, **उपकल्पिताः**=स्थित, **तेषु**=उनमें से, **जम्बू-आदिषु**=जम्बूद्वीप तथा अन्य द्वीप, **बर्हिष्मती**=बर्हिष्मती का, **पतिः**=पति, **अनुव्रतान्**=जो पिता के नियमो के पालन करने वाले थे, **आत्म-जान्**=पुत्रों को, **आग्नीध्र-इध्मजिह्व-यज्ञबाहु-हिरण्यरेतः-घृतपृष्ठ-मेधातिथि-वीतिहोत्र-संज्ञान्**=आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि, वीतिहोत्र नाम वाले; **यथा-संख्येन**=क्रमानुसार; **एक-एकस्मिन्**=प्रत्येक द्वीप मे, **एकम्**=एक, **एव**=निश्चय ही; **अधि-पतिम्**=राजा, **विदधे**=बना दिया।

अनुवाद

ये सातों समुद्र क्रमशः खारे जल, ईख के रस, सुरा, घृत, दुग्ध, मट्ठा तथा मीठे पेय जल से पूर्ण है। सभी द्वीप इन सागरों से पूर्णतया घिरे है और प्रत्येक समुद्र घिरे हुए द्वीप से दुगुना चौड़ा है। रानी बर्हिष्मती के पति, महाराज प्रियव्रत ने इन द्वीपो का एकक्षत्र राज्य अपने पुत्रों को दे दिया जिनके नाम क्रमशः आग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि तथा वीतिहोत्र थे। इस प्रकार अपने पिता के आदेश से ये सभी राजा बन गए।

तात्पर्य

यहाँ यह समझने की बात है कि प्रत्येक द्वीप भिन्न प्रकार के सागर से घिरा है और प्रत्येक सागर की चौडाई इससे घिरे द्वीप की दुगुनी है। किन्तु सागरो की लम्बाई द्वीपो की लम्बाई के तुल्य नही हो सकती। वीर राघव आचार्य के अनुसार प्रथम द्वीप की चौडाई एक लाख योजन है, एक योजन आठ मील के वरावर होता है अतः प्रथम द्वीप की चौडाई आठ लाख मील हुई। इस द्वीप को घेरने वाले जल की चौडाई भले ही इतनी ही हो, किन्तु उसकी लम्वाई को भिन्न होना चाहिए।

दुहितरं चोर्जस्वतीं नामोशनसे प्रायच्छद्यस्यामासीद् देवयानी नाम काव्यसुता ॥ ३४ ॥

दुहितरम्=पुत्री, **च**=भी, **ऊर्जस्वतीम्**=ऊर्जस्वती, **नाम**=नामक, **उशनसे**=महर्षि उशना (शुक्राचार्य) को, **प्रायच्छत्**=दे दिया, **यस्याम्**=जिससे; **आसीत्**=थी (उत्पन्न हुई), **देवयानी**=देवयानी; **नाम**=नामक, **काव्य-सुता**=शुक्राचार्य की पुत्री।

अनुवाद

उसके बाद राजा प्रियव्रत ने अपनी पुत्री ऊर्जस्वती का विवाह शुक्राचार्य से कर दिया, जिसके गर्भ से देवयानी नामक पुत्री उत्पन्न हुई।

नैवंविधः पुरुषकार उरुक्रमस्य
पुंसां तदङ्घ्रिरजसा जितषड्गुणानाम्।
चित्रं विदूरविगतः सकृदाददीत
यन्नामधेयमधुना स जहाति बन्धम् ॥३५॥

न=नही, **एवम्-विधः**=इस प्रकार, **पुरुष-कारः**=अपना प्रभाव, **उरु-क्रमस्य**=श्रीभगवान् का, **पुंसाम्**=भक्तो का; **तत-अंघ्रि**=उनके चरणारविन्द की; **रजसा**=धूलि से, **जित-षट्-गुणानाम्**=जिन्होने छ प्रकार के विकारो को जीत लिया है, **चित्रम्**=विस्मयजनक, **विदूर-विगतः**=अस्पृश्य, पचम वर्ण का व्यक्ति; **सकृत्**=एक बार, **आददीत**=यदि उच्चारण करे तो, **यत्**=जिसका, **नामधेयम्**=पवित्र नाम, **अधुना**=तुरन्त, **सः**=वह, **जहाति**=त्याग देता है, **बन्धम्**=भौतिक वन्धन।

अनुवाद

हे राजन् ! जिस भक्त ने भगवान् के चरणारविन्दों की धूलि में शरण ली है वह षड विकारो—अर्थात् भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा तथा मृत्यु के प्रभाव तथा मन समेत छहों इन्द्रियों को जीत सकता है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त के लिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं क्योंकि चारो वर्णो से बाहर का अस्पृश्य पुरुष भी भगवान् के नाम का एक बार स्मरण कर लेने मात्र से भौतिक बन्धनो से तुरन्त छूट जाता है।

तात्पर्य

शुकदेव गोस्वामी महाराज परीक्षित से राजा प्रियव्रत के चरित्र का उल्लेख कर रहे थे और चूँकि राजा को असामान्य चरित्र के प्रति सन्देह हुआ होगा इसलिए उन्होने यह कह कर उन्हे फिर के विश्वास दिलाया कि हे राजन् ! प्रियव्रत के चरित्र पर सन्देह मत करो। श्रीभगवान् के भक्त के लिए सव कुछ सम्भव है क्योकि ईश्वर को "उरुक्रम" कहा गया है। उरुक्रम वामनदेव का नाम है, जिन्होने अपने तीन पगो से सारी पृथ्वी नाप ली थी। उन्होने महाराज बलि से तीन पग भूमि माँगी और जव वे राजी हो गये तो उन्होने सम्पूर्ण जगत को अपने दो पगो मे नाप लिया और तीसरा पग महाराज बलि के सिर पर रख दिया। श्री जयदेव गोस्वामी कहते है—

छलयसि विक्रमणे बलिम् अद्भुत-वामन
पद-नख-नीर-जनित-जन-पावन
केशव धृत-वामन-रूप जय जगदीश हरे।

"भगवान् केशव की जय हो, जिन्होने वामन रूप धारण किया। हे ब्रह्माण्ड के स्वामी ! वह कौन है जो भक्तो के अमगल को हर लेता है ? हे अद्भुत वामनदेव ! आपने अपने पगो से महान असुर बलि महाराज को छला। जब आपने अपने चरणकमल भूमण्डल मे गडा दिए तो उस समय आपके नखो मे जो जल लग गया वह गगा नदी के रूप मे समस्त जीवात्माओ को पवित्र करता है।"

चूंकि श्रीभगवान् सर्वशक्तिमान है, अत वे ऐसे कार्य कर सकते है जो सामान्य व्यक्ति को अद्भुत लगे। इसी प्रकार से भगवान् के चरणारविन्द की शरण लेने वाला भक्त चरण-रज के प्रभाव से एक से एक अद्भुत कार्य कर सकता है जो सामान्य मनुष्य के लिए अकल्पनीय है। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु हमे भगवान् के चरणकमलो की शरण ग्रहण करने का उपदेश देते है—

अयि नन्द-तनुज किकरं
पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ।

कृपया तव पाद-पंकज-
स्थित-धूलि-सदृशं विचिन्तय ।।

"हे नद महाराज के पुत्र ! मै आपका चिरन्तन दास हूँ फिर भी मै न जाने किस तरह इस जन्म-मरण के सागर मे गिर गया हूँ। कृपया मुझे इस सागर से उठाकर अपने चरणकमल की धूलि (कण) बना ले।" भगवान् चैतन्य हमे भगवान् के चरण-कमलो की धूलि के सम्पर्क मे आने की शिक्षा देते है क्योकि तव हमे सभी प्रकार की सफलता मिल जायेगी।

भौतिक देह के कारण प्रत्येक जीवात्मा इस जगत मे भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा तथा मृत्यु इन षड् विकारो से सदैव विक्षुब्ध रहता है। अन्य षड् विकार है—मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। पवित्र भक्त की क्या, अस्पृश्य चण्डाल तक ईश्वर का एक बार भी स्मरण करने पर भव-बन्धन से तुरन्त मुक्त हो जाता है। कभी-कभी ब्राह्मण जाति के लोग यह तर्क करते है कि जब तक देह न बदल जाये कोई किस प्रकार ब्राह्मण हो सकता है क्योकि यह देह पूर्व कर्मो के फलस्वरूप प्राप्त हुई है, अत. जो पूर्व जन्म मे ब्राह्मण का आचरण कर चुका है वही ब्राह्मण परिवार मे देह धारण कर सकता है। अत उनका अभिमत है कि बिना ब्राह्मण देह के किसी को ब्राह्मण नही स्वीकार किया जा सकता। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि **विदूरविगत** भी, जो पचम अस्पृश्य जाति का चाण्डाल होता है, भगवान् का एक वार भी नाम लेने पर मुक्त हो जाता है। मुक्त होने का अर्थ है तुरन्त ही उसका शरीर वदल जाता है। इसकी पुष्टि सनातन गोस्वामी ने की है—

यथा कांचनतां याति कांस्यं रसविधानतः ।
तथा दीक्षाविधानेन द्विजत्वं जायते नृणाम् ।।

जव कोई व्यक्ति, भले ही वह चडाल क्यो न हो, शुद्ध भक्त द्वारा भगवान् के पवित्र नाम का जप करने की दीक्षा पाता है तो उसका शरीर बदल जाता है क्योकि वह अपने गुरु के उपदेशो का पालन करता है। यद्यपि कोई यह नही देख पाता कि शरीर किस प्रकार वदला, किन्तु हमे शास्त्रो के वचनो को प्रामाणिक मानकर ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए। ऐसा बिना तर्क किये समझना चाहिए। इस श्लोक मे स्पष्ट कथन है—**स जहाति बन्धनम्**—"वह अपने भौतिक बन्धन त्याग देता है।" यह देह मनुष्य के कर्म के अनुसार भौतिक वन्धन का प्रतीक है। यद्यपि हमे कभी-कभी स्थूल देह वदलता हुआ नही दिखता, किन्तु परमेश्वर के नाम जप से सूक्ष्म शरीर तुरन्त वदल जाता है और चूंकि सूक्ष्म शरीर वदलता है इसलिए जीवात्मा तुरन्त भौतिक वन्धन से मुक्त हो जाता है। अन्तत स्थूल देह मे होने वाले परिवर्तन स्थूल देह द्वारा ही सचालित होते है। इस स्थूल शरीर के विनष्ट हो जाने पर सूक्ष्म देह जीवात्मा को दूसरे स्थूल देह मे ले जाता है। सूक्ष्म शरीर मे मन प्रधान होता

है, अत. यदि किसी का मन ईश्वर के चरणारविन्द में अथवा कार्यो के स्मरण में आसक्त रहता है तो यह समझना चाहिए कि उसने वर्तमान देह को पहले ही बदल दिया है और पवित्र हो चुका है । अत. यह अकाट्य है कि प्रामाणिक दीक्षा के द्वारा चण्डाल भी ब्राह्मण बन सकता है ।

स एवमपरिमितबलपराक्रम एकदा तु देवर्षिचरणानुशयनानुपतितगुण-विसर्गसंसर्गेणानिर्वृतमिवात्मानं मन्यमान आत्मनिर्वेद इदमाह ॥३६॥

स·=वह (महाराज प्रियव्रत), **एवम्**=इस प्रकार, **अपरिमित**=अद्वितीय, **बल**=शक्ति, **पराक्रम.**=जिसका प्रभाव; **एकदा**=एक बार; **तु**=तब, **देव-ऋषि**=महामुनि नारद का, **चरण-अनुशयन**=चरण-कमलो मे समर्पण, **अनु**=तत्पश्चात्; **पतित**=गिरा हुआ, **गुण-विसर्ग**=विषयो के (तीन गुणो से उत्पन्न), **संसर्गेण**=सम्पर्क होने से, **अनिर्वृतम्**=असतुष्ट, **इव**=सदृश, **आत्मानम्**=अपने आपको, **मन्यमानः**=इस प्रकार सोचते हुए, **आत्म**=स्वय, **निर्वेदः**=त्यागमय, **इदम्**=यह, **आह**=कहा ।

अनुवाद

इस प्रकार अपने पूर्ण पराक्रम तथा प्रभाव से भौतिक ऐश्वर्य का भोग करते हुए महाराज प्रियव्रत एक बार यह सोचने लगे कि यद्यपि मै महामुनि के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुका था और श्रीकृष्णभावना के मार्ग पर था, किन्तु मै अब न जाने क्यो फिर से कर्मो के बन्धन मे फँस गया हूँ । इस प्रकार उनका मन अशान्त हो उठा । वह विरक्त होकर बोलने लगे ।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत मे (१ ५ १७) कहा गया है—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

"जिसने ईश्वर की सेवा करने का अपना कर्म छोड दिया है वह अपरिपक्व अवस्था के कारण कभी-कभी गिर सकता है, किन्तु तो भी उसके असफल होने का कोई डर नही रहता । दूसरी ओर यदि कोई अभक्त अपने व्यावसायिक कर्तव्यो मे पूरी तरह सलग्न रहे तो भी उसे कुछ नही प्राप्त होता ।" यदि कोई किसी तरह किसी महान वैष्णव की शरण मे जाता है और भावनावश या बोध होने के कारण श्रीकृष्णभावना स्वीकार करता है, किन्तु कालान्तर मे अपरिपक्व बोध के कारण यदि नीचे गिर जाता है वह वास्तव मे गिरा हुआ नही कहा जाता क्योकि श्रीकृष्णभावना मे लगे

रहना एक प्रकार से स्थायी सम्पत्ति है। अत. यदि कोई नीचे गिरता है भी तो कुछ काल के लिए उसकी उन्नति रुक जाती है, किन्तु उपयुक्त अवसर आने पर वह अवश्य दिखाई पडेगी। यद्यपि महाराज प्रियव्रत नारद मुनि के उपदेशो के अनुसार भगवान् के धाम वापस जाने के लिए सेवा कर रहे थे, किन्तु अपने पिता की प्रार्थना पर वे भौतिक विषयो मे पुन. लौट आये। कालान्तर मे उनमे अपने गुरु नारद के अनुग्रह श्रीकृष्ण की सेवा करने की भावना पुन. जगी।

जैसा कि भगवद्गीता मे (६ ४१) कहा गया है—**शुचीनां श्रीमतां गेहे योग-भ्रष्टोऽभिजायते**—भक्तियोग से च्युत पुरुष को पुन. देवताओ का ऐश्वर्य प्राप्त होता है और उसका उपभोग कर लेने के पश्चात् उसे शुद्ध ब्राह्मण अथवा धनी परिवार मे जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है जिससे वह अपनी कृष्णभक्ति को पुन जाग्रत कर सके। प्रियव्रत के जीवन में ऐसा ही हुआ। इस सत्य के वे ज्वलन्त प्रमाण है। कालक्रम से जव उन्हे अपनी सम्पत्ति, पत्नी, राज्य तथा पुत्रो की कामना नही रह गई तो उन्होने सबको त्याग देना चाहा। अतः इस श्लोक मे शुकदेव गोस्वामी महाराज प्रियव्रत के ऐश्वर्य का वर्णन कर चुकने के वाद उनकी विराग-प्रवृत्ति को वताते है।

देवर्षि-चरणानुशयन शब्दो से यह सूचित होता है कि महाराज प्रियव्रत पूर्णतया देवर्षि नारद की शरण मे जाकर उनके निर्देश से भक्ति की समस्त क्रियाओ तथा अनुष्ठानो का कठोरता से पालन कर रहे थे। जहाँ तक अनुष्ठानो के दृढतापूर्वक पालन का प्रश्न है, उसके सम्वन्ध मे श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर का कथन है—**दण्डवत्-प्रणामास् तान अनुपतितः**—गुरु को तुरन्त दण्डवत् प्रणाम करने तथा उसके आदेशो का पालन करने से विद्यार्थी सिद्ध हो जाता है। महाराज प्रियव्रत ये सारे कार्य नियमित रूप से कर रहे थे।

जव तक मनुष्य इस ससार मे है वह तीन गुणो (गुण-विसर्ग) के वशीभूत रहता है। ऐसा नही है कि ऐश्वर्यवान होने के कारण प्रियव्रत भौतिक प्रभाव से मुक्त थे। इस ससार मे अत्यन्त निर्धन पुरुष तथा अत्यन्त धनी पुरुष दोनो ही भौतिकता के वश मे रहते है क्योकि वैभव तथा दरिद्रता दोनो ही भौतिक गुणो से उद्भूत है। जैसा कि भगवद्गीता मे (३ २७) कहा गया है—**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः**—प्रकृति के गुणो के कारण हम कर्म करते है और प्रकृति हमे भौतिक भोग की सुविधा प्रदान करती है।

अहो असाध्वनुष्ठितं यदभिनिवेशितोऽहमिन्द्रियैरविद्यारचितविषमविषयान्ध-कूपे तदलमलममुष्या वनिताया विनोदमृगं मां धिग्धिगिति गर्हयाञ्चकार ॥३७॥

अहो =ओह !; **असाधु**=अच्छा नही, **अनुष्ठितम्**=हुआ; **यत्**=क्योंकि; **अभिनिवेशितः**=पूर्णतया निमग्न; **अहम्**=मै, **इन्द्रियैः**=इन्द्रिय-भोग के लिए, **अविद्या**=अज्ञान से, **रचित**=बनाया हुआ; **विषम**=दुखदायी; **विषय**=इन्द्रिय-भोग; **अंध-कूपे**=अँधेरे कुएँ में; **तत्**=वह, **अलम्**=तुच्छ, **अलम्**=महत्वहीन या अधम का, **अमुष्याः**=उस, **वनितायाः**=पत्नी का, **विनोद-मृगम्**=नाचते हुए बन्दर की तरह, **माम्**=मुझको, **धिक्**=धिक्कार है, **धिक्**=धिक्कार है, **इति**=इस प्रकार; **गर्हयाम्**=आलोचना, **चकार**=की।

अनुवाद

राजा ने अपनी भर्त्सना इस प्रकार की—ओह ! अपने इन्द्रिय-भोग के कारण कितना धिक्कारा जाने योग्य हूँ। मै अब भौतिक सुख के अंधकूप में गिर गया हूँ। बहुत हुआ ! अब मुझे और भोग नहीं चाहिए। तनिक मेरी ओर देखो—मैं अपनी पत्नी के हाथों में नाचने वाला बन्दर बन गया हूँ। इसलिए मुझे धिक्कार है।

तात्पर्य

महाराज प्रियव्रत के आचरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भौतिक ज्ञान की उन्नति कितनी निन्दनीय है। उन्होने एक दूसरा सूर्य उत्पन्न करने जैसा अद्भुत कार्य किया जो सूर्य की तरह प्रकाशमान था। उन्होने ऐसा विशाल रथ तैयार कराया था जिसके पहियो की रगड़ से विशाल समुद्र बन गये थे। ये कार्य इतने महान है कि आज का वैज्ञानिक यह कल्पना भी नही कर सकता कि ऐसे कार्य किस प्रकार सम्पन्न होते होगे। महाराज प्रियव्रत ने अत्यन्त अद्भुत कार्य किये, किन्तु चूँकि वह इन्द्रियभोग अर्थात् राज्य का शासन तथा सुन्दर पत्नी के इशारो पर नाच रहे थे, इसलिए उन्होने अपने आपको धिक्कारा। जब हम महाराज प्रियव्रत के इस उदाहरण पर विचार करते है तो हमे पता चलता है कि आधुनिक सभ्यता कितनी पतित है। आधुनिक तथाकथित वैज्ञानिक तथा अन्य भौतिकवादी यह सोच-सोच कर परम सतुष्ट है कि वे बड़े-बड़े पुल, सडके तथा मशीने बना सकते है, किन्तु महाराज प्रियव्रत की तुलना मे ये सारे कार्य नगण्य है। यदि इतने अद्भुत कार्यो के बावजूद महाराज प्रियव्रत अपने को धिक्कार सकते थे तो हम भौतिक सभ्यता की दौड़ मे कितने अधम और निन्दनीय है ! इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि इस भौतिक जगत मे फँसी हुई जीवात्माओ को ऐसी उन्नति से कोई सरोकार नही है। दुर्भाग्यवश आज का मनुष्य यह नही समझ पाता कि वह कितना बन्धन-ग्रस्त और कितना पतित है, न ही वह यह समझ सकता है कि अगले जन्म में उसे किस प्रकार का शरीर धारण करना होगा। महान राज्य, सुन्दर पत्नी तथा अद्भुत कार्यकलाप—ये सभी आत्मसिद्धि मे बाधक है। महाराज प्रियव्रत ने अत्यन्त

निष्ठा के साथ महामुनि नारद की सेवा की थी, अत. भौतिक ऐश्वर्य स्वीकार कर लेने पर भी वे कर्म से विचलित नही हुए। वे पुनः कृष्णभक्त बन गये। जैसा कि भगवद्गीता मे (२ ४०) पुष्टि की गई है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

"कृष्णभावना के लिए जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता है और न ह्रास। इस पथ में की गई थोडी भी सेवा वडे से बड़े भय से बचाने के लिए पर्याप्त है।" महाराज प्रियव्रत जैसा सन्यास श्रीभगवान् के अनुग्रह से ही सम्भव है। सामान्यत: जब मनुष्य शक्तिमान होते है या उनके सुन्दर पत्नी, सुन्दर घर तथा भौतिक ऐश्वर्य होता है तो वे अधिकाधिक फँसते जाते है। किन्तु महाराज प्रियव्रत ने नारद से शिक्षा प्राप्त की थी इसलिए तमाम वाधाओ के होते हुए भी वे कृष्णभक्ति (भावना) को पुनरुज्जीवित कर सके।

परदेवताप्रसादाधिगतात्मप्रत्यवमर्शेनानुप्रवृत्तेभ्यः पुत्रेभ्य इमां यथादायं विभज्य भुक्तभोगां च महिषीं मृतकमिव सहमहाविभूतिमपहाय स्वयं निहितनिर्वेदो हृदि गृहीतहरिविहारानुभावो भगवतो नारदस्य पदवीं पुनरेवानुससार ॥३८॥

पर-देवता=श्रीभगवान् के, **प्रसाद**=अनुग्रह से, **अधिगत**=प्राप्त किया, **आत्म-प्रत्यवमर्शेन**=आत्मसाक्षात्कार से, **अनुप्रवृत्तेभ्यः**=जो उसके पथ का सही-सही अनुसरण करता है, **पुत्रेभ्यः**=अपने पुत्रो को, **इमम्**=यह पृथ्वी, **यथा-दायम्**=उत्तराधिकार के अनुसार, **विभज्य**=बाँटकर, **भुक्त-भोगान्**=जिसका भोग अनेक प्रकार से किया, **च**=भी, **महिषीम्**=रानी, **मृतकम् इव**=मृत शरीर की भाँति; **सह**=सहित, **महा-विभूतिम्**=परम ऐश्वर्य, **अपहाय**=त्याग कर; **स्वयम्**=स्वयं, **निहित**=में लिप्त, **निर्वेद.**=सन्यास, **हृदि**=हृदय मे, **गृहीत**=स्वीकार किया हुआ, **हरि**=श्रीभगवान् का, **विहार**=लीलाएँ, **अनुभावः**=ऐसे भाव मे; **भगवत.**=परम साधु पुरुष का, **नारदस्य**=नारद मुनि का, **पदवीम्**=पद, **पुनः**=फिर, **एव**=निश्चय ही, **अनुससार**=अनुसरण करने लगा।

अनुवाद

श्रीभगवान् के अनुग्रह से महाराज प्रियव्रत का विवेक पुनः जाग्रत हो उठा। उन्होने अपनी सारी सम्पत्ति अपने आज्ञाकारी पुत्रों में बाँट दी। जिसके साथ

इन्द्रियसुख लूटा था, उसे और प्रभूत ऐश्वर्यशाली राज्य सहित सब कुछ त्याग कर वह सभी प्रकार की आसक्ति से रहित हो गये। विमल हो जाने से उनका हृदय श्रीभगवान् की लीलाओं का स्थल बन गया। इस प्रकार वे कृष्णभावना के पथ पर पुनः लौट आये और महामुनि नारद के अनुग्रह से जिस पद की प्राप्ति की थी उसको फिर से धारण किया।

तात्पर्य

अपने "शिक्षाष्टक" में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने बताया है कि—**चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं**—हृदय के स्वच्छ होते ही ससार की प्रज्ज्वलित अग्नि तुरन्त शमित हो जाती है। हमारा हृदय श्रीभगवान् की लीलाओं के लिए है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसा भगवान् ने स्वय उपदेश दिया है (**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु**) मनुष्य को चाहिए कि वह श्रीकृष्ण का चिन्तन करे। यही हमारा कर्तव्य है। जिस पुरुष का हृदय स्वच्छ नही होता वह श्रीभगवान् की दिव्य लीलाओ के सम्वन्ध मे सोच भी नही पाता, किन्तु यदि वह श्रीभगवान् का फिर से ध्यान धरे तो सासारिक आसक्ति से सरलतापूर्वक विरक्त हो सकता है। मायावादी दार्शनिक, योगी तथा ज्ञानी इस भौतिक ससार को केवल यह कह कर कि **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या**—अर्थात् यह ससार असत्य है, वृथा है, अतः हमे ब्रह्म को ग्रहण करना चाहिए—इस ससार को त्यागने का प्रयत्न करते है। इस प्रकार का कोरा सिद्धान्त लाभप्रद नही होगा। यदि हमे यह विश्वास हो कि ब्रह्म ही वास्तविक सत्य है तो हमे अपने हृदयो मे श्रीकृष्ण के चरणकमलो को धारण करना चाहिए जैसा कि महाराज अम्वरीष ने किया (**स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः**)। मनुष्य को अपने हृदय में ईश्वर के चरणारविन्द धारण करने होते है तभी उसे सासारिक बन्धनो से मुक्त होने की शक्ति प्राप्त होती है।

महाराज प्रियव्रत ने अपना ऐश्वर्यशाली साम्राज्य तथा अपनी सुन्दर पत्नी को मृतक तुल्य मान कर छोड दिया। किसी की पत्नी कितनी ही सुन्दर तथा आकर्षक क्यो न हो, किन्तु मृत होने पर उसके प्रति कोई मोह नही रह जाता। हम सुन्दर स्त्री की प्रशसा उसके शरीर के कारण करते है, किन्तु वह शरीर आत्मा के निकल जाने पर किसी कामी पुरुप को आकर्षक नही लगता। महाराज प्रियव्रत भगवत् अनुग्रह से इतने वलवान थे कि उन्होने अपनी जीवित पत्नी को मृतक तुल्य छोड दिया। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

न धनं न जनं न सुन्दरी कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

"हे सर्वशक्तिमान ! न तो मुझे धन सग्रह करने की कामना है, न सुन्दर स्त्रियो की, न ही मुझे अनुयायियों की आवश्यकता है। मै तो जन्म-जन्मान्तर आपकी अहैतुकी

भक्ति की कामना करता हूँ।" जो आत्म-जीवन मे अग्रसर होना चाहता है उसके मार्ग मे ऐश्वर्य तथा सुन्दर पत्नी के प्रति आसक्ति ये दो बडी बाधाएँ है। ऐसी आसक्ति आत्महत्या से भी अधिक निन्दनीय है। अत. जो भी इस भौतिक अज्ञानता को लाँघना चाहता है उसे स्त्री तथा सम्पत्ति की आसक्ति से मुक्त हो लेना चाहिए। इन आसक्तियो से विमुक्त होने के बाद ही महाराज प्रियव्रत महामुनि नारद द्वारा उपदेश दिए गए नियमो का पालन कर सके।

तस्य ह वा एते श्लोकाः—

प्रियव्रतकृतं कर्म को नु कुर्याद्विनेश्वरम्।
यो नेमिनिम्नैरकरोच्छायां घ्नन् सप्त वारिधीन् ॥३९॥

तस्य=उसका, **हवा**=निश्चय ही; **एते**=ये सब, **श्लोका:**=श्लोक, **प्रियव्रत**=राजा प्रियव्रत द्वारा; **कृतम्**=किये हुए, **कर्म**=कर्म; **क:**=कौन, **नु**=तब; **कुर्यात्**=कर सकता है; **विना**=बिना; **ईश्वरम्**=श्रीभगवान्; **य:**=जो, **नेमि**=अपने रथ के पहियों की परिधि के, **निम्नैः**=गड्ढो से, खाँचो से, **अकरोत**=कर दिया, **छायाम्**=अंधकार; **घ्नन्**=दूर करते हुए, **सप्त**=सात, **वारिधीन्**=समुद्र।

अनुवाद

महाराज प्रियव्रत के कर्मो से सम्बन्धित अनेक श्लोक प्रसिद्ध है—

"जो कुछ महाराज प्रियव्रत ने किया उसे श्रीभगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई नही कर सकता। उन्होंने रात्रि के अंधकार को दूर किया और अपने रथ के पहियों की परिधि से सात समुद्र बना दिए।"

तात्पर्य

महाराज प्रियव्रत के कार्यो के सम्बन्ध में ससार भर मे अनेक उत्तम श्लोक प्रचलित है। वे इतने विख्यात थे कि उनके कार्यो की तुलना श्रीभगवान् के कार्यों से की जाती है। कभी-कभी ईश्वर का परमनिष्ठ दास तथा भक्त भी भगवान् कहलाता है। श्रीनारद को भगवान् कहा जाता है और कभी-कभी शिव तथा व्यासदेव भी भगवान् कहे जाते है। कभी-कभी ईश्वर के अनुग्रह से शुद्ध भक्त को भी भगवान् की पदवी प्रदान की जाती है जिससे वह अत्यन्त सम्मानित हो सके। महाराज प्रियव्रत ऐसे ही भक्त थे।

भूसंस्थानं कृतं येन सरिद्गिरिवनादिभिः ।
सीमा च भूतनिर्वृत्यै द्वीपे द्वीपे विभागशः ॥४०॥

भू-संस्थानम्=पृथ्वी की स्थिति, **कृतम्**=बनी; **येन**=जिसके द्वारा, **सरित्**=नदियो से, **गिरि**=पर्वतो से, **वन-आदिभिः**=वन आदि से, **सीमा**=सीमा रेखाएँ; **च**=भी, **भूत**=विभिन्न राष्ट्रो का, **निर्वृत्यै**=लडाई रोकने के लिए, **द्वीपे-द्वीपे**=विभिन्न द्वीपो मे, **विभागशः**=पृथक्-पृथक् ।

अनुवाद

"विभिन्न लोगों में पारस्परिक झगड़ों को रोकने के लिए महाराज प्रियव्रत ने नदियों, पर्वतमालाओं तथा वनों के द्वारा राज्यों की सीमाएँ निर्धारित की, जिससे कोई एक दूसरे की सम्पत्ति में घुस न सके ।"

तात्पर्य

महाराज प्रियव्रत ने विभिन्न राज्यो की सीमाएँ अकित करने का जो उदाहरण प्रस्तुत किया, वह आज भी पाला जाता है । जैसा कि यहाँ सूचित किया गया है, विभिन्न जातियो के लोग विभिन्न भागो मे रहते है, अतः उन भागो की, जिन्हे यहाँ द्वीप कहा गया है, सीमाएँ विभिन्न नदियो, वनो तथा पर्वतो द्वारा सुनिश्चित कर दी जानी चाहिए । महाराज पृथु के सम्बन्ध मे भी ऐसा ही कहा गया है । वे अपने पिता के मृत शरीर से उत्पन्न हुए थे । पृथु के पिता अत्यन्त पापी थे । इसलिए सर्वप्रथम निषाद नामक एक श्याम पुरुष उत्पन्न हुआ । निषाद जाति को वन मे रहने के लिए स्थान मिला क्योकि वे जन्म से चोर तथा उचक्के होते है । जिस प्रकार पशुओ को विभिन्न जगलो तथा पहाडियो मे रखा जाता है उसी प्रकार से मनुष्य भी पशु की भाँति वहाँ रहते है । जब तक कृष्णभावना नही जगती, कोई भी मनुष्य सभ्य जीवन नही बिता सकता क्योकि वह अपने कर्म तथा गुण-प्रभाव के कारण किसी अवस्था में रहने के लिए बाध्य है । यदि मनुष्य मेलपूर्वक तथा शाति से रहना चाहते है तो उन्हे कृष्णभावना ग्रहण करनी चाहिए क्योकि देहात्मबुद्धि से वे उच्चतम मानदण्ड को कभी भी नही प्राप्त हो सकते । महाराज प्रियव्रत ने इस भूमण्डल को अनेक द्वीपो मे इसलिए विभाजित कर दिया जिससे प्रत्येक वर्ग के लोग शान्तिपूर्वक रह सकें और एक दूसरे से झगडे नही । राष्ट्रवाद की आधुनिक सकल्पना महाराज प्रियव्रत द्वारा किये गये विभागो से ही विकसित हुई है ।

भौमं दिव्यं मानुषं च महित्वं कर्मयोगजम् ।
यश्चक्रे　निरयौपम्यं　पुरुषानुजनप्रियः ॥४१॥

भौमम्=अधोलोक के, **दिव्यम्**=स्वर्ग के, **मानुषम्**=मनुष्यो के, **च**=भी; **महित्वम्**=समस्त ऐश्वर्य; **कर्म**=कर्म द्वारा, **योग**=योग द्वारा, **जम्**=उत्पन्न; **यः**=जो, **चक्रे**=पड़ा, **निरय**=नरक से; **औपम्यम्**=उपमा अथवा समानता; **पुरुष**=श्रीभगवान् का, **अनुज**=भक्त को, **प्रियः**=अत्यन्त प्यारा।

अनुवाद

"नारद मुनि के परम अनुयायी तथा भक्त महाराज प्रियव्रत ने अपने कर्म तथा योग से प्राप्त किये गये समस्त ऐश्वर्य को, चाहे वह स्वर्गलोक, अधोलोक मानव समाज का हो, नरक तुल्य समझा।"

तात्पर्य

श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि भक्त का पद इतना अत्युत्तम होता है कि उसे किसी भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा नही रह जाती। पृथ्वी, स्वर्गलोक तथा पाताल लोक मे नाना प्रकार के ऐश्वर्य है, किन्तु भक्त यह जानता रहता है कि ये सभी भौतिक है, अत उनमे उसकी कोई रुचि नही होती है। जैसा कि भगवद्गीता में कहा गया है—**परं दृष्ट्वा निवर्तते**। कभी-कभी योगी तथा ज्ञानी स्वेच्छा से मुक्ति के लिए तप करने तथा दिव्य आनन्द का स्वाद चखने के लिए अपनी सम्पत्ति का त्याग करते है। तो भी वे नीचे गिरते है क्योकि यह भौतिक सम्पत्ति का कृत्रिम त्याग है। मनुष्य में जीवन के प्रति परिमार्जित रुचि होनी चाहिए, तभी वह भौतिक सम्पत्ति को छोड पाता है। महाराज प्रियव्रत को आत्मिक आनन्द का पूर्व अनुभव था इसीलिए उन्हे मर्त्यलोक, स्वर्गलोक या पाताललोक मे प्राप्य किसी प्रकार के भौतिक सुख के प्रति कोई रुचि नही थी।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां भक्तिवेदान्त भाष्ये पञ्चम स्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध के अन्तर्गत, "महाराज प्रियव्रत का चरित्र" शीर्षक नामक पहले अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ ॥ १ ॥

अध्याय दो

महाराज आग्नीध्र का चरित्र

इस अध्याय मे महाराज आग्नीध्र के चरित्र का वर्णन किया गया है। जब महाराज प्रियव्रत आत्म-साक्षात्कार के हेतु वन मे चले गये तो उनका पुत्र आग्नीध्र उनकी आज्ञानुसार जम्बूद्वीप का शासक बना और इसके निवासियो का पितृवत् पालन किया। एक बार महाराज आग्नीध्र को पुत्र प्राप्त करने की इच्छा हुई अतः तप करने के लिए वे मन्दराचल की गुफा मे प्रविष्ट हुए। उनकी इच्छा जानकर भगवान् ब्रह्मा ने आग्नीध्र की कुटी मे पूर्वचित्ति नामक एक स्वर्ग की कन्या भेजी। वह अत्यन्त आकर्षक वेष बनाकर स्त्रियोचित हाव-भाव सहित उनके समक्ष आई। आग्नीध्र उससे आकर्षित हो उठे। उस कन्या की गति, हावभाव, मुस्कान, मृदु वचन तथा बंकिम चितवन उन्हे आकर्षक लगी। आग्नीध्र प्रशंसा करने मे पटु थे अत. उन्होने उस स्वर्ग कन्या को मोह लिया और वह भी उनके मृदु वचनो मे आकर उन्हे पति रूप मे स्वीकार करने को तैयार हो गई। अपने धाम लौटने से पूर्व उसने अनेक वर्षो तक आग्नीध्र सहित राज-सुख भोगा। उसके गर्भ से आग्नीध्र के नौ पुत्र हुए जिनके नाम नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल थे। उसने उन्हे उनके नाम वाले क्रमशः नौ द्वीप प्रदान किये। किन्तु आग्नीध्र की इन्द्रियाँ तुष्ट नही हुई थी, अतः वे अपनी नैसर्गिक पत्नी के विषय मे सोचते रहते थे। इसलिए अगले जन्म मे वे उसी के लोक मे उत्पन्न हुए। आग्नीध्र की मृत्यु के पश्चात् उसके नवो पुत्रो ने मेरु की नौ पुत्रियो से विवाह कर लिया जिनके नाम मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा तथा देववीति थे।

श्रीशुक उवाच

एवं पितरि सम्प्रवृत्ते तदनुशासने वर्तमान आग्नीध्रो जम्बूद्वीपौकसः प्रजा औरसवद्धर्मावेक्षमाणः पर्यगोपायत् ॥ १ ॥

श्री-शुकः=श्रीशुकदेव गोस्वामी, **उवाच**=बोले, **एवम्**=इस प्रकार, **पितरि**=जब उसके पिता ने, **सम्प्रवृत्ते**=मुक्ति मार्ग ग्रहण किया, **तत्-अनुशासने**=उसकी आज्ञानुसार; **वर्तमानः**=वर्तमान, उपस्थित, **आग्नीध्रः**=राजा आग्नीध्र, **जम्बू-**

द्वीप-ओकसः=जम्बूद्वीप के वासी; **प्रजाः**=नागरिक, **औरस-वत्**=अपने पुत्रो के समान, **धर्म**=धार्मिक नियम; **अवेक्षमाणः**=कठोरता से पालन करते हुए; **पर्यागोपायत्**=पूर्णतया सुरक्षित ।

अनुवाद

श्री शुकदेव गोस्वामी बोले—अपने पिता महाराज प्रियव्रत के इस प्रकार तपस्या में संलग्न हो जाने पर राजा आग्नीध्र ने उनकी आज्ञा का पूरी तरह पालन किया और धार्मिक नियमों के अनुसार उन्होंने जम्बूद्वीप के वासियों को अपने पुत्रों के समान सुरक्षा प्रदान की ।

तात्पर्य

महाराज आग्नीध्र ने अपने पिता महाराज प्रियव्रत की आज्ञानुसार धार्मिक नियमो का पालन करते हुए जम्बूद्वीप के वासियो पर राज्य किया । वर्तमान अश्रद्धा के युग में ये नियम पूर्णतया विरोधी है । यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि राजा नागरिकों की वैसी ही देखरेख करता था जिस प्रकार पिता अपने पुत्र की करता है । यहॉ यह भी बताया गया है कि उसने नागरिको पर किस प्रकार—**धर्मावेक्षमाणः** अर्थात् धार्मिक नियमो का दृढता से पालन करते हुए राज्य किया । वैदिक धर्म के नियम वर्णाश्रम धर्म से प्रारम्भ होते है । धर्म से तात्पर्य श्रीभगवान् द्वारा प्रदत्त नियमो से है । धर्म का पहला नियम है श्रीभगवान् द्वारा निर्दिष्ट चारो आश्रमो के कर्तव्यो का पालन । व्यक्तियो के गुणो तथा कर्मो के अनुसार समाज को पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र मे और फिर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी मे विभाजित किया जाता है । ये ही धार्मिक नियम है और राज्य के मुखिया (राजा) का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि उसके नागरिक इनका दृढता से पालन करते है । उसे कोरे अधिकारी के रूप मे कर्तव्य नही करना चाहिए वरन् उसे पिता के तुल्य होना चाहिए जो अपने पुत्रो का सदैव हित-चिन्तन करता है । ऐसा पिता इसका ध्यान रखता है कि उसके पुत्र अपना कर्तव्यपालन कर रहे है और कभी-कभी वह उन्हे दड भी देता है ।

उपर्युक्त नियमो के विपरीत, कलियुग मे राष्ट्रपति तथा उनके प्रमुख कार्यकारीगण केवल कर-सग्रह करने वाले है जिन्हे इसकी तनिक भी परवाह नही रहती कि धार्मिक नियमो का पालन हो रहा है अथवा नही । सच तो यह है कि आज के प्रमुख कार्यकारी व्यक्ति सभी प्रकार के पापमय कार्यो का, विशेष रूप से व्यभिचार, मादक द्रव्य सेवन, पशुवध तथा द्यूत क्रीडा का सूत्रपात करते है। आजकल भारत मे ये पापकर्म स्पष्ट देखे जा सकते है । यद्यपि एक शताब्दी पूर्व ये चार दुर्गुण पूर्णतया वर्जित थे, किन्तु अब प्रत्येक भारतीय परिवार मे इनकी पैठ हो चुकी है, अत वे धार्मिक नियमो का पालन नही कर पाते । प्राचीन राजाओ के नियम के विपरीत आधुनिक राज्य कर वसूलने के विज्ञापन मे अधिक और नागरिको के कल्याण के प्रति कम ध्यान

देता है। अब राज्य धार्मिक नियमो के प्रति उदासीन है। श्रीमद्भागवत की भविष्य-वाणी है कि कलियुग मे शासन द्वारा दस्यु धर्म चलेगा जिसका अर्थ होता है चोरो और उचक्को द्वारा शासन। आधुनिक राज्यो के कर्णधार चोर और उचक्के ही है जो नागरिको की रक्षा करने की बजाय उनको लूटते है। यद्यपि चोर तथा उचक्के कानून की अवहेलना करके लूटपाट करते है, किन्तु इस कलियुग मे कानून बनाने वाले स्वयं नागरिको को लूटते है—ऐसा श्रीमद्भागवत मे कहा गया है। एक दूसरी भविष्यवाणी जिसे पूरा होना है, वह यह है कि नागरिको तथा शासन के पाप कर्मो से वृष्टि दुर्लभ हो जायेगी धीरे-धीरे पूर्ण अनावर्षण के कारण अन्न नही उत्पन्न होगा। लोगो को मास तथा बीज खाना पड़ेगा और अनेक सद्वृत्ति वाले मनुष्य अपने-अपने गृहो का त्याग कर देगे क्योकि अकाल, कर तथा अनावर्षण से वे अत्यधिक तंग हो उठेगे। ससार को ऐसे विनाश से बचाने के लिए श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन ही एकमात्र आशा है। यह समस्त मानव समाज के कल्याण हेतु अत्यन्त वैज्ञानिक तथा आधिकारिक आन्दोलन है।

स च कदाचित्पितृलोककामः सुरवरवनिताक्रीडाचलद्रोण्यां भगवन्तं विश्व-सृजां पतिमाभृतपरिचर्योपकरण आत्मैकाग्र्येण तपस्व्याराधयाम्बभूव ॥ २ ॥

स—वह (राजा आग्नीध्र), **च**—भी, **कदाचित्**—एक बार; **पितृलोक**—पितृलोक, **कामः**—इच्छा करते हुए; **सुर-वर**—श्रेष्ठ देवताओ मे से, **वनिता**—स्त्री जाति, **आक्रीडा**—विहार-स्थली, **अचल-द्रोण्याम्**—मन्दराचल की एक घाटी मे, **भगवन्तम्**—सर्व शक्तिमान (भगवान् ब्रह्मा) को, **विश्व-सृजाम्**—जिन विभूतियों ने इस ब्रह्माण्ड की रचना की, **पतिम्**—स्वामी, **आभृत**—सग्रह करके, **परिचर्या उपकरण:**—पूजा की सामग्री; **आत्म**—मन का, **एक-अग्र्येण**—पूरे मनोयोग से, **तपस्वी**—तप करने वाला, **आराधयाम् बभूव**—आराधना मे लग गया।

अनुवाद

एक बार महाराज आग्नीध्र ने सुयोग्य पुत्र प्राप्त करने तथा पितृलोक का वासी बनने की कामना से सृष्टि के स्वामी भगवान् ब्रह्मा की आराधना की। वे मंदराचल की घाटी में गये जहाँ स्वर्गलोक की सुन्दरियाँ विहार करने आती है। वहाँ उन्होंने वाटिका से फूल तथा अन्य आवश्यक सामग्री एकत्र की और फिर कठिन तप तथा उपासना में लग गये।

तात्पर्य

राजा **पितृलोककाम** अर्थात् पितृलोक मे जाने के इच्छुक हो गये। पितृलोक का उल्लेख भगवद्गीता मे हुआ है (**यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः**)।

इस लोक में जाने के लिए उत्तम पुत्र होने चाहिए जो भगवान् विष्णु को भेंट चढाने के पश्चात् जो कुछ बचे उसे अपने पितरो (पूर्वजो) को चढावे। श्राद्ध संस्कार का उद्देश्य श्रीभगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है जिससे उनके प्रसन्न होने के बाद जो प्रसाद बचे उसे अपने पितरों को दिया जा सके जिससे वे प्रसन्न हो। पितृलोक के वासी प्रायः कर्मकाण्डी होते है और अपने पुण्य कर्मो के कारण वहाँ भेजे गये होते है। वे वहाँ तब तक रहते है जब तक उनके वंशज उन्हे विष्णु-प्रसाद भेंट करते रहते है। किन्तु पितृलोक के प्रत्येक प्राणी को पुण्य कर्मो के क्षय होने पर इस पृथ्वी मे वापस आना पडता है। जैसा कि भगवद्गीता में (९.२१) पुष्टि की गई है—**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**—जो पुरुष पुण्यकर्म करते है वे स्वर्ग भेजे जाते है, किन्तु जब उनके पुण्य कर्मो का प्रभाव समाप्त हो जाता है तो वे पुन. पृथ्वी पर वापस भेज दिये जाते है। चूँकि महाराज प्रियव्रत परम भक्त थे अतः उनसे ऐसा पुत्र किस प्रकार उत्पन्न हुआ होगा जो पितृलोक भेजे जाने का कामी हो? भगवान् श्रीकृष्ण कहते है—**पितॄन् यान्ति पितृव्रताः**—जो व्यक्ति पितृलोक जाना चाहते है उन्हे वहाँ भेज दिया जाता है। इसी प्रकार **यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्**—जो पुरुप वैकुण्ठ लोक जाना चाहते है वे भी वहाँ जा सकते है। चूंकि महाराज आग्नीध्र एक वैष्णव-पुत्र थे, अत उन्होने वैकुण्ठ जगत जाने की कामना की होगी। तो फिर वे पितृलोक में क्यो जाना चाहते थे? इसके उत्तर मे भागवत के टीकाकार गोस्वामी गिरिधर की टिप्पणी है कि आग्नीध्र उस समय उत्पन्न हुए थे जब महाराज प्रियव्रत अत्यन्त कामासक्त थे। इसे तथ्य के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है क्योंकि गर्भावस्था के समय जैसी मनोवृत्ति होती है उसी के अनुकूल पुत्र उत्पन्न होते है। अत· वैदिक प्रणाली के अनुसार पुत्रोत्पत्ति के पूर्व **गर्भाधान संस्कार** किया जाता है। इस सस्कार से पिता की मनोवृत्ति ऐसी हो जाती है कि जब वह अपनी पत्नी के गर्भ मे वीर्य स्थापित करता है तो उससे ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है जिसका मन भक्ति से ओतप्रोत हो। किन्तु सम्प्रति ऐसे गर्भाधान-सस्कार नही है अतः जब पुरुषो मे कामवासना रहती है तभी सन्तान उत्पन्न होती है। विशेष रूप से इस कलियुग मे कोई गर्भाधान सस्कार नही रह गया, प्रत्येक व्यक्ति अपनी पत्नी के साथ कुत्तो तथा बिल्लियो जैसा सभोग करता है। अत. वैदिक आज्ञाओ के अनुसार इस युग के सभी व्यक्ति प्रायः शूद्र कोटि के है। निस्सन्देह, पितृलोक में भेजे जाने की कामना के पीछे महाराज आग्नीध्र की मनोवृत्ति शूद्र की सी नही थी; वे क्षत्रिय थे।

महाराज आग्नीध्र की इच्छा थी कि वे पितृलोक जावे इसलिए उन्हे पत्नी की आवश्यकता हुई क्योकि पितृलोक के इच्छुक पुरुष को अपने पीछे उत्तम पुत्र छोड जाना चाहिए जो प्रतिवर्ष भगवान् विष्णु के प्रसाद या पिण्ड को उसे प्रदान करता रहे। उत्तम पुत्र पाने के लिए ही महाराज आग्नीध्र ने देवकुल की पत्नी चाही थी। अत. वे ब्रह्मा के आराधन हेतु मन्दराचल गये जहाँ सामान्यतः देवो की स्त्रियाँ आती है। भगवद्गीता मे (४.१२) कहा गया है—**कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः**—जो भौतिकवादी इस ससार मे शीघ्र फल चाहते है वे देवताओ की पूजा करते है।

इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत से भी होती है—**श्रीऐश्वर्य-प्रजेप्सवः**—जो सुन्दर पत्नी, प्रचुर धन तथा अनेक पुत्रो की कामना करते है वे देवताओ को पूजते है। किन्तु बुद्धिमान भक्त तो इन सब की कामना नही करता। वह भगवान् के धाम को तुरन्त वापस जाना चाहता है। इस प्रकार वह श्रीभगवान् विष्णु की उपासना करता है।

तदुपलभ्य भगवानादिपुरुषः सदसि गायन्तीं पूर्वचित्तिं नामाप्सरसमभियापयामास ॥ ३ ॥

तत्=वह, **उपलभ्य**=समझकर, **भगवान्**=सर्वशक्तिमान, **आदि-पुरुषः**=इस ब्रह्माण्ड मे उत्पन्न पहला व्यक्ति, **सदसि**=सभा मे; **गायन्तीम्**=नर्तकी, **पूर्वचित्तिम्**=पूर्वचित्ति, **नाम**=नामक, **अप्सरसम्**=स्वर्ग की नर्तकी, अप्सरा, **अभियापयाम् आस**=नीचे भेजा।

अनुवाद

इस ब्रह्माण्ड के सर्वशक्तिमान तथा आदि पुरुष भगवान् ब्रह्मा ने राजा आग्नीध्र की अभिलाषा जानकर अपनी सभा की श्रेष्ठ अप्सरा को, जिसका नाम पूर्वचित्ति था, चुनकर राजा के पास भेजा।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **भगवान आदि-पुरुष.** शब्द महत्वपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्ण ही आदि-पुरुष है—**गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि**। भगवान् श्रीकृष्ण आदि पुरुष है। भगवद्गीता मे अर्जुन ने उन्हे **पुरुषं आद्यं** कह कर सम्वोधित किया है। वे भगवान् कहे जाते है। किन्तु इस श्लोक मे ब्रह्मा को **भगवान् आदि-पुरुषः** कहा गया है। भगवान् कहने का कारण यह है कि वे श्रीभगवान् का पूर्ण प्रतिनिधत्व करते है और इस ब्रह्माण्ड के आदि जन्मा है। भगवान् ब्रह्मा महाराज आग्नीध्र की अभिलाषा को जान गये क्योकि वे भगवान् विष्णु के समान ही शक्तिमान है। जिस प्रकार परमात्मा पद पर स्थित भगवान् विष्णु जीवात्मा की अभिलाषा को जान लेते है उसी प्रकार से भगवान् ब्रह्मा भी जान लेते है क्योकि विष्णु उन्हे सूचित करने के माध्यम है। जैसा कि श्रीमद्भागवत मे (१.१.१) कहा गया है—**तेने ब्रह्महृदाय आदिकवयेः**—भगवान् विष्णु अपने मन की प्रत्येक वात ब्रह्मा को वता देते है। चूंकि महाराज आग्नीध्र ने भगवान् ब्रह्मा की विशेष आराधना की, अत· वे उन पर परम प्रसन्न हुए और उनको सतुष्ट करने के लिए उन्होने पूर्वचित्ति अप्सरा भेज दी।

सा च तदाश्रमोपवनमतिरमणीयं विविधनिबिडविटपिविटपनिकरसंश्लिष्टपुरटलतारूढस्थलविहङ्गममिथुनैः प्रोच्यमानश्रुतिभिः प्रतिबोध्यमानसलिलकुक्कुटकारण्डवकलहंसादिभिर्विचित्रमुपकूजितामलजलाशयकमलाकरमुपबभ्राम ॥ ४ ॥

सा=वह (पूर्वचित्ति), **च**=भी, **तत्**=महराज आग्नीध्र को; **आश्रम**= ध्यान-स्थल के, **उपवनम्**=छोटा उद्यान, पार्क, **अति**=अत्यन्त, **रमणीयम्**=सुन्दर, **विविध**=अनेक प्रकार के, **निबिड**=सघन, **विटपि**=वृक्ष, **विटप**=शाखाओं का, **निकर**=समूह, **संश्लिष्ट**=सलग्न, **पुरट**=स्वर्णिम, **लता**=लताओं सहित; **आरूढ** =ऊपर चढी हुई, **स्थल-विहंगम**=स्थल के पक्षियो का, **मिथुनैः**=जोडो सहित, **प्रोच्यमान**=कूजन करते हुए, **श्रुतिभिः**=सुहावने शब्दों से; **प्रतिबोध्यमान**= प्रतिध्वनित, **सलिल-कुक्कुट**=जल-कुक्कुट, **कारण्डव**=बत्तख; **कलहंस**=अनेक प्रकार के हसो सहित, **आदिभिः**=इत्यादि, **विचित्रम्**=नाना प्रकार के, **उपकूजित** =शब्द से प्रतिध्वनित, **अमल**=निर्मल; **जल-आशय**=सरोवर या झील मे, **कमल-आकरम्**=कमल पुष्पो की खान, **उपबभ्राम**=मे चलने लगी।

अनुवाद

श्री ब्रह्मा द्वारा भेजी गई अप्सरा उस उपवन के निकट विचरने लगी जहाँ राजा ध्यान और आराधना कर रहे थे। यह उपवन सघन वृक्षो तथा स्वर्णिम लताओ के कारण अत्यन्त रमणीय था। वहाँ स्थल पर मयूर जैसे अनेक पक्षियो के जोड़े और सरोवर में बत्तख तथा हंस सुमधुर कूजन कर रहे थे। इस प्रकार वह उपवन वृक्ष, निर्मल जल, कमल पुष्प तथा कल कूजन करते विविध पक्षियों के कारण अत्यन्त सुन्दर लग रहा था।

तस्याः सुललितगमनपदविन्यासगतिविलासायाश्चानुपदं खणखणायमानरुचिर-चरणाभरणस्वनमुपाकर्ण्य नरदेवकुमारः समाधियोगेनामीलितनयननलिन-मुकुलयुगलमीषद्विकचय्य व्यचष्ट ॥ ५ ॥

तस्याः=उस (पूर्वचित्ति) के; **सुललित**=अत्यन्त सुन्दर, **गमन**=चाल; **पद-विन्यास**=चलने की शैली से, **गति**=आगे आगे, **विलासायाः**=जिनकी लीला, **च**= भी, **अनुपदम्**=प्रत्येक पग से, **खण-खणायमान**=झकार करते हुए, **रुचिर**= अत्यन्त मनोहर, **चरण-आभरण**=चरणो के आभूषण, **स्वनम्**=ध्वनि, **उपाकर्ण्य**= सुनकर, **नरदेव-कुमारः**=राजकुमार, **समाधि**=समाधि दशा, **योगेन**=इन्द्रियो को नियन्त्रित करके, **आमीलित**=अधखुले, **नयन**=नेत्र, **नलिन**=कमल की, **मुकुल**= कलियाँ, **युगलम्**=एक जोड़े के समान, **ईशत्**=कुछ-कुछ, **विकचय्य**=खोलकर, **व्यचष्ट**=देखा।

अनुवाद

ज्योंही अत्यन्त मनोहर गति तथा हावभाव से युक्त पूर्वचित्ति उस पथ से निकली तो प्रत्येक पग पर उसके चरण-नूपुरों की झंकार निकलने लगी। यद्यपि

राजकुमार आग्नीध्र अधखुले नेत्रों से योग साध कर इन्द्रियों को वश में कर रहे थे, किन्तु अपने कमल सदृश नेत्रों से वे उसे देख सकते थे। तभी उन्हे उसके कंगन की मधुर झंकार सुनाई दी। उन्होने अपने नेत्रों को कुछ और खोला तो देखा कि वह उनके बिल्कुल निकट थी।

तात्पर्य

ऐसा कहा जाता है कि योगीजन सदैव श्रीभगवान् का ध्यान अपने हृदयो मे करते रहते है। **ध्यानवस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिन.** (भागवत १२.१३ १)। विषमयी इन्द्रियो को वश मे करने वाले योगी श्रीभगवान् का नित्य दर्शन करते है। जैसा कि भगवद्गीता मे कहा गया है, योगियो को **सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं**—अर्थात् अधखुले नेत्रो से साधना करनी चाहिए। यदि नेत्र पूर्णरूप से वन्द रहेंगे तो नीद आ सकती है। किन्तु कुछ नामधारी योगी अपने नेत्रो को बन्द करके ध्यान धारण करते है। यह योग की "फैशनपरस्त विधि" है, किन्तु हमने ऐसे योगियो को ध्यान के समय सोते तथा खर्राटे लेते सुना है। यह योग की विधि नही है। वास्तविक योग साधने के लिए नेत्रो को अधखुला रखते हुए नासिका के अगले भाग को देखना चाहिए।

यद्यपि प्रियव्रत के पुत्र आग्नीध्र अपनी इन्द्रियो को वश मे करने के लिए योगाभ्यास कर रहे थे, किन्तु पूर्वचित्ति के नूपुरो की झकार से उनका ध्यान टूट गया। **योग इन्द्रिय संयमः**—वास्तविक योग का अर्थ है इन्द्रियो का नियन्त्रण। मनुष्य को इन्द्रियो को वश मे करने के लिए योग साधना चाहिए, किन्तु भक्त अपनी विशुद्ध इन्द्रियो से ईश्वर की सेवा मे तत्पर रहता है, अत. उसका ध्यान भग नही होता (**हृषीकेण हृषीकेश-सेवनम्**)। अत. श्रील प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—**दुर्दान्तेन्द्रिय-काल-सर्प पटली प्रोत्खात-दंष्ट्रायते** (चैतन्य-चन्द्रामृत ५)। निस्सन्देह योगाभ्यास उपयोगी है क्योकि इससे विषधर तुल्य इन्द्रियाँ वशीभूत होती है। किन्तु जव कोई अपनी समस्त इन्द्रियो को ईश्वर की सेवा मे लगाकर भक्ति करता है तो इन्द्रियो का विषैलापन दूर हो जाता है। यह व्याख्या की जाती है कि सर्प से उसके विष दतो के कारण डरा जाता है, किन्तु यदि उसके दतो को तोड दिया जाय तो सर्प भले ही डरावना लगे, किन्तु घातक नही होता। अत भक्तो के समक्ष भले ही हावभाव तथा सुललित गति करने वाली सैकड़ो-हजारो सुन्दरियाँ क्यो न उपस्थित हो जावे वे मोहित नही होते जबकि सामान्य योगी ऐसी सुन्दरियो से भ्रष्ट हो जाते है। यहाँ तक कि सिद्ध योगी विश्वामित्र ने मेनका से सभोग करने के लिए अपना योग भग किया और उससे शकुन्तला उत्पन्न हुई। अत योग इन्द्रियो को वश करने मे पूर्ण समर्थ नही है। दूसरा उदाहरण आग्नीध्र का है जिनका ध्यान पूर्वचित्ति नामक अप्सरा के नूपुरो की मधुर झकार से विश्वामित्र के ही समान टूट गया। राजकुमार स्वय अत्यन्त सुन्दर था। उसके नेत्र कमल की कली के समान थे। ज्योही उसने अपने कमल-नेत्र खोले तो देखा कि अप्सरा उनके पार्श्व मे उपस्थित है।

तामेवाविदूरे मधुकरीमिव सुमनस उपजिघ्रन्तीं दिविजमनुजमनोनयनाह्लाद-दुघैर्गतिविहारव्रीडाविनयावलोकसुस्वराक्षरावयवैर्मनसि नृणां कुसुमायुधस्य विदधतीं विवरं निजमुखविगलितामृतासवसहासभाषणामोदमदान्धमधुकर-निकरोपरोधेन द्रुतपदविन्यासेन वल्गुस्पन्दनस्तनकलशकबरभाररशनां देवीं तदवलोकनेन विवृतावसरस्य भगवतो मकरध्वजस्य वशमुपनीतो जडवदिति होवाच ॥ ६ ॥

ताम्=उसको, **एव**=निस्सदेह, **अविदूरे**=निकट ही, **मधुकरीम् इव**=मधु-मक्खी के समान; **सुमनसः**=सुन्दर फूल, **उपजिघ्रन्तीम्**=सूँघती हुई, **दिवि-ज**=स्वर्गलोक मे उत्पन्न होने वालो का, **मनु-ज**=मर्त्यलोक मे जन्म लेने वालो का, **मनः**=मन, **नयन**=नेत्रो के लिए, **आह्लाद**=प्रसन्नता, **दुघैः**=उत्पन्न करती हुई, **गति**=अपनी चाल से, **विहार**=आमोद-प्रमोद से, **व्रीडा**=लज्जा से; **विनय**=विनयशीलता से, **अवलोक**=चितवन से, **सु-स्वर-अक्षर**=अपनी मधुर वाणी से, **अवयवैः**=शरीर के अगो से, **मनसि**=मन मे, **नृणाम्**=मनुष्यो के, **कुसुम-आयुधस्य**=हाथ मे पुष्प-धनुष धारण करने वाले कामदेव का; **विदधतीम्**=करती हुई, **विवरम्**=तोरण द्वार, **निज-मुख**=अपने मुँह से, **विगलित**=उड़ेलती हुई, **अमृत-आसव**=मधु सदृश अमृत, **स-हास**=अपने हास मे, **भाषण**=तथा बोलने में, **आमोद**=प्रसन्नता से, **मद-अन्ध**=नशे मे अन्धा हुआ, **मधुकर**=मधुमक्खियो का, **निकर**=समूह, **उपरोधेन**=घिर जाने के कारण, **द्रुत**=शीघ्रगामी, **पद**=पाँव का, **विन्यासेन**=भावपूर्ण पद चाप से, **वल्गु**=कुछ, **स्पन्दन**=गति, **स्तन**=उरोज, **कलश**=जल पात्र सदृश, **कबर**=बालो की चोटी, **भार**=भार, **रशनाम्**=करधनी; **देवीम्**=देवी, **तत्-अवलोकनेन**=उसकी दृष्टि मात्र से, **विवृत-अवसरस्य**=अवसर पाकर, **भगवतः**=सर्वशक्तिमान का; **मकर-ध्वजस्य**=कामदेव का, **वशम्**=वश मे, **उपनीतः**=लाया जाकर, **जड-वत्**=जड के समान, **इति**=इस प्रकार; **ह**=निश्चय ही, **उवाच**=वह बोला ।

अनुवाद

वह अप्सरा मधुमक्खी के समान सुन्दर तथा आकर्षक फूलों को सूँघ रही थी । वह अपनी चपल गति, लज्जा, विनय, चितवन तथा मुख से निकलने वाली मधुर ध्वनि और अपने अंगों की गति से मनुष्यों तथा देवताओं के मन तथा ध्यान को आकर्षित करने वाली थी । इन सब गुणों के कारण मनुष्यों के मन मानो कुसुम धनुषधारी कामदेव के स्वागतार्थ तोरण द्वार बन गये हों । जब वह बोलती तो उसके मुख से अमृत झरता था । उसके श्वास लेने पर श्वास का स्वाद लेने के लिए

भौरे मदान्ध होकर उसके कमलवत् नेत्रों के चारों ओर मँडराने लगते। इन भौरों से विक्षुब्ध होकर वह जल्दी-जल्दी चलने का प्रयत्न करने लगी, किन्तु जल्दी चलने के लिए पैर उठाते ही उसके केश, उसकी करधनी तथा उसके जलकलश तुल्य स्तन, इस प्रकार गति कर रहे थे, जिससे वह अत्यन्त मनोहर एवं आकर्षक लग रही थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो वह अत्यन्त बलशाली कामदेव के लिए प्रवेश-द्वार बना रही हो। अतः राजकुमार उसे देखकर पूर्णतया वशीभूत हो गया और उससे इस प्रकार बोला।

तात्पर्य

इस श्लोक मे अत्यन्त सुन्दर ढग से यह वर्णन किया गया है कि किसी सुन्दर स्त्री की गति तथा हावभाव, उसके केश तथा उसके स्तनो, नितम्बो और अन्य अगो की रचना न केवल मनुष्यो के मन को वरन् देवताओ के मनो को भी मोह लेती है। **दिविज** तथा **मनुज** शब्द विशेष रूप से यह पुष्टि करते है कि स्त्रियो के सकेतो का आकर्षण न केवल इस लोक के प्राणियों को वरन् स्वर्गलोक के प्राणियो को भी मोहने वाला है। कहा जाता है कि स्वर्गलोक के प्राणियो का जीवन स्तर मर्त्यलोक के जीवन स्तर से कई हजार गुना उच्च है। अतः वहाँ की सुन्दर स्त्री का शरीर हजारो गुना अधिक लुभावना होगा। सृष्टिकर्ता ने स्त्रियो को इस प्रकार निर्मित किया है कि उनकी मधुर ध्वनि, चाल तथा उनके नितम्बो, उरोजो और अन्य अगो का मनोहर रूप न केवल पृथ्वी के वरन् स्वर्ग तक के पुरुषों को आकर्षित करता है और उनमें काम भाव जागरित हो उठते है। जव कोई पुरुष कामदेव अथवा स्त्री सौंदर्य के वशीभूत होता है तो वह पत्थर के तुल्य जड हो जाता है। स्त्रियो के अग-चालन से मोहित होकर पुरुष इसी भौतिक ससार मे वना रहना चाहता है। इस प्रकार स्त्री के सुन्दर अगो तथा उनके चालन के दर्शन मात्र से वह वैकुठ जगत नही जा पाता है। इसीलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने समस्त भक्तो को सुन्दरियो के आकर्षण एव भौतिकतावादी सभ्यता से दूर रहने के लिए सचेत किया है। उन्होने प्रतापरुद्र महाराज को देखने से भी इकार कर दिया क्योकि इस ससार मे वह अत्यन्त ऐश्वर्यवान व्यक्ति था। इस सम्वन्ध मे भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु का कहना है—**निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य**—"जो ईश्वर की भक्ति मे रत है और भगवान् के धाम वापस जाना चाहते है उन्हे स्त्रियो के कटाक्षो तथा अत्यन्त धनी पुरुषो के दर्शन से दूर रहना चाहिए।"

निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य
पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य।
सन्दर्शनं विषयिनाम् अथ योषितां च
हा हन्त हन्त विष भक्षणतोऽप्यसाधु॥

"अहो, जो इस ससार सागर को तरना चाहता है और श्रीभगवान् की निष्काम भक्ति मे लगा हुआ है उसके लिए इन्द्रियभोग मे लिप्त भौतिकवादी पुरुप या स्त्री का दर्शन स्वेच्छा से विषपान करने से भी जघन्य है।" [चैतन्य-चरितामृत, मध्य ११ ८] अत· जो श्रीभगवान् के धाम को जाना चाहता है उसे चाहिए कि वह स्त्री के आकर्षक अगो तथा धनी पुरुषो की सम्पत्ति के विपय मे तनिक भी न सोचे। ऐसा सोचने से आत्मिक जीवन की प्रगति रुक जाती है। किन्तु यदि भक्त एक वार श्रीकृष्णभावना मे स्थिर हो गया तो ये आकर्पण उसके मन को नही मथते।

का त्वं चिकीर्षसि च किं मुनिवर्य शैले
मायासि कापि भगवत्परदेवतायाः।
विज्ये बिभर्षि धनुषी सुहृदात्मनोऽर्थे
किं वा मृगान्मृगयसे विपिने प्रमत्तान्॥ ७॥

का=कौन; **त्वम्**=तुम हो, **चिकीर्षसि**=क्या करना चाहते हो, **च**=भी, **किम्**=क्या, **मुनि-वर्य**=हे मुनिश्रेष्ठ!, **शैले**=इस पर्वत पर, **माया**=माया, **असि**=हो, **कापि**=कुछ, **भगवत्**=श्रीभगवान्, **पर-देवताया.**=दिव्य ईश्वर का, **विज्ये**=विना डोरी के, **विर्भाषि**=धारण किये हुए, **धनुषी**=दो धनुष, **सुहृत्**=मित्र का, **आत्मन:**=अपने, **अर्थे**=हेतु, **किम् वा**=अथवा, **मृगान्**=जगली पशु, **मृगयसे**=आखेट करने का प्रयत्न कर रहे हो, **विपिने**=इस वन मे; **प्रमत्तान्**=धन से मतवालो का।

अनुवाद

राजकुमार ने भूल से अप्सरा को सम्बोधित किया—हे मुनिश्रेष्ठ! तुम कौन हो? इस पर्वत पर क्यों आये हो और क्या करना चाहते हो? क्या तुम श्रीभगवान् की कोई माया हो? तुम बिना डोरी वाले इन दो धनुषों को क्यों धारण किये हो? क्या इनसे कोई तुम्हारा प्रयोजन है या अपने मित्र के लिए इन्हे धारण किये हुए हो? सम्भवतः तुम इन्हे इस वन के मतवाले (पागल) पशुओं को मारने के लिए धारण किये हो।

तात्पर्य

वन मे कठिन तपस्या करते हुए आग्नीध्र ब्रह्मा द्वारा भेजी गई पूर्वचित्ति की भगिमाओ से मोहित हो गये। जैसा कि भगवद्गीता मे कहा गया है—**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:**—कामी पुरुष अपनी बुद्धि गँवा बैठता है। अत. बुद्धि खोने के पश्चात् आग्नीध्र स्त्री तथा पुरुष मे अन्तर नही कर पाये। उन्होने उसे मुनि-पुत्र समझा इसलिए उसे मुनिवर्य कह कर सम्वोधित किया। किन्तु उसकी सुन्दरता के कारण

उन्हे विश्वास नही हो पाया कि वह बालक है, अत. उन्होने उसके अगो को ध्यान से देखना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्हे उसकी दो भौहे दिखाई पडी जिनको देख कर उन्हे भ्रम हुआ कि कही वह श्रीभगवान् की माया तो नही है। इसके लिए **भगवत-पर-देवतायाः** शब्दों का प्रयोग हुआ है। **देवता** अर्थात् देवतागण इस भौतिक जगत से सम्बन्धित है, किन्तु भगवान् इस लोक से परे रहते है, अत: **पर-देवता** कहलाते है। यह भौतिक जगत माया के द्वारा सृजित है, किन्तु **पर-देवता** श्रीभगवान् के आदेश के अनुसार इसका सृजन होता है। जैसा कि भगवद्गीता मे पुष्टि की गई है (**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**), इस ससार की सृष्टि का परम नियन्ता माया नही है। माया श्रीकृष्ण की ओर से कर्म करती है।

पूर्वचित्ति के नेत्र इतने सुन्दर थे कि आग्नीध्र ने उनकी तुलना डोरीविहीन धनुषो से की। इसीलिए उन्होने पूछा कि वे उसके अपने प्रयोजन के लिए थे अथवा किसी अन्य के लिए थे। उसकी भौहे वन के पशुओ को मारने के लिए प्रयुक्त धनुषो जैसी थी। यह ससार वन के तुल्य है और उसके निवासी वन के पशुओ यथा—हिरन तथा बाघ जैसे है जिनका शिकार किया जाता है। सुन्दर स्त्री की भौहे ही उन्हे मारने वाली है। स्त्री की सुन्दरता से मोहित होकर ससार के सभी मनुष्य बिना डोरी वाले धनुप से वध कर दिये जाते है, किन्तु कोई यह नही देख पाता कि माया उन्हे किस प्रकार मारती है। पर यथार्थ मे वे मारे जाते है (**भूत्वा भूत्वा प्रलीयते**)। अपनी तपस्या से आग्नीध्र जान सके कि श्रीभगवान् के आदेश से माया किस प्रकार कार्य करती है।

प्रमत्तान् शब्द भी महत्वपूर्ण है। प्रमत्त का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो अपनी इन्द्रियो को अपने वश मे नही कर पाता। समस्त ससार ऐसे ही प्रमत्त या विमूढ व्यक्तियों द्वारा शोषित हो रहा है। अत प्रह्लाद महाराज ने कहा है (भाग० ७ ९ ४३)—

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतोविमूढान्।

"वे क्षणिक सुख के लिए विषयो मे सडते रहते है और इन्द्रियभोग के लिए ही अहर्निश श्रम करते है, उन्हे ईश्वर से किसी प्रकार का लगाव नही रहता। मै उन्ही के लिए शोचमग्न हूँ और उन्हे माया के चगुल से मुक्त करने की युक्ति सोच रहा हूँ।" शास्त्रो मे इन्द्रियतुष्टि के लिए कर्म करने वाले कर्मियो को प्रमत्त, विमुख तथा विमूढ कहा गया है। ये माया के द्वारा मारे जाते है। किन्तु जो अप्रमत्त अथवा धीर है वे जानते रहते है कि मनुष्य का मुख्य कर्तव्य ईश्वर की सेवा करना है। जो माया के अदृश्य धनुष तथा बाण से प्रमत्त है उन्हे वह मारने के लिए तत्पर रहती है।

बाणाविमौ भगवतः शतपत्रपत्रौ
शान्तावपुङ्खरुचिरावतितिग्मदन्तौ ।
कस्मै युयुङ्क्षसि वने विचरन्न विद्मः
क्षेमाय नो जडधियां तव विक्रमोऽस्तु ॥ ८ ॥

बाणौ=दो बाण; **इमौ**=ये; **भगवतः**=आपका, सर्वशक्तिमान का, **शत-पत्र-पत्रौ**=कमल की पखुडियो जैसे पखो वाले, **शान्तौ**=शान्त, **अपुङ्ख**=पंखरहित; **रुचिरौ**=अत्यन्त सुन्दर; **अति-तिग्म-दन्तौ**=अत्यन्त तीक्ष्ण नोक वाले, **कस्मै**=किसको; **युयुङ्क्षसि**=बेध देना चाहते हो; **वने**=वन मे, **विचरन्**=इधर-उधर घूमते हुए, **न विद्मः**=हम समझ नही सकते, **क्षेमाय**=कल्याण के लिए; **नः**=हमारा, **जड-धियाम्**=जड़-बुद्धि वालो को, **तव**=तुम्हारा; **विक्रमः**=शौर्य, **अस्तु**=हो ।

अनुवाद

तब आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के बॉके नेत्रों को देखा और कहा—हे मित्र ! तुम्हारे बॉके नेत्र दो अत्यन्त शक्तिशाली बाण है । इन बाणों में कमल पुष्प की पंखुड़ियों जैसे पंख है । पंखरहित न होने पर भी वे अत्यन्त सुन्दर है और उनके सिरे नुकीले तथा भेदने वाले है । वे अत्यन्त शान्त लगते है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी पर नहीं छोड़े जायेगे । तुम इस वन में किसी न किसी को बेधने के लिए विचरण कर रहे होगे, किन्तु किसे, यह मै नहीं जानता । मेरी बुद्धि मन्द पड़ गई है और मै तुम्हारा सामना नहीं कर सकता । निस्सन्देह पराक्रम में कोई भी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकता इसीलिए प्रार्थना है कि तुम्हारा पराक्रम मेरे लिए कल्याणकारी हो ।

तात्पर्य

इस प्रकार आग्नीध्र पूर्वचित्ति के कटाक्ष की प्रशसा करने लगा । उसने उसके बॉके नेत्रो की तुलना तीक्ष्ण तीरो से की । यद्यपि उसके नेत्र कमल सदृश सुन्दर थे, किन्तु साथ ही वे बिना पख वाले तीरो के समान है इसीलिए आग्नीध्र उनसे भयभीत हो गया । उन्हे आशा थी कि उसके कटाक्ष उनके अनुकूल होंगे क्योकि वे पहले से मोहित थे और जितना ही अधिक मोहित होगे उनके लिए उसके बिना रह पाना उतना ही कठिन होगा । इसीलिए आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति से प्रार्थना की कि उसके कटाक्ष कल्याणकारी हो । दूसरे शब्दो में, उन्होंने प्रार्थना की कि वह उनकी पत्नी बन जाय ।

शिष्या इमे भगवतः परितः पठन्ति
गायन्ति साम सरहस्यमजस्रमीशम् ।
युष्मच्छिखाविलुलिताः सुमनोऽभिवृष्टीः
सर्वे भजन्त्यृषिगणा इव वेदशाखाः ॥ ९ ॥

शिष्याः=शिष्य; **इमे**=ये; **भगवतः**=पूज्य के, **परितः**=चारों ओर से घेरे हुए, **पठन्ति**=सुना रहे है, **गायन्ति**=गायन कर रहे है; **साम**=सामवेद, **स-रहस्यम्**=रहस्ययुक्त; **अजस्रम्**=निरन्तर, **ईशम्**=ईश्वर को; **युष्मत्**=तुम्हारी; **शिखा**=चोटी, **विलुलिताः**=गिरे हुए, **सुमनः**=पुष्पों की, **अभिवृष्टीः**=वृष्टि; **सर्वे**=समस्त, **भजन्ति**=भोगते है, **ऋषि-गणाः**=ऋषि, मुनि; **इव**=सदृश; **वेद-शाखाः**=वैदिक शास्त्रो की शाखाएँ ।

अनुवाद

पूर्वचित्ति का अनुगमन करने वाले भौंरो को देखकर महाराज आग्नीध्र बोले—भगवन् ! ऐसा प्रतीत होता है मानो तुम्हारे शरीर को घेरे हुए ये भौंरें अपने पूज्य गुरु को घेरे हुए शिष्य है। वे सामवेद तथा उपनिषद के मन्त्रों का निरन्तर जप कर रहे हैं और इस प्रकार तुम्हारी स्तुति कर रहे हैं। जैसे ऋषिगण वैदिक शास्त्रों की शाखाओं का अनुसरण करते हैं, ये भौंरे तुम्हारी चोटी से झड़ने वाले पुष्पों का आनन्द लूट रहे हैं।

वाचं परं चरणपञ्जरतित्तिरीणां
ब्रह्मन्नरूपमुखरां शृणवाम तुभ्यम् ।
लब्धा कदम्बरुचिरङ्कविटङ्कबिम्बे
यस्यामलातपरिधिः क्व च वल्कलं ते ॥१०॥

वाचम्=गुजरित ध्वनि; **परम्**=एकमात्र; **चरण-पंजर**=नूपुरो की; **तित्तिरीणाम्**=तीतरो की, **ब्रह्मन्**=हे ब्राह्मण, **अरूप**=बिना रूप के, **मुखराम्**=स्पष्ट सुनाई पडने वाला, **शृणवाम**=मै सुनता हूँ, **तुभ्यम्**=तुम्हारा; **लब्धा**=प्राप्त, **कदम्ब**=कदम्ब पुष्प सदृश, **रुचिः**=मनोहर रग, **अङ्क-विटङ्क-बिम्बे**=सुन्दर गोल नितम्बो पर; **यस्याम्**=जिस पर, **अलात-परिधिः**=ज्वलित अगारो का घेरा, **क्व**=कहाँ, **च**=भी, **वल्कलम्**=ढकने के लिए वस्त्र, **ते**=तुम्हारा ।

अनुवाद

हे ब्राह्मण ! मुझे तो तुम्हारे नूपुरो की झंकार ही सुनाई पड़ती है। ऐसा लगता है उनके भीतर बन्द तीतर पक्षी चहक रहे है। मै उनके रूपो को नही देख रहा, किन्तु मै सुन रहा हूँ कि वे किस प्रकार चहक रहे है। जब मैं तुम्हारे सुन्दर गोल नितम्बों को देखता हूँ तो मुझे लगता है कि मानो कदम्ब के पुष्प हों। तुम्हारी कमर में ज्वलित अंगारों की मेखला पड़ी हुई है। क्या तुम वस्त्र धारण करना भूल गये हो ?

तात्पर्य

आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के आकर्षक नितम्वो तथा कटि भाग को कामपूर्ण दृष्टि से देखा। जब मनुष्य किसी स्त्री को इस प्रकार देखता है तो वह उसके मुख, स्तन तथा कटि पर मोहित हो जाता है क्योकि पुरुष को अपनी वासना तृप्त करने के लिए स्त्री इन्ही अगो से आर्कषित करती है। पूर्वचित्ति ने सुन्दर पीला रेशमी वस्त्र पहन रखा था, अत. उसके नितम्ब कदम्ब पुष्प के समान लग रहे थे। करधनी के कारण उसकी कमर ज्वलित अगारो से घिरी प्रतीत हुई। यद्यपि वह वस्त्रो से पूर्णत. सज्जित थी, किन्तु आग्नीध्र इतना काममोहित हो गया था कि उसे पूछना पडा "तुम वस्त्ररहित होकर क्यो आई हो ?"

किं सम्भृतं रुचिरयोर्द्विज शृङ्गयोस्ते
मध्ये कृशो वहसि यत्र दृशिः श्रिता मे।
पङ्कोऽरुणः सुरभिरात्मविषाण ईदृग्
येनाश्रमं सुभग मे सुरभीकरोषि ॥११॥

किम्=क्या; **सम्भृतम्**=भरा हुआ, **रुचिरयोः**=अत्यन्त सुन्दर, **द्विज**=हे ब्राह्मण !, **शृङ्गयोः**=दो सीगो के भीतर, **ते**=तुम्हारा, **मध्ये**=बीच मे; **कृशः**= पतली, **वहसि**=धारण करती हो, **यत्र**=जिसमे, **दृशिः**=नेत्र, **श्रिता**=टिकी हुई, **मे**=मेरी, **पङ्कः**=चूर्ण, **अरुणः**=लाल, **सुरभि.**=सुगधित, **आत्म-विषाणे** =दो सीगो पर, **ईदृक्**=ऐसा, **येन**=जिसके द्वारा, **आश्रमम्**=आश्रम, **सु-भग**= हे भाग्यवान !; **मे**=मेरा, **सुरभी-करोषि**=सुगन्धित बना रहे हो।

अनुवाद

तब आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के उठे उरोजों की प्रशंसा की। उन्होंने कहा—हे ब्राह्मण ! तुम्हारी कमर अत्यन्त पतली है, किन्तु फिर भी तुम कष्ट सह कर इन दो सींगों को धारण कर रहे हो जिन पर मेरे नेत्र अटक गये है। इन दोनों सुन्दर

सींगों के भीतर क्या भरा है ? तुमने इनके ऊपर सुगन्धित लाल-लाल चूर्ण छिड़क रखा है मानो प्रातःकालीन उगता (हुआ) सूर्य हो। हे भाग्यवान् ! क्या मैं पूछ सकता हूँ कि तुम्हें ऐसा सुगन्धित चूर्ण कहाँ से मिला जो मेरे आश्रम को सुरभित कर रहा है ?

तात्पर्य

आग्नीध्र ने पूर्णचित्ति के उन्नत उरोजो की प्रशसा की। उसके उरोजो को देखकर वह प्राय. प्रमत्त हो उठा। तो भी वह नही पहचान पाया कि पूर्वचित्ति लडका था या लडकी इसीलिए उसने उसे **द्विज** (हे ब्राह्मण !) कहकर सम्बोधित किया। किन्तु द्विज अर्थात् ब्राह्मण वालक के वक्षस्थल पर सीग क्यो है ? क्योकि वालक की कमर पतली थी। आग्नीध्र ने सोचा कि वह अत्यन्त कठिनाई से इनका भार ढो रहा है, अत इनके भीतर अवश्य ही कुछ मूल्यवान वस्तु भरी होगी। अन्यथा वह उनको क्यों वहन कर रहा है ? जब किसी स्त्री की कटि पतली और उरोज उठे हुए होते है तो वह अत्यन्त आकर्षक लगती है। आग्नीध्र ने मोहित नेत्रो से कृश शरीर वाली लडकी के लाल स्तनों का चिन्तन किया और कल्पना की कि उसके नितम्ब इसको कैसे वहन करते होंगे। आग्नीध्र ने कल्पना की कि उसके उन्नत उरोज उसके दो सीग थे, जिन्हें उसने वस्त्र से इसलिए ढक रखा था, जिससे उनके भीतर के वहुमूल्य पदार्थ को कोई देख न सके। किन्तु आग्नीध्र उनको देखने के लिए अत्यन्त व्यग्र था, अतः प्रार्थना की "कृपया इन्हे उघारो जिससे मै देख सकूँ कि इनके भीतर क्या भरा है। विश्वास रखो कि मै छीनूंगा नही। यदि तुम अपना वस्त्र नही हटा सकते तो मैं आपकी सहायता कर दूँ। क्या मै स्वयं खोलकर देख सकता हूँ कि इन उन्नत सीगों के भीतर क्या है ?" वे उसके स्तनो के ऊपर फैले हुए सुरभित कुकुम के लाल चूर्ण से चकित थे। इतने पर भी उसने पूर्वचित्ति को वालक समझ कर उसे सुभग अर्थात् भाग्यशाली मुनि कह कर सम्वोधित किया। यह वालक भाग्यशाली होगा अन्यथा उसके वहाँ खड़े होने से आग्नीध्र का पूरा आश्रम कैसे महकने लगा था ?

लोकं प्रदर्शय सुहृत्तम तावकं मे
यत्रत्य इत्थमुरसावयवावपूर्वौ।
अस्मद्विधस्य मनउन्नयनौ बिभर्ति
बह्वद्भुतं सरसराससुधादि वक्त्रे ॥१२॥

लोकम्=आवास स्थान, देश; **प्रदर्शय**=दिखा दो; **सुहृत-तम्**=हे श्रेष्ठ मित्र, मित्रवर, **तावकम्**=अपना (तुम्हारा); **मे**=मुझको, **यत्रत्यः**=जहाँ उत्पन्न हुआ पुरुष, **इत्थम्**=इस प्रकार; **उरसा**=वक्षस्थल से, **अवयवौ**=दो अग (उरोज),

अपूर्वौ =अपूर्व; **अस्मत्-विधस्य**=मुझ जैसे व्यक्ति को, **मनः-उन्नयनौ**=चित्त को क्षुब्ध करने वाला; **बिर्भात**=बना हुआ है, **बहु**=अनेक, **अद्भुतम्**=अद्भुत, **सरस**=मृदुवचन, **रास**=मुसकान जैसा हावभाव; **सुधा-आदि**=अमृत के तुल्य, **वक्त्रे**=मुख मे।

अनुवाद

मित्रवर! क्या तुम मुझे अपना निवास स्थान दिखा सकते हो? मै कल्पना भी नही कर सकता कि उस स्थान के वासियों को तुम्हारे उन्नत उरोजों के समान अद्भुत शारीरिक अंग किस तरह प्राप्त हुए हैं जो मुझ जैसे देखने वाले के मन तथा नेत्रों को क्षुब्ध कर रहे है। उनकी मधुर वाणी तथा मृदु मुस्कान से इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि उनके मुख में अमृत बसता होगा।

तात्पर्य

प्रमत्त आग्नीध्र ने उस स्थान को भी जानना चाहा जहाँ से वह ब्राह्मण-बालक आया हुआ है और जहाँ के मनुष्यो के वक्षस्थल इस प्रकार उठे हुए है। उन्होने सोचा कि सम्भवत ऐसे आकर्षक अग उनकी कठिन तपस्या के फलस्वरूप हो। आग्नीध्र ने उस बालिका को **सुहृत्तम** कहकर सम्बोधित किया जिससे वह वहाँ ले जाने से कही अस्वीकार न कर दे। आग्नीध्र न केवल उस बालिका के उन्नत उरोजों से मोहित था वरन् उसकी मधुरवाणी से भी आकृष्ट था। उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसके मुख से अमृत निकल रहा हो। इसीलिए वह अत्यन्त आश्चर्य मे पड़ गया।

का वाऽऽत्मवृत्तिरदनाद्धविरङ्ग वाति
विष्णोः कलास्यनिमिषोन्मकरौ च कर्णौ।
उद्विग्नमीनयुगलं द्विजपङ्क्तिशोचि-
रासन्नभृङ्गनिकरं सर इन्मुखं ते ॥१३॥

का=क्या, **वा**=तथा, **आत्म-वृत्तिः**=शरीर के पालन हेतु भोजन; **अदनात्**=चबाने से (पान के), **हवि**=यज्ञ की हवन सामग्री, **अङ्ग**=मेरे प्रिय मित्र, **वाति**=फैल रही है, **विष्णोः**=भगवान् विष्णु के, **कला**=शरीर का अश, **असि**=हो, **अनिमिष**=अपलक, **उन्मकरौ**=दो उज्ज्वल मगर, **च**=भी, **कर्णौ**=दो कान, **उद्विग्न**=परेशान, अस्थिर, **मीन-युगलम्**=दो मछलियो सहित, **द्विज-पङ्क्ति**=दाँतो की पाँत, **शोचिः**=सुन्दरता, **आसन्न**=सन्निकट, **भृङ्ग-निकरम्**=भौरो का समूह, **सरः इत**=सरोवर के सदृश, **मुखम्**=मुँह, **ते**=तुम्हारा।

अनुवाद

मित्रवर ! शरीर पालने के लिए तुम क्या खाते हो ? ताम्बूल चर्वण करने से तुम्हारे मुख से सुगन्ध फैल रही है । इससे यह सिद्ध होता है कि तुम सदैव विष्णु का प्रसाद प्राप्त करते हो । निश्चय ही तुम भगवान् विष्णु के अंश स्वरूप हो । तुम्हारा मुख सरोवर के समान सुन्दर है । तुम्हारे रत्नजटित कुंडल उन दो उज्ज्वल मकरों के तुल्य हैं जिनके नेत्र विष्णु के समान अपलक रहने वाले हैं । तुम्हारे दोनों नेत्र दो चंचल मछलियों के सदृश हैं । इस प्रकार तुम्हारे मुख-सरोवर में दो मकर तथा दो चंचल मछलियाँ तैर रही हैं । इनके अतिरिक्त तुम्हारे दाँतों की धवल पंक्ति जल में श्वेत हंसों की पंक्ति के सदृश प्रतीत होती है और तुम्हारे घुँघराले बाल तुम्हारे मुख की शोभा का पीछा करने वाले भौंरों के झुंड के समान हैं ।

तात्पर्य

भगवान् विष्णु के भक्त भी उन्ही के अश है और विभिन्नाश कहलाते है । भगवान् विष्णु को सभी प्रकार की हवियाँ भेट की जाती है और भक्तगण भी उनका बचा हुआ भोजन अर्थात् प्रसाद खाते है अत: हवि की सुगन्धि न केवल विष्णु से बाहर फैलती है वरन् प्रसाद पाने वाले भक्तो के शरीरो से भी निकलती है । आग्नीध्र पूर्वचित्ति को उसके शरीर से निर्गत सुगन्धि के कारण भगवान् विष्णु का अश मान रहा था । इसके अतिरिक्त उसके मकराकार रत्नजटित कुडलों, उसकी शरीर की सुगध के पीछे मत्त होकर दौडने वाले भौरो के समान काले बालो तथा हसों के समान श्वेत दत पक्ति के कारण आग्नीध्र ने उसके मुख की उपमा उस सुन्दर सरोवर से दी जो कमल पुष्पों, मछलियो, हंसो तथा भौरो से अलकृत था ।

योऽसौ त्वया करसरोजहतः पतङ्गो
दिक्षु भ्रमन् भ्रमत एजयतेऽक्षिणी मे ।
मुक्तं न ते स्मरसि वक्रजटावरूथं
कष्टोऽनिलो हरति लम्पट एष नीवीम् ॥१४॥

यः=जो; **असौ**=वह; **त्वया**=तुम्हारे द्वारा, **कर-सरोज**=कमल के समान हथेली वाला; **हतः**=आहत, **पतङ्गः**=गेद; **दिक्षु**=समस्त दिशाओ मे, **भ्रमन्**=घूमते हुए, **भ्रमतः**=चल, अस्थिर, **एजयते**=विक्षुब्ध करता है, **अक्षिणी**=नेत्रो को; **मे**=मेरे, **मुक्तम्**=बिखरे हुए, **न**=नही, **ते**=तुम्हारा, **स्मरसि**=क्या तुम्हे सुधि है, **वक्र**=घुँघराले, **जटा**=बालो का, **वरूथम्**=समूह, लटे, **कष्टः**=कष्ट-दायी; **अनिलः**=वायु, **हरति**=वहा ले जाता है, **लम्पटः**=धूर्त, परस्त्री पर आसक्त सदृश, **एषः**=यह, **नीवीम्**=अधोवस्त्र ।

अनुवाद

मेरा मन पहले ही से चंचल है और तुम इस गेंद को अपनी कमल सदृश हथेली से इधर-उधर फेंक कर मेरे नेत्रों को विक्षुब्ध कर रहे हो। तुम्हारे घुँघराले केश बिखरे हुए हैं, किन्तु तुम्हें उनको सँभालने की सुधि नहीं है। तुम इन्हें सँभाल क्यों नहीं लेते ? यह धूर्त वायु लम्पट पुरुष के समान तुम्हारे अधोवस्त्र को उठाने का प्रयत्न कर रहा है। क्या तुम्हें इसकी खबर नहीं है ?

तात्पर्य

पूर्वचित्ति अपने हाथों मे गेंद लिए हुए खेल रही थी जो उसकी हथेली मे बद्ध एक अन्य कमल पुष्प सा लग रहा था। इधर-उधर गति करने से उसके केश शिथिल हो गये थे और उसका नीवीबन्धन खुल रहा था। ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो धूर्त वायु उसे नगा करना चाह रहा हो। फिर भी उसे अपने बाल सँवारने या अपना वस्त्र सँभालने की सुधि नहीं थी। आग्नीध्र इस बाला की अनावृत सुन्दरता का दर्शन करना चाहता था, अत उसके हावभाव से उसके नेत्र विक्षुब्ध हो उठे।

रूपं तपोधन तपश्चरतां तपोघ्नं
ह्येतत्तु केन तपसा भवतोपलब्धम्।
चर्तुं तपोऽर्हसि मया सह मित्र मह्यं
किं वा प्रसीदति स वै भवभावनो मे ॥१५॥

रूपम्=सुन्दरता, **तपः-धन**=हे श्रेष्ठ तपस्वी; **तपः चरताम्**=तपस्या मे संलग्न पुरुषों का, **तपः-घ्नम्**=तपों को विनष्ट करने वाला, **हि**=निश्चय ही; **एतत्**=यह; **तु**=निस्सन्देह, **केन**=किससे, **तपसा**=तपस्या, **भवता**=तुम्हारे द्वारा; **उपलब्धम्**=प्राप्त किया; **चर्तुम्**=करने के लिए, **तपः**=तप, **अर्हसि**=तुम्हें चाहिए; **मया सह**=मेरे साथ; **मित्र**=हे मित्र, **मह्यम्**=मुझको, **किम् वा**=अथवा सम्भव है, **प्रसीदति**=प्रसन्न होता है, **सः**=वह; **वै**=निश्चय ही, **भव-भावनः**=इस ब्रह्माण्ड का सृजनकर्ता, **मे**=मेरे साथ।

अनुवाद

हे श्रेष्ठ तपस्वी ! तुम्हें दूसरों की तपस्या को भंग करने वाला यह अद्भुत रूप कहाँ से प्राप्त हुआ ? तुमने यह कला कहाँ से सीखी ? हे मित्र ! तुमने इस सुन्दरता को प्राप्त करने के लिए कौन सा तप किया है ? मेरी इच्छा है कि तुम मेरे साथ

तपस्या में सम्मिलित हो जाओ क्योंकि हो सकता है कि इस ब्रह्माण्ड के सृष्टा भगवान् ब्रह्मा ने मुझ पर प्रसन्न होकर तुम्हे मेरी पत्नी बनने के लिए भेजा हो।

तात्पर्य

आग्नीध्र ने पूर्वचित्ति के अपूर्व सौदर्य की प्रशसा की। निस्सन्देह उसे ऐसे अद्वितीय सौदर्य को देखकर आश्चर्य हुआ जो पूर्व तपस्या का फल हो सकता है। इसीलिए उसने उस बालिका से प्रश्न किया कि उसने यह रूप कही अन्यो की तपस्या को भग करने के लिए तो नही प्राप्त किया। उसने विचार किया कि हो न हो ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी उस पर प्रसन्न होकर ही उसे उसकी पत्नी बनने के उद्देश्य से भेजा है। उसने पूर्वचित्ति से पत्नी बनने की प्रार्थना की जिससे वे दोनो मिलकर तपस्या कर सके। दूसरे शब्दो मे, यदि पति तथा पत्नी आत्म-ज्ञान के एक ही धरातल पर हो तो उपयुक्त पत्नी गृहस्थ जीवन मे तपस्या करने मे अपने पति की सहयोगिनी होती है। आत्म-ज्ञान के बिना पति तथा पत्नी समान पद पर स्थित नही हो पाते। भगवान् ब्रह्मा की यही इच्छा रहती है कि अच्छी सतति जन्मे, अतः जब तक वे प्रसन्न नही होते किसी को अनुकूल पत्नी नही मिल सकती। इसीलिए विवाहोत्सव मे ब्रह्मा की उपासना की जाती है। आज भी भारत मे विवाह के निमन्त्रणपत्रो के ऊपर भगवान् ब्रह्मा का चित्र बना रहता है।

न त्वां त्यजामि दयितं द्विजदेवदत्तं
यस्मिन्मनो दृगपि नो न वियाति लग्नम्।
मां चारुशृङ्ग्यर्हसि नेतुमनुव्रतं ते
चित्तं यतः प्रतिसरन्तु शिवाः सचिव्यः॥१६॥

न=नही, **त्वाम्**=तुम, **त्यजामि**=नही छोडूँगा, **दयितम्**=अत्यन्त प्रिय, **द्विज-देव**=ब्राह्मणो के उपास्य देवता, भगवान् ब्रह्मा से, **दत्तम्**=दिया हुआ; **यस्मिन्**=जिसको; **मनः**=मन, **दृक्**=आँखे, **अपि**=भी, **न.**=मेरा, **न वियाति**=नही जाता है, **लग्नम्**=दृढतापूर्वक लगा हुआ, **माम्**=मुझको, **चारु-शृङ्गि**=हे सुन्दर उन्नत उरोजो वाली स्त्री, **अर्हसि**=तुम्हे चाहिए, **नेतुम्**=पथ प्रदर्शन करना; **अनुव्रतम्**=अनुयायी, **ते**=तुम्हारा, **चित्तम्**=आकाक्षा, **यतः**=जहाँ कही भी, **प्रतिसरन्तु**=साथ चले, **शिवाः**=अनुकूल, **सचिव्यः**=मित्रगण।

अनुवाद

ब्राह्मणों के द्वारा पूजित भगवान् ब्रह्मा ने मुझपर अत्यन्त अनुग्रह करके तुम्हें

दिया है इसीलिए मै तुमसे मिल पाया हूँ। मैं तुम्हारा साथ नहीं छोड़ना चाहता क्योंकि मेरे मन तथा नेत्र तुम्हीं पर टिके हुए हैं और वे किसी तरह बाहर नहीं किये जा सकते। हे सुन्दर उन्नत उरोजों वाली बाला! मैं तुम्हारा अनुचर हूँ। तुम मुझे जहाँ भी चाहे ले जा सकती हो और तुम्हारी सखियाँ भी मेरे साथ चल सकती है।

तात्पर्य

अब आग्नीध्र अपनी दुर्बलता को विना झिझक के स्वीकार करता है। वह पूर्वचित्ति पर मोहित था, अतः इसके पूर्व कि वह यह कहे कि मुझे तुमसे क्या प्रयोजन, वह उसके साथ विवाह करने की इच्छा व्यक्त करता है। वह इतना मोहित था कि उसके साथ कही भी जाने को तैयार था चाहे वह स्वर्ग हो या नरक। जब कोई कामासक्त हो उठता है तो वह बिना किसी शर्त के स्त्री के समक्ष आत्म-समर्पण कर देता है। इस सम्बन्ध मे श्रील मध्वाचार्य का कथन है कि जब कोई सनकी व्यक्ति की तरह हँसी-मजाक करने लगता है तो वह सब कुछ कह सकता है, किन्तु उसके शब्द निरर्थक होते है।

श्रीशुक उवाच

इति ललनानुनयातिविशारदो ग्राम्यवैदग्ध्यया परिभाषया तां विबुधवधूं विबुधमतिरधिसभाजयामास ॥१७॥

श्री-शुकः उवाच=श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा, **इति**=इस प्रकार, **ललना**=स्त्रियाँ; **अनुनय**=जीतने मे; **अति-विशारदः**=अत्यन्त पटु; **ग्राम्य-वैदग्ध्यया**=अपनी इच्छाओ को पूरा करने मे पटु; **परिभाषया**=चुने शब्दो से; **ताम्**=उसको; **विबुध-वधूम्**=देव-कन्या, **विबुध-मतिः**=देवताओं के तुल्य बुद्धि वाला आग्नीध्र, **अधिसभाजयाम् आस**=प्रसन्न कर लिया।

अनुवाद

श्रील शुकदेव गोस्वामी बोले—महाराज आग्नीध्र देवताओं के समान बुद्धिमान और स्त्रियों को प्रसन्न करने की कला में अत्यन्त निपुण थे। अतः उन्होंने उस स्वर्ग-कन्या को अपनी कामपूर्ण वाणी से प्रसन्न करके उसको अपने पक्ष में कर लिया।

तात्पर्य

चूंकि राजा आग्नीध्र भक्त था, अत. भौतिक सुख की उसे तनिक भी इच्छा नही थी, किन्तु अपना वश चलाने के लिए उसे पत्नी की आवश्यकता थी और भगवान् ब्रह्मा ने पूर्वचित्ति को इसी कार्य के लिए भेजा था, अतः उसने अपनी मीठी

वाणी से उसे प्रसन्न कर लिया। स्त्रियाँ मनुष्यो की मीठी वाणी से आकृष्ट हो जाती है। जो इस कला मे दक्ष होता है उसे विदग्ध कहते है।

सा च ततस्तस्य वीरयूथपतेर्बुद्धिशीलरूपवयःश्रियौदार्येण पराक्षिप्तमनास्तेन सहायुतायुतपरिवत्सरोपलक्षणं कालं जम्बूद्वीपपतिना भौमस्वर्गभोगान् बुभुजे ॥१८॥

सा=वह स्त्री; **च**=भी; **ततः**=तत्पश्चात्; **तस्य**=उसका, **वीर-यूथ-पतेः**= वीरो का स्वामी; **बुद्धि**=बुद्धि से, **शील**=आचरण, **रूप**=सुन्दरता; **वयः**= अवस्था (तरुण); **श्रिया**=ऐश्वर्य, **औदार्येण**=(तथा) उदारता से; **पराक्षिप्त**= आर्कापित; **मनाः**=उसका मन; **तेन सह**=उसके साथ; **अयुत**=दस हजार; **अयुत** =दस हजार, **परिवत्सर**=वर्ष, **उपलक्षणम्**=विस्तृत; **कालम्**=काल, समय, **जम्बूद्वीप-पतिना**=जम्बूद्वीप के राजा के साथ; **भौम**=पृथ्वी का; **स्वर्ग**=स्वर्गिक; **भोगान्**=सुख, भोग, **बुभुजे**=भोग किया।

अनुवाद

बुद्धि, तारुण्य, सौन्दर्य, आचरण, ऐश्वर्य तथा उदारता से आर्कांषित होकर पूर्वचित्ति जम्बूद्वीप के राजा तथा समस्त वीरों के स्वामी आग्नीध्र के साथ कई हजार वर्षों तक रही और भौतिक तथा स्वर्गिक दोनों प्रकार के सुखों का अत्यधिक भोग किया।

तात्पर्य

ब्रह्मा की कृपा से राजा आग्नीध्र तथा स्वर्ग कन्या पूर्वचित्ति का सयोग अत्यन्त अनुकूल सिद्ध हुआ। इस प्रकार उन्होने कई हजार वर्पो तक भौतिक तथा स्वर्गिक सुखों का भोग किया।

तस्यामु ह वा आत्मजान् स राजवर आग्नीध्रो नाभिकिम्पुरुषहरिवर्षेलावृतरम्यकहिरण्मयकुरुभद्राश्वकेतुमालसंज्ञान्नव पुत्रानजनयत् ॥१९॥

तस्याम्=उससे, **उ ह वा**=निश्चय ही, **आत्म-जान्**=पुत्र; **सः**=वह, **राज-वरः**=राजाओ मे श्रेष्ठ, **आग्नीध्रः**=आग्नीध्र; **नाभि**=नाभि; **किम्पुरुष**= किम्पुरुष, **हरि-वर्ष**=हरिवर्प, **इलावृत**=इलावृत, **रम्यक**=रम्यक, **हिरण्मय**= हिरण्मय, **कुरु**=कुरु; **भद्राश्व**=भद्राश्व, **केतु-माल**=केतुमाल, **संज्ञान**=नामक; **नव**=नौ, **पुत्रान्**=पुत्रो को, **अजनयत्**=उत्पन्न किया।

अनुवाद

राजाओं में श्रेष्ठ महाराज आग्नीध्र को पूर्वचित्ति के गर्भ से नौ पुत्र प्राप्त हुए, जिनके नाम नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व तथा केतुमाल थे।

सा सूत्वाथ सुतान्नवानुवत्सरं गृह एवापहाय पूर्वचित्तिर्भूय एवाजं देवमुपतस्थे ॥२०॥

सा=वह, सूत्वा=जन्म देकर, अथ=तत्पश्चात्, सुतान्=पुत्रो को, नव=नौ, अनुवत्सरम्=प्रति वर्ष, गृहे=घर पर, एव=ही, अपहाय=छोड़कर, पूर्वचित्तिः=पूर्वचित्ति, भूयः=पुनः, एव=निश्चय ही; अजम्=भगवान् ब्रह्मा, देवम्=देवता, उपतस्थे=पास गई, उपस्थित हुई।

अनुवाद

पूर्वचित्ति ने प्रति वर्ष इन नौ पुत्रों को जन्म दिया, किन्तु जब वे बड़े हो गये तो वह उन्हे घर पर छोड़कर ब्रह्मा की उपासना करने के लिए उनके पास उपस्थित हुई।

तात्पर्य

अनेक वार अप्सराएँ ब्रह्मा या इन्द्र जैसे श्रेष्ठ देवता की आज्ञा से इस पृथ्वी पर अवतरित हुई, उनकी आज्ञानुसार विवाह किया और सन्तान उत्पन्न करने के बाद अपने-अपने पुरियो को पुन लौट गई। उदाहरणार्थ, स्वर्गसुन्दरी मेनका, जो विश्वामित्र मुनि को छलने के लिए आई थी, शकुन्तला को जन्म देने के पश्चात् अपने पति तथा अपनी पुत्री दोनो को छोड़कर स्वर्गलोक वापस चली गई। पूर्वचित्ति भी महाराज आग्नीध्र के सग स्थायी रूप से नही रही। अपने पति के गृहकार्यो में सहायता करने के पश्चात् वह महाराज आग्नीध्र तथा अपने नौ पुत्रो को त्याग कर ब्रह्मा की आराधना करने के लिए उनके पास लौट गई।

आग्नीध्रसुतास्ते मातुरनुग्रहादौत्पत्तिकेनैव संहननबलोपेताः पित्रा विभक्ता आत्मतुल्यनामानि यथाभागं जम्बूद्वीपवर्षाणि बुभुजुः ॥ २१ ॥

आग्नीध्र-सुता=महाराज आग्नीध्र के सब पुत्र, ते=वे, मातुः=माता के;

अनुग्रहात्=अनुग्रह से अथवा माँ का दूध पीकर, **औत्पत्तिकेन**=सहज; **एव**=ही; **संहनन**=सुगठित शरीर; **बल**=शक्ति, **उपेताः**=प्राप्त, **पित्रा**=पिता द्वारा, **विभक्ताः**=विभाजित, **आत्म-तुल्य**=अपने ही समान, **नामानि**=नाम वाले, **यथा-भागम्**=ठीक से विभक्त, **जम्बूद्वीप-वर्षाणि**=जम्बूद्वीप के विभिन्न भागो (सम्भवत. एशिया तथा यूरप दोनो), **बुभुजुः**=राज्य किया ।

अनुवाद

अपनी माँ का दूध पीने के कारण आग्नीध्र के नवों पुत्र अत्यन्त बलिष्ठ एवं सुगठित शरीर वाले हुए। उनके पिता ने प्रत्येक को जम्बूद्वीप का एक-एक भाग दे दिया। इन राज्यों के नाम पुत्रों के नामों के अनुसार पड़े। इस प्रकार आग्नीध्र के सभी पुत्र पिता से प्राप्त राज्यो पर राज्य करने लगे।

तात्पर्य

आचार्यो ने इस श्लोक के **मातुः अनुग्रहात** शब्दो का विशेष उल्लेख करते हुए इनका अर्थ "उनकी माँ का स्तन-दुग्ध" किया है। भारतवर्ष मे यह आम विश्वास है कि यदि माँ अपने बच्चे को छह मास तक अपने स्तनो का दूध पिलाती है तो बच्चे का शरीर अत्यन्त हृष्ट पुष्ट रहता है। इसके अतिरिक्त इस श्लोक मे यह भी इगित है कि आग्नीध्र के सभी पुत्रो की प्रकृति अपनी माँ के समान थी। भगवद्गीता की भी घोषणा है—**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः**—दूषित स्त्री से वर्ण-सकर (अयोग्य) पुत्र उत्पन्न होते है और जब वर्णसकर जनसख्या बढती है तो यह ससार नरक बन जाता है। अत मनुस्मृति के अनुसार स्त्री को पवित्र तथा साध्वी रहने के लिए काफी सरक्षण की आवश्यकता होती है जिससे उसकी सन्तान मानव समाज के कल्याण मे तत्पर हो सके।

आग्नीध्रो राजातृप्तः कामानामप्सरसमेवानुदिनमधिमन्यमानस्तस्याः सलोकतां श्रुतिभिरवारुन्ध यत्र पितरो मादयन्ते ॥२२॥

आग्नीध्रः=आग्नीध्र, **राजा**=राजा, **अतृप्तः**=असन्तुष्ट, **कामानाम्**=इन्द्रिय भोग से, **अप्सरम्**=स्वर्ग सुन्दरी (पूर्वचित्ति), **एव**=निश्चय ही, **अनुदिनम्**=दिनों दिन, **अधि**=अत्यधिक, **मन्यमानः**=के विषय मे सोचते हुए, **तस्याः**=उसका, **स-लोकताम्**=उसी लोक को, **श्रुतिभिः**=वेदो से, **अवारुन्ध**=प्राप्त किया, **यत्र**=जहाँ, **पितरः**=पूर्वज, पितृगण, **मादयन्ते**=आनन्द लेते है।

अनुवाद

पूर्वचित्ति के बिदा होने पर, अतृप्त वासना के कारण राजा आग्नीध्र उसी के विषय में सोचते रहते। अतः वैदिक आज्ञाओं के अनुसार राजा मृत्यु के पश्चात् उसी लोक में गये जहाँ उनकी पत्नी थी। यह लोक पितृलोक है जहाँ कि पितरगण अत्यन्त आनन्द से रहते हैं।

तात्पर्य

यदि कोई किसी के विषय मे सोचता है तो मृत्यु के उपरान्त उसे वैसा ही शरीर प्राप्त होता है। महाराज आग्नीध्र पितृलोक के विषय में सोच रहे थे, जहाँ उनकी पत्नी पहुँची थी इसलिए मृत्यु के बाद उन्हे वही लोक मिला, जिससे वे उसके साथ पुनः रह सके। भगवद्गीता का (८.६) भी कथन है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए जीव देह को त्यागता है, उस उसको ही निस्सन्देह प्राप्त होता है क्योकि वह जीवन मे सदा उसी भाव से भावित रहा है।" अत हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि यदि हम निरन्तर श्रीकृष्ण का स्मरण करे अथवा पूर्णतः श्रीकृष्ण भावनाभावित हो जायँ तो हमे गोलोक वृन्दावन प्राप्त हो सकता है जहाँ श्रीकृष्ण निरन्तर वास करते है।

सम्परेते पितरि नव भ्रातरो मेरुदुहितृर्मेरुदेवीं प्रतिरूपामुग्रदंष्ट्रीं लतां रम्यां स्यामां नारीं भद्रां देववीतिमितिसंज्ञा नवोदवहन् ॥२३॥

सम्परेते पितरि=अपने पिता के प्रयाण के पश्चात्, **नव**=नौ, **भ्रातरः**=भाई; **मेरु-दुहितृः**=मेरु की पुत्रियाँ, **मेरु देवीम्**=मेरुदेवी; **प्रति-रूपाम्**=प्रतिरुपा, **उग्र-दंष्ट्रीम्**=उग्रदष्ट्री, **लताम्**=लता, **रम्यास्**=रम्या; **श्यामाम्**=श्यामा, **नारीम्**=नारी, **भद्राम्**=भद्रा, **देव-वीतिम्**=देववीति, **इति**=इस प्रकार; **संज्ञा:**=नाम, **नव**=नौ; **उदवहन्**=विवाह कर लिया।

अनुवाद

अपने पिता के प्रयाण के पश्चात् नवों भाइयों ने मेरु की नौ पुत्रियों के साथ

विवाह कर लिया, जिनके नाम मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्रदंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा तथा देववीति थे।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां भक्तिवेदान्त भाष्ये पञ्चम स्कन्धे आग्नीध्र वर्णनं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पचम स्कन्ध के अन्तर्गत, "महाराज आग्नीध्र का चरित्र" शीर्षक नामक दूसरे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय तीन

राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म

इस अध्याय में आग्नीध्र के ज्येष्ठतम पुत्र राजा नाभि के निर्मल चरित्र का वर्णन किया गया है। पुत्रेच्छा से महाराज नाभि ने कठोर तपस्या की। उन्होने अपनी पत्नी सहित अनेक यज्ञ किये और यज्ञो के स्वामी भगवान् विष्णु की आराधना की। भक्तो पर दयालु होने के कारण श्रीभगवान् महाराज नाभि की तपस्या से परम प्रसन्न हुए। वे साक्षात चतुर्भुज रूप में राजा के समक्ष प्रकट हुए। यज्ञ करने वाले पुरोहित उन्हे देखकर उनकी स्तुति करने लगे। उन्होने भगवान् से अपने ही समान पुत्र के लिए प्रार्थना की और भगवान् विष्णु ने राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से राजा ऋषभदेव के अवतार के रूप मे जन्म लेना स्वीकार कर लिया।

श्रीशुक उवाच

नाभिरपत्यकामोऽप्रजया मेरुदेव्या भगवन्तं यज्ञपुरुषमवहितात्मायजत ॥ १ ॥

श्री-शुकः उवाच = शुकदेव गोस्वामी बोले; **नाभिः** = महाराज आग्नीध्र का पुत्र, **अपत्य-कामः** = पुत्रेच्छा से, **अप्रजया** = जिसे कोई सन्तान उत्पन्न नही हुई थी, **मेरुदेव्या** = मेरुदेवी से, **भगवन्तम्** = श्रीभगवान्, **यज्ञ-पुरुषम्** = समस्त यज्ञो के भोक्ता तथा स्वामी, भगवान् विष्णु, **अवहित-आत्मा** = अत्यन्त ध्यानपूर्वक, **अयजत** = स्तुति और आराधना की।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा—आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि ने सन्तान की इच्छा की, इसलिए उन्होने समस्त यज्ञो के भोक्ता और स्वामी श्रीभगवान् विष्णु की अत्यन्त मनोयोग से स्तुति एवं आराधना प्रारम्भ की। उस समय तक महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी ने किसी सन्तान को जन्म नही दिया था, अतः वह भी अपने पति के साथ विष्णु की आराधना करने लगी।

तस्य ह वाव श्रद्धया विशुद्धभावेन यजतः प्रवर्ग्येषु प्रचरत्सु द्रव्यदेशकाल-मन्त्रर्त्विग्दक्षिणाविधानयोगोपपत्त्या दुरधिगमोऽपि भगवान् भागवतवात्सल्यतया सुप्रतीक आत्मानमपराजितं निजजनाभिप्रेतार्थविधित्सया गृहीतहृदयो हृदयङ्गमं मनोनयनानन्दनावयवाभिराममाविश्चकार ॥ २ ॥

तस्य=जब वह (नाभि); **ह वाव**=निश्चय ही; **श्रद्धया**=अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक, **विशुद्ध-भावेन**=शुद्ध निष्कलक मन से; **यजतः**=आराधना कर रहा था; **प्रवर्ग्येषु**=जबकि प्रवर्ग्य नामक कर्म, **प्रचरत्सु**=पालन किये जा रहे थे; **द्रव्य**=सामग्री; **देश**=स्थान; **काल**=समय, **मन्त्र**=स्तुति, मन्त्र, **ऋत्विक्**=पुरोहित; **दक्षिणा**=पुरोहितों को मिलने वाली भेटे, **विधान**=विधि; **योग**=तथा साधनो का, **उपपत्त्या**=करने से; **दुरधिगमः**=अप्राप्य, **अपि**=यद्यपि; **भगवान्**=श्रीभगवान्; **भागवत-वात्सल्यतया**=भक्त पर वत्सलता के कारण, **सुप्रतीकः**=अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किये, **आत्मानम्**=अपने आपको; **अपराजितम्**=दुर्जेय; **निज-जन**=भक्त का, **अभिप्रेत-अर्थ**=कामना, **विधित्सया**=पूर्ण करने; **गृहीत-हृदयः**=जिनका मन आकृष्ट हो गया हो; **हृदयङ्गमम्**=मोहक; **मनः-नयन-आनन्दन**=मन तथा नेत्रो को आनन्द प्रदान करने वाले; **अवयव**=अंगों से, **अभिरामम्**=सुन्दर, **आविश्चकार**=प्रकट किया।

अनुवाद

यज्ञ में श्रीभगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने के सात दिव्य साधन है—(१) बहु-मूल्य सामग्रियों या खाद्य पदार्थों का अर्पण (द्रव्य), (२) देश, (३) काल, (४) (मन्त्र) स्तुति अर्पण, (५) पुरोहित लगाना (ऋत्विक), (६) पुरोहितों को दान देना (दक्षिणा) तथा (७) विधि-नियमों का पालन करना। किन्तु सदैव ही इन सामग्रियों से श्रीभगवान् को प्राप्त नही किया जा सकता। तो भी ईश्वर अपने भक्त पर वत्सल होता है। अतः जब भक्त महाराज नाभि ने शुद्ध मन से अत्यन्त श्रद्धा तथा भक्ति सहित ईश्वर की आराधना और प्रार्थना प्रवर्ग्य यज्ञ करते हुए की तो अपने भक्तों पर वत्सलता के कारण परम कृपालु श्रीभगवान् राजा नाभि के समक्ष अपने दुर्जेय तथा चतुर्भुजी आकर्षक रूप में प्रकट हुए। इस प्रकार अपने भक्त की मनोकामना को पूर्ण करने के लिए श्रीभगवान् ने अपने भक्त के समक्ष अपना मनोहर रूप प्रकट किया। यह रूप भक्तों के मन तथा नेत्रों को प्रमुदित करने वाला है।

तात्पर्य

भगवद्गीता मे (१८ ५५) स्पष्ट कहा गया है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"भक्तियोग के द्वारा ही मुझ पुरुषोत्तम का स्वरूप तत्व से जाना जा सकता है। इस प्रकार भक्तियोग द्वारा मुझे पूर्ण रूप से जानने वाला तुरन्त वैकुण्ठ जगत मे प्रवेश कर जाता है।"

श्रीभगवान् को समझने और देखने का एकमात्र उपाय भक्ति करना है। यद्यपि महाराज नाभि ने मान्य कर्तव्यो तथा यज्ञो का पालन किया, किन्तु तो भी यही समझना चाहिए कि ईश्वर उनके यज्ञो के कारण नही, अपितु उनकी भक्ति के कारण प्रकट हुए। इसी हेतु ईश्वर उनके समक्ष अपने सुन्दर रूप मे प्रकट होने के लिए राजी हुए। ब्रह्मसहिता मे (५ ३०) वताया गया है कि भगवान् अपने आदि रूप मे परम सुन्दर है—**वेणुं क्वणन्तमरविन्ददलायताक्षं बर्हावतंसमसिताम्बुदसुन्दरांगम्**—यद्यपि श्रीभगवान् श्याम रग के है, किन्तु वे अत्यधिक सुन्दर है।

अथ ह तमाविष्कृतभुजयुगलद्वयं हिरण्मयं पुरुषविशेषं कपिशकौशेयाम्बरधरमुरसि विलसच्छ्रीवत्सललामं दरवरवनरुहवनमालाच्छूर्यमृतमणिगदादिभिरुपलक्षितं स्फुटकिरणप्रवरमुकुटकुण्डलकटक कटिसूत्रहारकेयूरनू पुराद्यङ्गभूषणविभूषितमृत्विक् सदस्यगृहपतयोऽधना इवोत्तमधनमुपलभ्य सबहुमानमर्हणेनावनतशीर्षाण उपतस्थुः ॥ ३ ॥

अथ=तत्पश्चात्, **ह**=निश्चय ही, **तम्**=उसको; **आविष्कृत-भुज-युगल-द्वयम्**=जो चतुर्भुज रूप मे प्रकट हुए, **हिरण्मयम्**=अत्यन्त चमकीला, **पुरुष-विशेषम्**=समस्त जीवो मे सर्वश्रेष्ठ, पुरुषोत्तम, **कपिश-कौशेय-अम्बर-धरम्**=रेशमी पीताम्वर धारण किये; **उरसि**=वक्षस्थल पर; **विलसत्**=सुन्दर, **श्रीवत्स**=श्रीवत्स नामक, **ललामम्**=चिह्नयुक्त, **दर-वर**=शख से, **वन-रुह**=कमल पुष्प, **वन-माला**=वन पुष्पो की माला; **अच्छूरि**=चक्र, **अमृत-मणि**=कौस्तुभ मणि, **गदा-आदिभिः**=गदा तथा अन्य चिह्नो से, **उपलक्षितम्**=लक्षणो से युक्त होकर; **स्फुट-किरण**=तेजस्वी, किरण-मण्डित, **प्रवर**=श्रेष्ठ, **मुकुट**=मुकुट, किरीट; **कुण्डल**=कर्णाभूषण, वालियाँ; **कटक**=ककण, **कटि-सूत्र**=करधनी, **हार**=हार; **केयूर**=वाजूवद, **नूपुर**=पॉवो मे पहना जाने वाला, पायल; **आदि**=इत्यादि; **अङ्ग**=शरीर का, **भूषण**=आभूषणों से; **विभूषितम्**=अलकृत; **ऋत्विक्**=पुरोहितगण; **सदस्य**=पार्षद, **गृहपतयः**=

(तथा) राजा नाभि, **अधना**=निर्धन व्यक्ति, **इव**=सदृश; **उत्तम-धनम्**=प्रचुर धनराशि, **उपलभ्य**=पाकर, **स-बहु-मानम्**=अत्यन्त सत्कार सहित, **अर्हणेन**= पूजा सामग्री से, **अवनत**=झुका कर; **शीर्षाणः**=अपने शिर (मस्तको), **उपतस्थुः**= स्तुति की।

अनुवाद

भगवान् विष्णु राजा नाभि के समक्ष चतुर्भुज रूप में प्रकट हुए। वे अत्यन्त तेजोमय थे और समस्त महापुरुषों में सर्वोत्तम प्रतीत हुए। वे अधोभाग में रेशमी पीताम्बर धारण किये हुए थे; उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स-चिह्न था जो सदैव शोभा देता है। उनके चारों हाथो में शंख, कमल, चक्र तथा गदा थे, उनके गले में वन-पुष्पों की माला तथा कौस्तुभमणि थी। वे मुकुट, कुण्डल, कंकण, करधनी, मुक्ता हार, बाजूबद, नूपुर तथा अन्य रत्नजटित आभूषणो से शोभित थे। भगवान् को अपने समक्ष देखकर राजा नाभि, उनके पुरोहित तथा पार्षद वैसा ही अनुभव कर रहे थे जिस प्रकार किसी निर्धन को परम धनराशि प्राप्त हुई हो। उन्होंने भगवान् का स्वागत किया, आदरपूर्वक प्रणाम किया तथा स्तुति करके वस्तुएँ भेट की।

तात्पर्य

यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि श्रीभगवान् सामान्य मनुष्य को तरह नही प्रकट हुए। वे राजा नाभि तथा उनके पार्षदो के समक्ष सर्वश्रेष्ठ पुरुष के रूप मे (पुरुषोत्तम) प्रकट हुए। जैसा कि वेदो मे कहा गया है--**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्**। श्रीभगवान् भी जीवित प्राणी है, किन्तु वे परमात्मा है। भगवद्गीता मे (७ ७) भगवान् श्रीकृष्ण स्वय कहते है--**मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय**—"हे धनजय, कोई भी सत्य मुझसे श्रेष्ठ नही" भगवान् श्रीकृष्ण से वढकर आकर्षक या प्रामाणिक अन्य कोई नही। यही ईश्वर तथा सामान्य प्राणी का अन्तर है। भगवान् विष्णु के दिव्य देह के इस विवरण से अन्य प्राणियो से भगवान् विष्णु को सरलता से पहचाना जा सकता है। फलत महाराज नाभि ने अपने पुरोहितो तथा पार्षदो समेत भगवान् को नमस्कार किया और अनेक सामग्रियो से उनकी पूजा की। जैसा कि भगवद्गीता मे (६ २२) कहा गया है--**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**—"इसे प्राप्त करके मनुष्य सोचता है कि इससे बडा अन्य लाभ नही है।" जब कोई भगवान् का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है तो उसे यही लगता है कि उसने सर्वश्रेष्ठ वस्तु प्राप्त कर ली है। **रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते**—जब उच्चतर स्वाद मिलने लगता है तो उसकी चेतना स्थिर हो जाती है। श्रीभगवान् का दर्शन कर लेने के बाद किसी वस्तु के प्रति आकर्षण नही रह जाता। तब मनुष्य श्रीभगवान् की उपासना मे स्थिर हो जाता है।

ऋत्विज ऊचुः

अर्हसि मुहुरर्हत्तमार्हणमस्माकमनुपथानां नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितं कोऽर्हति पुमान् प्रकृतिगुणव्यतिकरमतिरनीश ईश्वरस्य परस्य प्रकृतिपुरुषयो रर्वाक्तनाभिर्नामरूपाकृतिभी रूपनिरूपणम् ॥ ४ ॥ सकलजननिकायवृजिन-निरसनशिवतमप्रवरगुणगणैकदेशकथनादृते ॥ ५ ॥

ऋत्विजः ऊचुः =ऋत्विजों ने कहा, **अर्हसि** =(स्वीकार) करे, **मुहुः** =पुनः पुन ; **अर्हत्-तम** =हे श्रेष्ठ पूज्य पुरुष, **अर्हणम्** =पूजा, **अस्माकम्** =हम सब का; **अनुपथानाम्** =जो आपके दास है, **नमः** =नमस्कार है; **नमः** =नमस्कार, **इति** = इस प्रकार, **एतावत्** =यहाँ तक, **सत्** =श्रेष्ठ पुरुषो द्वारा, **उप-शिक्षितम्** =सिखाये गये; **कः** =क्या, **अर्हति** =समर्थ है, **पुमान्** =मनुष्य, **प्रकृति** =भौतिक प्रकृति का, **गुण** =गुणो का, **व्यतिकर** =रूपान्तरो मे, **मतिः** =जिसका मन (मग्न है), **अनीशः** =असमर्थ, **ईश्वरस्य** =श्रीभगवान् का, **परस्य** =परे, **प्रकृति-पुरुषयोः** =तीनो गुणो के अन्तर्गत, **अर्वाक्तनाभिः** =जो वहाँ तक नही पहुँचते अथवा जो इसी ससार के है, **नाम-रूप-आकृतिभिः** =नामो, रूपो तथा गुणो से, **रूप** =आपकी प्रकृति या स्थिति का, **निरूपणम्** =निश्चय करना, **सकल** =समस्त, **जन-निकाय** =मानव जाति का, **वृजिन** =पाप कर्म; **निरसन** =मिटाने वाले, **शिवतम** =अत्यन्त मंगलमय; **प्रवर** =श्रेष्ठतम, **गुण-गण** =दिव्य गुणो का, **एक-देश** =एक अश, **कथनात्** = कथन से, **ऋते** =केवल ।

अनुवाद

ऋत्विजगण इस प्रकार ईश्वर की स्तुति करने लगे—हे परम पूज्य ! हम आपके दास मात्र है । यद्यपि आप पूर्ण है, किन्तु अहैतुकी कृपावश ही सही, हम दासों की यत्किंचित सेवा स्वीकार करे । हम आपके दिव्य रूप से परिचित नही है, किन्तु जैसा वेदो तथा प्रामाणिक आचार्यो ने हमे शिक्षा दी है, उसके अनुसार हम आपको बारम्बार नमस्कार करते है । जीवात्माएँ गुणो से प्रति अत्यधिक आकर्षित होती है, अतः वे कभी भी पूर्ण नही है, किन्तु आप समस्त भौतिक अनुभवों से परे है । आपके नाम, रूप तथा गुण सभी दिव्य अथवा व्यावहारिक बुद्धि के परे है । भला आपको कौन पा सकता है ? इस भौतिक जगत में हम केवल नाम तथा गुण देख पाते है । हम आपको अपना नमस्कार तथा स्तुति अर्पित करने के अतिरिक्त और कुछ भी करने में समर्थ नही है । आपके शुभ दिव्य गुणो के कीर्तन से समस्त मानव जाति के पाप धुल जाते है । यही हमारा परम कर्तव्य है और इस प्रकार हम आपकी अलौकिक स्थिति को अंशमात्र ही जान सकते हैं ।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को भौतिक अनुभव से कुछ भी सरोकार नही। यहाँ तक कि अद्वैत-वादी शकराचार्य भी यही कहते है—**नारायणः परोऽव्यक्तात**—"श्रीभगवान्, नारायण, भौतिक अनुभव से परे (अव्यक्त) है।" हम श्रीभगवान् के रूप तथा लक्षणो को मन से गढ नही सकते। हमे वैदिक शास्त्रो मे दिये गये उनके रूप तथा कर्म को स्वीकार कर लेना चाहिए। **ब्रह्मसंहिता** मे (५.२९) कहा गया है—

> **चिन्तामणि-प्रकर-सद्मसु कल्प-वृक्ष-**
> **लक्षावृतेषु सुरभिरभिपालयन्तम्।**
> **लक्ष्मी-सहस्र-शत-सम्भ्रम-सेव्यमानं**
> **गोविन्दमादि-पुरुषं तमहं भजामि॥**

"मै उन आदि पुरुष गोविन्द की उपासना करता हूँ जो गायो को पालने वाले है। ये गाएँ सभी कामनाओ को पूर्ण करने वाली है, ये करोडों कल्पतरुओ से आच्छादित दिव्य मणियो से वने घरो मे रहती है। उनकी सेवा सैकडो-हजारो लक्ष्मियाँ अत्यन्त आदर सहित करती है।" हमे उनके स्वरूप एव लक्षणो का कुछ-कुछ अनुभव वैदिक साहित्य मे प्राय. उल्लेखो एव ब्रह्मा, नारद, शुकदेव जैसे सद्पुरुषो द्वारा दिये गये प्रामाणिक कथनो से प्राप्त होता है। श्रील रूप गोस्वामी कहते है—**अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यम् इन्द्रियैः**—"हम अपनी इन्द्रियो से श्रीकृष्ण के नाम, रूप तथा गुण के विषय मे अनुमान नही कर पाते।" इसीलिए ईश्वर के अन्य नाम भी है—**अधोक्षज** तथा **अप्राकृत**, जिनसे सूचित होता है कि वे सभी इन्द्रियो से परे है। भगवान् अपने भक्तो पर अहैतुकी कृपावश महाराज नाभि के समक्ष प्रकट हुए। इसी प्रकार जब हम भगवान् की भक्ति मे रत रहते है तो वह स्वय दर्शन देते है—**सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयं एव स्फुरत्य अदः**। जैसा कि भगवद्गीता मे पुष्टि की गई है—**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः**—"भक्ति के द्वारा ही श्रीभगवान् को जाना जा सकता है।" इसके लिए कोई अन्य उपाय नही है। हमे विद्वानो तथा शास्त्रो के वचनो को मानकर श्रीभगवान् के सम्वन्ध मे चिन्तन करना चाहिए। हम ईश्वर के रूपो तथा लक्षणो की मनगढत कल्पना नही कर सकते।

परिजनानुरागविरचित शबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि॥ ६॥

परिजन=आपके सेवको द्वारा; **अनुराग**=अत्यन्त आह्लाद से; **विरचित**=की

गई; **शबल**=गद्गद् वाणी से; **संशब्द**=स्तुति से; **सलिल**=जल, **सित-किसलय**=नव कोपलो से युक्त वृत्त (पल्लव), **तुलसिका**=तुलसीदल; **दूर्वा-अङ्कुरैः**=(तथा) नई उगी दूब से, **अपि**=भी, **सम्भृतया**=किया गया, **सपर्यया**=पूजा द्वारा, **किल**=निस्सन्देह, **परम**=हे परमेश्वर !, **परितुष्यसि**=सतुष्ट हो जाते हो।

अनुवाद

हे परमेश्वर ! आप सभी प्रकार से पूर्ण है। जब आपके भक्त गद्गद् वाणी से आपकी स्तुति करते है तथा आह्लादवश तुलसी दल, जल, पल्लव तथा दूब के अंकुर चढ़ाते है तो आप निश्चय ही परम सन्तुष्ट होते है।

तात्पर्य

श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए न तो विशेष धन की आवश्यकता है, न शिक्षा की। यदि कोई प्रेम तथा आह्लादपूर्वक उनमे पूर्णतया मग्न रहे तो केवल कुछ पुष्प तथा जल चढ़ाने की आवश्यकता पड़ती है। जैसा कि भगवद्गीता मे (९ २६) कहा गया है—**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति**—"यदि कोई प्रेम तथा भक्तिवश मुझको पत्ती, फूल, फल या जल अर्पित करता है तो मै उसे स्वीकार करता हूँ।"

श्रीभगवान् को केवल भक्ति से प्रसन्न किया जा सकता है इसीलिए यहाँ यह कहा गया है कि ईश्वर केवल अनुराग (भक्ति) से प्रसन्न होते है। "हरि भक्ति विलास" में **गौतमीय तंत्र** का निम्नलिखित उद्धरण आया है—

तुलसीदल मात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वम् आत्मानं भक्तेभ्यो भक्त-वत्सलः॥

"श्रीकृष्ण केवल तुलसीदल तथा अजुली भर जल चढाने वाले भक्त के हाथो विक जाते है क्योकि वे अपने भक्तो के प्रति परम वत्सल है।" श्रीभगवान् की अपने भक्तो पर अहैतुकी कृपा रहती है, अत निर्धन से निर्धन व्यक्ति जो भक्तिवश थोडा सा जल तथा एक पुष्प भी उन पर चढाता है उससे वे प्रसन्न हो जाते है। अपने भक्तो के प्रति वत्सलता के कारण ही ऐसा होता है।

अथानयापि न भवत इज्ययोरुभारभरया समुचितमर्थमिहोपलभामहे ॥ ७ ॥

अथ=अन्यथा; **अनया**=यह, **अपि**=भी, **न**=नही, **भवतः**=आपका; **इज्यया**=यज्ञ द्वारा; **उरुभार-भरया**=तमाम सामग्री के भार से वोझिल, **समुचितम्**

=वाछित, आवश्यक, अर्थम्=उपयोग, इह=यहाँ, उपललभामहे=हम देख देखते है ।

अनुवाद

हमने आपको अनेक वस्तुएँ अर्पित की है और आपके लिए अनेक यज्ञ किये हैं, किन्तु हम सोचते है कि आपको प्रसन्न करने के लिए इतने सारे आयोजनों की कोई आवश्यकता नही है ।

तात्पर्य

श्रील रूपगोस्वामी का कहना है कि यदि विना भूख के किसी के सामने ढेर सारा भोजन रख दिया जाय तो उसका कोई महत्व नही होता । इसी प्रकार बड़े-बड़े याज्ञिक अनुष्ठानो मे श्रीभगवान् को तुष्ट करने के लिए अनेक वस्तुएं एकत्र की जाती है, किन्तु यदि ईश्वर के प्रति लगाव, प्रेम नही है तो यह सारा आयोजन निरर्थक है । ईश्वर स्वय ही पूर्ण है और वे नही चाहते कि उनके लिए हम कुछ करे । किन्तु यदि हम उन्हे थोडा जल, एक फूल तथा एक तुलसीदल भेंट कर दे तो वे उन्हे स्वीकार कर लेगे । श्रीभगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र साधन भक्ति है । वडे-वडे यज्ञो को करने की कोई आवश्यकता नही। पुरोहितो को यह सोच कर विषाद हो रहा था कि वे भक्ति के पथ पर नही है और ईश्वर उनके यज्ञ से प्रसन्न नही है ।

आत्मन एवानुसवनमञ्जसाव्यतिरेकेण वोभूयमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य किन्तु नाथाशिष आशासानानामेतदभिसंराधनमात्रं भवितुमर्हति ॥ ८ ॥

आत्मनः=अपने आप, **एव**=निश्चय ही, **अनुसवनम्**=प्रत्येक क्षण, **अञ्जस**=प्रत्यक्ष, **अव्यतिरेकेण**=विना व्यवधान के; **बोभूयमान**=वर्धमान, **अशेष**=अनन्त रूप से, **पुरुष-अर्थ**=जीवन-लक्ष्य, **स्व-रूपस्य**=आपका वास्तविक रूप, **किन्तु**=लेकिन; **नाथ**=हे ईश्वर, **आशिषः**=भौतिक सुख हेतु आशीर्वाद, **आशासानानाम्**=हम सव का जिन्हे सदैव कामना रहती है, **एतत्**=यह, **अभिसंराधन**=आपका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए, **मात्रम्**=केवल, **भवितुम् अर्हति**=हो सकता है ।

अनुवाद

आप में प्रतिक्षण प्रत्यक्षतः, स्वयमेव, निरन्तर एवं असीमतः जीवन के समस्त लक्ष्यो की वृद्धि हो रही है । निस्सन्देह आप स्वयं असीम सुख तथा आनन्दमय अस्तित्व है । हे ईश्वर ! जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम सभी भौतिक सुख का पीछा कर रहे है । आपको इन समस्त याज्ञिक आयोजनो की आवश्यकता नही है । ये तो हमारे लिए है जिससे हम आपका आशीर्वाद पा सके । ये सारे यज्ञ हमारे

अपने कर्म-फल के लिए किये जाते है और वास्तव में आपको इनकी कोई वांछा नहीं है।

तात्पर्य

आत्म-निर्भर (सम्पूर्ण,) होने के कारण परमेश्वर को वड़े-वड़े यज्ञो की आवश्यकता नही है। जो अपने स्वार्थ के लिए भौतिक ऐश्वर्य की कामना करते है उनके लिए कर्म की आवश्यकता है। **यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धनः**—यदि हम परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए कर्म नही करते तो हम माया के कार्यो मे लग जाते है। हम विशाल मन्दिर का निर्माण करके हजारो डालर व्यय कर सकते है किन्तु ईश्वर को ऐसे मन्दिर की आवश्यकता नही है। ईश्वर के पास ऐसे लाखो मन्दिर है, उन्हे हमारे प्रयास की कोई आवश्यकता नही है। उन्हे ऐश्वर्य के कार्य कदापि नही चाहिए। ऐसा कार्य तो हमारे आत्म-लाभ के लिए होता है। क्योकि यदि हम अपने धन को विशाल मन्दिर निर्माण कार्य मे लगा देते है तो हम अपने प्रयास द्वारा बन्धन से मुक्त रहते है। यह हमारे कल्याण के लिए है। साथ ही, यदि हम भगवान् के लिए कुछ अच्छा कार्य करते है तो वे प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते है। निष्कर्ष के रूप मे यह कहा जा सकता है कि ऐसे विशाल आयोजन ईश्वर के लिए नही, अपितु हमारे अपने लिए होते है। यदि हम किसी प्रकार से ईश्वर का आशीर्वाद प्राप्त कर सके तो हमारा अन्त करण पवित्र हो सकता है और हम भगवान् के धाम वापस जाने के भागी वन सकते है।

तद्यथा बालिशानां स्वयमात्मनः श्रेयः परमविदुषां परमपरमपुरुष प्रकर्ष-करुणया स्वमहिमानं चापवर्गाख्यमुपकल्पयिष्यन् स्वयं नापचित एवेतरवदिहोपलक्षितः ॥ ६ ॥

तत्=वह; **यथा**=जिस प्रकार, **बालिशानाम्**=मूर्खो का, **स्वयम्**=स्वय, **आत्मनः**=अपना, **श्रेयः**=कल्याण; **परम्**=परम, **अविदुषाम्**=अज्ञानियो का, **परम-परम-पुरुष**=हे ईश्वरो के भी ईश्वर, **प्रकर्ष-करुणया**=प्रभूत करुणावश, **स्व-महिमानम्**=अपनी व्यक्तिगत महिमा, **च**=तथा, **अपवर्ग-आख्यम्**=अपवर्ग (मुक्ति) कहलाने वाली, **उपकल्पयिष्यन्**=देने की इच्छा से, **स्वयम्**=स्वय, **न अपचितः**=समुचित रीति से पूजा न होने से, **एव**=यद्यपि, **इतर-वत्**=सामान्य पुरुष की भाँति, **इहः**=यहाँ, **उपलक्षितः**=(आप) है और (हमारे द्वारा) देखते जाते है।

अनुवाद

हे भगवान्, हम धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से पूर्णतया अनभिज्ञ है क्योकि हमें जीवन-लक्ष्य का ठीक से पता नही है। आप यहाँ हमारे समक्ष साक्षात् इस प्रकार

प्रकट हुए है जिस प्रकार कोई व्यक्ति जानबूझ कर अपनी पूजा कराने के लिए आया हो। किन्तु ऐसा नहीं है, आप तो इसलिए प्रकट हुए है जिससे हम आपके दर्शन कर सकें। आप अपनी प्रभूत तथा अहैतुकी करुणावश हमारा उद्देश्य, एवं हमारा हित करने तथा अपवर्ग का लाभ प्रदान करने हेतु प्रकट हुए है। हम अपनी अज्ञानता के कारण आपकी ठीक से उपासना भी नहीं कर पाये, तो भी आप पधारे हुए है।

तात्पर्य

भगवान् विष्णु स्वयं यज्ञ-स्थल पर उपस्थित हुए, किन्तु इसका अर्थ नही है कि उनका कोई स्वार्थ था। इसी प्रकार मन्दिर में अर्चा-विग्रह रहता है। मात्र अपनी अहैतुकी करुणा से श्रीभगवान् उपस्थित होते है जिससे हम उनका दर्शन पा सके। हम दिव्य दृष्टि न होने के कारण ईश्वर के सत् चित्-आनन्द विग्रह को नही देख पाते, इसीलिए अकारण अनुग्रहवश वे इस रूप में प्रकट होते है कि हम उन्हे देख सके। हमे पत्थर तथा लकडी के समान स्थूल पदार्थ दिखाई पड़ते है इसीलिए वे मन्दिरो मे पत्थर तथा लकड़ी का रूप धारण करके हमारी सेवा स्वीकारते है। यह ईश्वर की अहैतुको कृपा का प्रदर्शन है। यद्यपि उनकी ऐसी वस्तुओ के प्रति कोई रुचि नही है, किन्तु हमारी प्रेमाभक्ति प्राप्त करने के लिए वे ऐसा करते है। वास्तव मे हम भगवान् की पूजा के लिए उपयुक्त सामग्रियो की भेट चढा भी नही सकते क्योकि हमें कोई ज्ञान नही है। मात्र अहैतुकी कृपावश ही ईश्वर महाराज नाभि के यज्ञ-स्थल मे प्रकट हुए।

अथायमेव वरो ह्यर्हत्तम यर्हि बर्हिषि राजर्षेर्वरदर्षभो भवान्निजपुरुषेक्षणविषय आसीत् ॥ १० ॥

अथ=तव, **अयम्**=यह; **एव**=निश्चय ही, **वरः**=आशीर्वाद, **हि**=निस्सदेह; **अर्हत्-तम**=पूज्यतम, **यर्हि**=क्योकि; **बर्हिषि**=यज्ञ मे, **राज-ऋषेः**=राजा नाभि का, **वरद-ऋषभः**=वरदायको मे श्रेष्ठ, **भवान्**=आप, **निज-पुरुष**=अपने भक्तों का; **ईक्षण-विषयः**=देखने योग्य वस्तु, **आसीत**=हो गई है।

अनुवाद

हे पूज्यतम! आप समस्त वरदायकों में श्रेष्ठ हैं और राजर्षि नाभि की यज्ञ-शाला में आपका प्राकट्य हमें आशीर्वाद देने के लिए हुआ है। चूंकि हमने आपको देख लिया है इसलिए आपने हमें अमूल्य वर प्रदान किया है।

तात्पर्य

निज-पुरुष-ईक्षण-विषय—भगवद्गीता मे (९.२९) श्रीकृष्ण कहते है, **समोऽहं सर्वभूतेषु**—मै किसी से द्वेष नही करता और न किसी का पक्षपात करता हूँ, जीवमात्र मे मेरा समभाव है। परन्तु जो प्राणी भक्तिभाव से मेरी सेवा करते है, वे मेरे प्रिय मुझ मे ही स्थित है और मैं भी उनका प्रिय हूँ, उनमे हूँ।

श्रीभगवान् सबके लिए समान है। इस अर्थ में न तो उनका कोई शत्रु है, न कोई मित्र। प्रत्येक प्राणी अपने कर्मो का फल भोगता है और ईश्वर सबो के हृदय में स्थित होकर सबों को देखता तथा उन्हे वाछित फल देता है। जिस प्रकार भक्तगण ईश्वर को सर्वभावेन सतुष्ट देखना चाहते है उसी प्रकार से ईश्वर अपने भक्तो के समक्ष अपने को उपस्थित करने के लिए इच्छुक रहता है। श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता मे (४.८) कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

"भक्तजनो का उद्धार, दुष्टो का विनाश तथा धर्म की फिर से स्थापना के लिए मै युग-युग में प्रकट होता हूँ।" इस प्रकार श्रीकृष्ण का आविर्भाव अपने भक्तो को छुटकारा तथा सतोष देने के लिए होता है। वे केवल दुष्टो को दलने के लिए अवतार नही लेते क्योकि इस कार्य को तो उनके दूत भी कर सकते है। महाराज नाभि के यज्ञस्थल में भगवान् विष्णु का प्रकट होना राजा तथा उनके अनुचरो को प्रसन्न करने के अतिरिक्त और कुछ न था अन्यथा वहाँ उनके उपस्थित होने का कोई प्रयोजन नही था।

असङ्गनिशितज्ञानानलविधूताशेषमलानां भवत्स्वभावानामात्मारामाणां
मुनीनामनवरतपरिगुणितगुणगण परममङ्गलायनगुणगणकथनोऽसि ॥ ११ ॥

असङ्ग=वैराग्य से; **निशित**=दृढ़ किया है; **ज्ञान**=ज्ञान की, **अनल**=अग्नि से; **विधूत**=हटाया गया, **अशेष**=असीम; **मलानाम्**=जिनकी मलिन वस्तुएँ; **भवत्-स्वभावानाम्** =जिन्होने आपके गुण प्राप्त कर लिए है, **आत्म-आरामाणाम्**= जो आत्म-तुष्ट है, आत्माराम, **मुनीनाम्**=मुनियो का, **अनवरत**=लगातार, निरन्तर, **परिगुणित**=स्मरण करते, **गुण-गण**=जिसके सद्गुण समूह, **परम-मङ्गल** =परम-आनन्द; **आयन**=उत्पन्न करता है; **गुण-गण-कथनः**=जिसके लक्षणो का जप, **असि**=तुम हो।

अनुवाद

हे ईश्वर ! समस्त विचारवान् मुनि तथा साधु पुरुष निरन्तर आपके गुणों का गान करते रहते है। इन मुनियो ने अपनी ज्ञान-अग्नि से अपार मलराशि को पहले ही दग्ध कर दिया है और इस ससार से अपने वैराग्य को सुदृढ़ किया है। इस प्रकार वे आपके गुणों को ग्रहण कर आत्म-तुष्ट हैं। तो भी जिन्हे आपके गुणों के जपने में परम-आनन्द आता है उनके लिए भी आपका दर्शन दुर्लभ है।

तात्पर्य

महाराज नाभि के यज्ञस्थल मे समवेत पुरोहितो ने भगवान् विष्णु के द्वारा साक्षात् दर्शन दिये जाने की भूरि-भूरि प्रशसा की और अपने को परम धन्य माना। ईश्वर का दर्शन उन महान सन्तो के लिए भी, जिन्होने भौतिक ससार से वैराग्य ले लिया है और जिनके हृदय ईश्वर की महिमा का निरन्तर जप करने के कारण विमल है दुर्लभ है। ऐसे पुरुष ईश्वर के दिव्य गुणो का जप करके सतुष्ट रहते है। उन्हे ईश्वर के प्राकट्य की आवश्यकता नही रहती। ऋषिगण यह इगित करना चाहते है कि ईश्वर का साक्षात्कार महान् साधुओ के लिए भी दुर्लभ है, किन्तु वे उन पर इतने प्रसन्न हुए कि वे साक्षात् प्रकट हो गये। इसीलिए समस्त याचक अत्यधिक कृतकृत्य हुए।

अथ कथञ्चित्स्खलनक्षुत्पतनजृम्भणदुरवस्थानादिषु विवशानां नः स्मरणाय ज्वरमरणदशायामपि सकलकश्मलनिरसनानि तव गुणकृतनामधेयानि वचन-गोचराणि भवन्तु ॥ १२ ॥

अथ=अब भी, **कथञ्चित्**=किसी प्रकार से, **स्खलन**=ठोकर खाने, **क्षुत्**=भूख, **पतन**=गिरने, **जृम्भण**=जम्हाई लेने, **दुरवस्थान**=प्रतिकूल स्थिति मे रहने के कारण, **आदिषु**=इत्यादि, **विवशानाम्**=असमर्थ, **नः**=हम सब का, **स्मरणाय**=याद रखने, **ज्वर-मरण-दशायाम्**=मृत्यु के समय तेज ज्वर की दशा मे, **अपि**=भी, **सकल**=समस्त, **कश्मल**=पाप, **निरसनानि**=दूर करने वाले, **तव**=तुम्हारे, **गुण**=गुण, **कृत**=कर्म, **नामधेयानि**=नाम, **वचन-गोचराणि**=उच्चरित हो सकने वाले, **भवन्तु**=हो सके।

अनुवाद

हे ईश्वर ! सम्भव है कि हम लड़खड़ाने, भूखे रहने, गिरने, जम्हाई लेने या ज्वर के कारण मृत्यु के समय शोचनीय रुग्ण अवस्था में रहने के कारण, आपके नाम का स्मरण न कर पावे। अतः हे ईश्वर ! हम आपकी स्तुति करते है क्योकि

आप भक्तों पर वत्सल रहते है। आप हमें अपने पवित्र नाम, गुण तथा कर्म को स्मरण कराने में सहायक हों जिससे हमारे पापी जीवन के सभी पाप दूर हो जायँ।

तात्पर्य

जीवन की वास्तविक सफलता है—**अन्ते नारायण-स्मृति**—अर्थात् मृत्यु के समय ईश्वर के पविल, नाम, गुण तथा रूप का स्मरण। भले ही हम मन्दिरो मे ईश्वर की पूजा मे लगे रहे, किन्तु भौतिक परिस्थितियाँ इतनी कठिन तथा दुस्तर है कि मृत्यु के समय रुग्ण अवस्था या मानसिक विक्षेप के कारण हम ईश्वर को स्मरण करना भूल सकते है। इसीलिए हमे ईश्वर से यही प्रार्थना करनी चाहिए कि हमे मृत्यु के समय अपने चरणकमल का स्मरण करने के योग्य रखे, क्योकि उस समय हमारी स्थिति नाजुक होगी। इस प्रसग के लिए हमें श्रीमद्भागवत (६-२, ९-१० तथा १४-१५) देखना चाहिए।

किञ्चायं राजर्षिरपत्यकामः प्रजां भवादृशीमाशासान ईश्वरमाशिषां स्वर्गापवर्गयोरपि भवन्तमुपधावति प्रजायामर्थप्रत्ययो धनदमिवाधनः फलीकरणम् ॥ १३ ॥

किञ्च=इसके अतिरिक्त, **अयम्**=यह, **राज-ऋषि**=पविल राजा (नाभि), **अपत्य-कामः**=सन्तान का इच्छुक, **प्रजाम्**=एक पुत्न, **भवादृशीम्**=आपके ही सदृश; **आशासानः**=आशा युक्त, **ईश्वरम्**=परम नियन्ता, **आशिषाम्**=आशीर्वादो का, **स्वर्ग-अपवर्गः**—स्वर्गलोक तथा मुक्ति का, **अपि**=यद्यपि; **भवन्तम्**=आपको, **उपधावति**=उपासना करता है, **प्रजायाम्**=लडके-वच्चे, सन्तान, **अर्थ-प्रत्ययः**=जीवन का परम लक्ष्य मानते हुए, **धन-दम्**=दानी को; **इव**=सदृश, **अधनः**=निर्धन पुरुप, **फलीकरणम्**=थोडा सा भूसा।

अनुवाद

हे ईश्वर! आपके समक्ष महाराज नाभि है जिनके जीवन का परम लक्ष्य आपके ही समान पुत्र प्राप्त करना है। भगवन्! उसकी स्थिति उस व्यक्ति जैसी है जो एक अत्यन्त धनवान पुरुष के पास थोड़ा सा अन्न माँगने के लिए जाता है। पुत्नेच्छा से ही वे आपकी उपासना कर रहे है, और आप उन्हे कोई भी उच्चतम पद प्रदान कर सकने में समर्थ हैं—चाहे वह स्वर्ग हो या मुक्ति लाभ।

तात्पर्य

पुरोहित कुछ कुछ शर्मिदा थे कि राजा नाभि ईश्वर से पुत्र का वर प्राप्त करने

के लिए इतना बडा यज्ञ कर रहे है। ईश्वर उन्हे स्वर्ग या वैकुण्ठलोक भेज सकते थे। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने हमे शिक्षा दी है कि श्रीभगवान् तक कैसे पहुँचा जाय और श्रेष्ठ वर माँगा जाय। वे कहते है—**न धनं न जनं न सुन्दरीं 'कविता' वा जगदीश कामये।** वे भगवान् से कोई भौतिक वस्तु नही माँगना चाहते। भौतिक ऐश्वर्य का अर्थ है धन, उत्तम कुल, सुन्दर पत्नी तथा अनेक अनुचर, किन्तु ज्ञानी-भक्त ईश्वर से ऐसी वस्तुओ की याचना नही करता। बस उसकी तो प्रार्थना है—**मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।** वे ईश्वर की प्रिय सेवा मे निरन्तर लगे रहना चाहते है। वे न तो स्वर्ग चाहते है, न भवबन्धन से मुक्ति। यदि ऐसा होता तो श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कदापि यह न कहा होता— **मम जन्मनि जन्मनि।** जव तक कोई भक्त, भक्त वना रहता है, उसके लिए इसका कोई महत्व नही होता कि वह जन्म-जन्मातर तक जन्म लेता रहेगा अथवा नही। शाश्वत स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ है श्रीभगवान् के धाम को वापस जाना। भक्त को भौतिक वस्तुओ से कोई सरोकार नही रहता। यद्यपि नाभि महाराज विष्णु जैसा पुत्र चाहते थे, किन्तु ईश्वर के समान पुत्रेच्छा भी इन्द्रिय-तृप्ति का एक प्रकार है। शुद्ध भक्त तो ईश्वर की प्रेमाभक्ति मे लिप्त रहना चाहता है।

को वा इह तेऽपराजितोऽपराजितया माययानवसितपदव्यानावृतमतिर्विषय-विषरयानावृतप्रकृतिरनुपासितमहच्चरणः ॥ १४ ॥

कः वा=ऐसा कौन पुरुष है, **इह**=इस ससार मे, **ते**=तुम्हारा (श्रीभगवान् का), **अपराजितः**=न पराजित हो सकने वाला, **अपराजितया**=अपराजित द्वारा, **मायया**=माया के द्वारा, **अनवसित-पदव्य**=जिसका पथ निर्दिष्ट न किया जा सके, **अनावृत-मतिः**=जिसकी बुद्धि मोहग्रस्त नही है, **विषय-विष**=विष तुल्य भौतिक सुख का, **रय**=पथ से होकर, **अनावृत**=खुला हुआ, **प्रकृतिः**=जिसकी प्रकृति, **अनुपासित**=विना उपासना किये; **महत्-चरणः**=परम भक्तो के चरणकमल।

अनुवाद

हे ईश्वर! जब तक मनुष्य परम भक्तों के चरण कमलों की उपासना नही करता, तव तक उसे माया परास्त करती रहेगी और उसकी बुद्धि मोहग्रस्त बनी रहेगी। निस्सन्देह, ऐसा कौन है जो विष तुल्य भौतिक सुख की तरंगों में न बहा हो? आपकी माया दुर्जेय है। न तो इस माया के पथ को किसी ने देखा है, न इसकी कार्य प्रणाली को ही कोई बता सकता है।

तात्पर्य

महाराज नाभि पुत्र-प्राप्ति के लिए महान यज्ञ कर रहे थे। हो सकता है कि उनका पुत्र श्रीभगवान् के ही समान उत्तम होता, किन्तु ऐसी इच्छा चाहे छोटी हो या वडी, माया के प्रभाव से ही मन मे आती है। भक्त कभी भी अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए किसी वस्तु की कामना नही करता। इसीलिए भक्ति को निष्काम (**अन्याभिलाषिता-शून्यं**) कहा गया है। प्रत्येक प्राणी माया से प्रभावित है और सभी प्रकार की भौतिक कामना मे फँसा हुआ है। महाराज नाभि भी इसके अपवाद न थे। माया के प्रभाव से वचने का एकमात्र उपाय है कि वड़े-वडे भक्तो की सेवा की जाय (**महच्चरण-सेवा**)। महान भक्त के चरण-कमल की उपासना किये विना माया के प्रभाव से मुक्त नही हुआ जा सकता। इसीलिए श्रील नरोत्तमदास ठाकुर कहते है— **छाडिया वैष्णव-सेवा निस्तार पायेछे केबा**—"ऐसा कौन है जो वैष्णव के चरण-कमल की सेवा के विना माया के चगुल से बच सका हो।" माया अपराजित है और उसका प्रभाव भी अपराजित है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता मे (७ १४) की गई है— **दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया**—"मेरी त्रिगुणमयी दैवी शक्ति अपराजेय है।"

माया के इतने वड़े प्रभाव को भक्त ही लाँघ सकता है। यह महाराज नाभि का दोष न था कि उन्होने पुत्र की इच्छा व्यक्त की। वे ऐसा पुत्र चाहते थे जो श्रीभगवान् के ही सदृश सर्वश्रेष्ठ हो। ईश्वर के भक्त को सगति से भौतिक ऐश्वर्य की इच्छा नही रह जाती। इसकी पुष्टि **चैतन्य चरितामृत** मे की गई है—

'साधु संग,' 'साधु संग' सर्व-शास्त्रे कय।
लव-मात्र साधु सगे सर्व-सिद्धि हय॥

तथा मध्य २२५१—

महत्-कृपा बिना कोन कर्मे 'भक्ति' नय।
कृष्ण-भक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय॥

यदि कोई माया के प्रभाव से निकलना चाहता है और भगवान् के धाम जाने का इच्छुक है तो उसे साधु (भक्त) की सगति करनी चाहिए। सभी शास्त्रो का यही मत है। साधु के रचमात्र सत्सग से माया के चगुल से छूटा जा सकता है। शुद्ध भक्त के अनुग्रह बिना अन्य किसी उपाय से मुक्त नही हुआ जा सकता। निस्सन्देह ईश्वर की प्रेमाभक्ति पाने के लिए शुद्ध भक्त की सगति आवश्यक है। साधु सग के विना माया के चगुल से छूटना कठिन है। श्रीमद्भागवत मे (७ ५.३२) प्रह्लाद महाराज कहते है—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्‌घ्रि स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः ।
महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किंचनानां न वृणीत यावत् ।।

जब तक कोई सिर पर महान पुरुष (साधु) की धूलि को धारण नही करता तब तक वह ईश्वर का भक्त नही बन सकता (**पादरजोऽभिषेकं**)। शुद्ध भक्त निष्किंचन होता है—अर्थात् उसे इस ससार के भोग की कोई इच्छा नही रहती। मनुष्य को चाहिए कि ऐसे भक्त के गुणो को प्राप्त करने के लिए उसकी शरण मे जाय। शुद्ध भक्त माया के चगुल से सदैव मुक्त रहने वाला है।

यदु ह वाव तव पुनरदभ्रकर्तरिह समाहूतस्तत्रार्थधियां मन्दानां नस्तद्यद्देवहेलनं देवदेवार्हसि साम्येन सर्वान् प्रतिबोढुमविदुषाम् ।।१५।।

यत्=क्योकि, **उ ह वाव**=निस्सदेह, **तव**=तुम्हारा, **पुनः**=फिर, **अदभ्र-कर्तः**=हे ईश्वर, जो अनेक कर्म करता है, **इह**=यहाँ, इस यज्ञ-स्थल मे, **समाहूतः**=आमन्त्रित, **तत्र**=अत, **अर्थ-धियाम्**=भौतिक कामनाओ को पूरा करने के लिए इच्छुक, **मन्दानाम्**=कम बुद्धि वाले, मूढ, **नः**=हम सबका, **तत्**=वह, **यत्**=जो, **देव-हेलनम्**=श्रीभगवान् की अवहेलना, **देव-देव**=परमदेव, **अर्हसि**=जो पसन्द आवे, **साम्येन**=समभाव के कारण, **सर्वान्**=सब कुछ, **प्रतिबोढुम्**=सहन करते है, **अविदुषाम्**=हम अल्प ज्ञानियो का।

अनुवाद

हे ईश्वर ! आप अनेक अद्‌भुत कार्य कर सकने में समर्थ है। इस यज्ञ के करने का हमारा एकमात्र लक्ष्य पुत्र प्राप्त करना था, अतः हमारी बुद्धि प्रखर नही है। हमे जीवन-लक्ष्य निर्धारित करने का कोई अनुभव नही है। भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु किये गये इस तुच्छ यज्ञ में आपको आमन्त्रित करके हमने महान पाप किया है। अतः, हे सर्वेश ! आप अपनी अहैतुकी कृपा तथा समदृष्टि से हमें क्षमा करें।

तात्पर्य

ऋत्विजगण निश्चित रूप से अप्रसन्न थे क्योकि उन्होने एक तुच्छ कार्य के लिए परमेश्वर को वैकुण्ठ से बुलाया था। शुद्ध भक्त नही चाहता कि वृथा ही ईश्वर दर्शन दे। ईश्वर विविध कार्यो मे सलग्न रहते है और शुद्ध भक्त यह कभी नही चाहता कि अपनी इन्द्रिय-तुष्टि के लिए ऐसे ही उनका दर्शन करे। वह तो उनके अनुग्रह पर आश्रित रहता है और जब ईश्वर प्रसन्न होता है तो भक्त उन्हे प्रत्यक्ष देख सकता है। वैसे ईश्वर ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवताओ द्वारा भी अलक्षित रहता

है। श्रीभगवान् का आह्वान करके महाराज नाभि के ऋत्विजो ने अपने को अज्ञानी सिद्ध कर दिया था, तो भी ईश्वर अपनी अहैतुकी कृपा से प्रकट हुए। इसीलिए सवो ने ईश्वर से क्षमा-याचना थी।

विद्वानो ने भौतिक लाभ के लिए श्रीभगवान् की उपासना की अनुमति नही दी है। भगवद्गीता मे (७ १६) कहा गया है—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"हे अर्जुन! विपदाग्रस्त, धन की इच्छा करने वाले, जिज्ञासु तथा ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मेरी भक्ति करते है।"

भक्ति की दीक्षा उसी समय प्रारम्भ होती है जव कोई विपदाग्रस्त होता है, धन चाहता है अथवा परम सत्य को जानना चाहता है। किन्तु इस प्रकार ईश्वर के पास जाने वाले लोग वास्तविक भक्त नही है। वे तो पवित्रात्मा (सुकृतिनः) है जो परम सत्य श्रीभगवान् के सम्वन्ध मे जिज्ञासा करते है। वे ईश्वर के विविध कार्यो को न जानते हुए भौतिक लाभ के लिए उन्हे वृथा ही तग नही करते है। किन्तु ईश्वर इतने दयालु है कि तग किये जाने पर भी ऐसे याचको की मनोकामना पूर्ण करते है। शुद्ध भक्त तो **अन्याभिलाषिता-शून्य** होता है, उसकी उपासना के पीछे कोई उद्देश्य नही रहता। वह कर्म या ज्ञान के रूप मे माया के प्रभाव द्वारा प्रेरित नही होता। शुद्ध भक्त अपनी परवाह किये विना ईश्वर की आज्ञा-पालन करने के लिए सन्नद्ध रहता है। ऋत्विजगण कर्म तथा भक्ति के अन्तर के पूर्ण परिचित थे, अत अपने को कर्माधीन मानकर उन्होने ईश्वर से क्षमा याचना की। उन्हे यह ज्ञात था कि अत्यन्त छुद्र कार्य के लिए ईश्वर को बुलाया गया है।

श्रीशुक उवाच

इति निगदेनाभिष्टूयमानो भगवाननिमिषर्षभो वर्षधराभिवादिताभिवन्दित-चरणः सदयमिदमाह ॥१६॥

श्री-शुकः उवाच=श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा, **इति**=इस प्रकार, **निगदेन**=गद्य स्तुति द्वारा, **अभिष्टूयमानः**=आराधित होकर, **भगवान्**=श्रीभगवान्, **अनिमिष-ऋषभः**=समस्त देवताओ मे प्रमुख, **वर्ष-धर**=भारतवर्ष के सम्राट राजा नाभि द्वारा, **अभिवादित**=पूजित होकर, **अभिवन्दित**=झुककर, **चरणः**=जिनके पाँव, **सदयम्**=कृपापूर्वक, **इदम्**=यह, **आह**=कहा।

अनुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—भारतवर्ष के सम्राट, राजा नाभि द्वारा पूजित ऋत्विजो ने गद्य में (सामान्यतः पद्य में) ईश्वर की स्तुति की और वे सभी उनके चरणकमलों पर झुक गये। देवताओं के अधिपति, परमेश्वर उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले।

श्रीभगवानुवाच

अहो बताहमृषयो भवद्भिरवितथगीर्भिर्वरमसुलभमभियाचितो यदमुष्यात्मजो मया सदृशो भूयादिति ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यादथापि ब्रह्मवादो न मृषा भवितुमर्हति ममैव हि मुखं यद् द्विजदेवकुलम् ॥१७॥

श्री-भगवान् उवाच=श्रीभगवान् ने कहा, **अहो**=ओह!, **बत**=सचमुच प्रसन्न हूँ; **अहम्**=मै, **ऋषयः**=हे ऋषियो; **भवद्भिः**=आप लोगो के द्वारा; **अवितथ-गीर्भिः**=जिनके वचन सत्य है, **वरम्**=वर पाने के लिए, **असुलभम्**=प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, **अभियाचितः**=याचना किया हुआ, **यत्**=वह; **अमुष्य**=राजा नाभि का, **आत्म-जः**=पुत्र, **मया सदृशः**=मेरे समान, **भूयात्**=होवे; **इति**=इस प्रकार, **मम्**=मेरा, **अहम्**=मै, **एव**=केवल, **अभिरूपः**=समान, **कैवल्यात्**=अद्वितीय, **अथापि**=तो भी, **ब्रह्म-वादः**=ब्राह्मणो के वचन, **न**=नही; **मृषा**=झूठे, **भवितुम्**=होना; **अर्हति**=चाहिए, **मम**=मेरा, **एव**=निश्चय ही; **मुखम्**=मुख; **यत्**=वह, **द्विज-देव-कुलम्**=शुद्ध ब्राह्मणो का कुल।

अनुवाद

श्रीभगवान् बोले—हे ऋषियो! मै आपकी स्तुतियों से परम प्रसन्न हुआ हूँ। आप सभी सत्यवादी हैं। आप लोगों ने राजा नाभि के लिए मेरे समान पुत्र की प्राप्ति के लिए स्तुति की है, किन्तु ऐसा दुर्लभ है। चूंकि मै अद्वितीय हूँ और मेरे समान अन्य कोई नहीं है, अतः मुझ जैसा पुरुष दुर्लभ है। तो भी आप सभी सुपात्र ब्राह्मण है, आपका वचन मिथ्या सिद्ध नही होना चाहिए। मै सुयोग्य ब्राह्मणों को अपने मुख के समान उत्तम मानता हूँ।

तात्पर्य

अवितथ-गीर्भिः का अर्थ है "वे जिनके वचन मिथ्या नही हो सकते।" शास्त्रो के अनुसार ब्राह्मण (द्विज) परमेश्वर के समान शक्तिमान है। ब्राह्मण चाहे जो भी कहे वह न तो असत्य हो सकता है, न बदला जा सकता है। वैदिक आज्ञाओं के

अनुसार ब्राह्मण तो श्रीभगवान् का मुख है। इसीलिए समस्त सस्कारों मे ब्राह्मण को भोजन दिया जाता है क्योकि ऐसा माना जाता है कि जब ब्राह्मण भोजन करता है तो श्रीभगवान् स्वय भोजन करते है। इसी प्रकार, ब्राह्मण जो भी कहता है उसे बदला नही जा सकता। महाराज नाभि के यज्ञ मे सम्मिलित होने वाले पुरोहित (ऋत्विज) न केवल ब्राह्मण थे वरन् इतने योग्य थे कि वे देवो अथवा स्वय ईश्वर के तुल्य थे। यदि ऐसा न होता भला वे भगवान् विष्णु को यज्ञ-स्थल पर किस प्रकार बुला पाते ? ईश्वर एक है। वह किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नही है। कलियुग मे विभिन्न सम्प्रदाय वाले अपने ईश्वर को दूसरो के ईश्वर से भिन्न मानते है, किन्तु यह असम्भव है। ईश्वर एक है और दृष्टिभेद के अनुसार प्रशसित होता है। इस श्लोक के **कैवल्यात्** शब्द का अर्थ है कि ईश्वर का कोई प्रतियोगी नही है। ईश्वर केवल एक है। **श्वेताश्वतर उपनिषद** मे (६ ८) कहा गया है—**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते**—"उसके तुल्य या उससे बड़ा कोई नही है।" ईश्वर की यही परिभाषा है।

तत आग्नीध्रीयेऽशकलयावतरिष्याम्यात्मतुल्यमनुपलभमानः ॥१८॥

ततः=अत; **आग्नीध्रये**=आग्नीध्र के पुत्र नाभि की स्त्री में; **अंश-कलया**=अपने रूप के एक अश द्वारा, **अवतरिष्यामि**=मै स्वय अवतार लूँगा; **आत्म-तुल्यम्**=अपने ही समान; **अनुपलभमान.**=न पाकर।

अनुवाद

चूँकि मुझे अपने तुल्य और कोई नहीं मिल पा रहा, इसलिए मैं स्वयं ही अंश रूप में आग्नीध्र के पुत्र महाराज नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से अवतार लूँगा।

तात्पर्य

यह श्रीभगवान् की सर्वशक्ति का उदाहरण है। यद्यपि वे अद्वितीय है, किन्तु कभी वे **स्वांश** द्वारा अपना विस्तार करते है तो कभी **विभिन्नांश** द्वारा। यहाँ पर विष्णु अपने स्वांश को महाराज नाभि की स्त्री मेरुदेवी के पुत्र के रूप मे भेजने को तत्पर हो जाते है। ऋत्विज जानते थे कि ईश्वर एक है तो भी उन्होने परमेश्वर से महाराज नाभि का पुत्र बनने के लिए स्तुति की जिससे ससार जान सके कि श्रीभगवान् एक है, उनके समान कोई अन्य नही। जब वे अवतार लेते है तो वे विभिन्न शक्तियों के रूप में अपना विस्तार करते हैं।

श्रीशुक उवाच

इति निशामयन्त्या मेरुदेव्याः पतिमभिधायान्तर्दधे भगवान् ॥१९॥

श्री-शुकः उवाच=श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा, **इति**=इस प्रकार, **निशामयन्त्याः**=सुनते हुए, **मेरुदेव्याः**=मेरुदेवी के समक्ष, **पतिम्**=अपने पति को, **अभिधाय**=कहकर, **अन्तर्दधे**=अन्तर्धान हो गये, **भगवान्**=श्रीभगवान् ।

अनुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—ऐसा कहकर भगवान् अदृश्य हो गये । राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी अपने पति के पार्श्व में बैठी थी फलस्वरूप परमेश्वर ने जो कुछ कहा था उसे वे सुन रही थी ।

तात्पर्य

वैदिक आज्ञाओ के अनुसार पति को अपनी पत्नी के साथ यज्ञ करना चाहिए । **सपत्नीको धर्म आचरेत्**—धार्मिक कृत्यो को अपनी पत्नी के साथ करना चाहिए । इसलिए महाराज नाभि ने इस महान यज्ञ को अपनी पत्नी सहित सम्पन्न किया ।

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार ॥२०॥

बर्हिषि=यज्ञ-स्थल में, **तस्मिन्**=उस; **एव**=इस प्रकार; **विष्णु-दत्त**=हे महाराज परीक्षित, **भगवान्**=श्रीभगवान्, **परम-ऋषिभिः**=महर्षियों द्वारा; **प्रसादित**=प्रसन्न किये जाने पर, **नाभेः प्रिय-चिकीर्षया**=राजा नाभि को प्रसन्न करने के लिए, **तत्-अवरोधायने**=अपनी पत्नी मे, **मेरुदेव्याम्**=मेरुदेवी मे, **धर्मान्**=धार्मिक नियम, **दर्शयितु-कामः**=यह दिखाने के लिए कि किस प्रकार करना चाहिए, **वात-रशनानाम्**=सन्यासियो का (जो वस्त्र नही धारण करते), **श्रमणानाम्**=वानप्रस्थियो का, **ऋषीणाम्**=ऋषियो का, **ऊर्ध्व-मन्थिनाम्**=ब्रह्मचारियो का; **शुक्लया तनुवा**=उनके आद्य सत् स्वरूप मे, जो गुणो के परे है, **अवततार**=अवतार लिया ।

अनुवाद

हे विष्णुदत्त परीक्षित महाराज ! उस यज्ञ के ऋषियों से श्रीभगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए । फलस्वरूप उन्होने स्वयं धर्माचरण करके दिखलाने (जैसा कि ब्रह्मचारी संन्यासी, वानप्रस्थ तथा ग्रहस्थ करते है) और महाराज नाभि की मनोकामना

को पूरा करने का निश्चय किया। अतः वे अपने गुणातीत आद्य सत्व रूप में मेरु देवी के पुत्र के रूप में प्रकट हुए।

तात्पर्य

जव भगवान् इस ससार मे प्रकट होते है या अवतार लेते है तो वे तीन गुणो (सतो, रजो, तथा तमो गुण) से युक्त शरीर नही स्वीकार करते। मायावादी दार्शनिको का कहना है कि निर्गुण ब्रह्म सत्व गुणमय देह स्वीकार करके इस ससार मे प्रकट होते है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते है कि **शुक्ल** शब्द का भावार्थ **शुद्ध सत्व** वाला है। भगवान् विष्णु अपने शुद्ध-सत्व रूप मे अवतार लेते है। शुद्ध सत्व मे सत्वगुण का वोध होता है जो कभी मलिन (दूषित) नही होता। इस भौतिक ससार मे सत्वगुण भी रजोगुण तथा तमोगुण से दूषित हो जाता है। इन गुणो से न दूषित होने पर ही वह सत्व-गुण कहलाता है। **सत्वं विशुद्धं वसुदेव-शब्दितं** (भाग० ४ ३ २३)। यही वासुदेव पद है जिससे श्रीभगवान् वासुदेव का अनुभव किया जा सकता है। भगवद्गीता मे (४ ७) श्रीकृष्ण स्वय कहते है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तादात्मानं सृजाम्यहम्॥

"हे भारत! जिस-जिस देश-काल मे धर्म की हानि तथा अधर्म को वृद्धि होती है, तव तव मै अवतार लेता हूँ।"

सामान्य जीवात्माओ की तरह भगवान् अवतार लेने के लिए गुणों द्वारा वाध्य नही होते, वे **धर्मान दर्शयितु-काम**—अर्थात् मनुष्यो को कार्य करके दिखाने के लिए प्रकट होते है, **धर्म** शब्द का व्यवहार मनुष्यो के प्रसग मे किया जाता है, इसका व्यवहार मनुष्यो से निकृष्ट जीवो यथा पशुओ के लिए नही किया जाता। दुर्भाग्यवश मनुष्य कभी-कभी ईश्वर से निर्देशित हुए बिना मनमाने धर्म को गढ लेते है। वास्तव मे धर्म मनुष्य द्वारा नही वनाया जा सकता। **धर्म तु साक्षाद् भगवत्-प्रणीतम्** (भाग० ६ ३ १९)—धर्म तो श्रीभगवान् की देन है जिस प्रकार विधि (कानून) राज्य की देन होता है। मानव-निर्मित धर्म निरर्थक है। श्रीमदभागवत मे मानवनिर्मित धर्म को **कैतव-धर्म** (धोखाधडी) कहा गया है। भगवान् मानव समाज को धार्मिक नियमों का आचरण सिखाने के लिए अवतार लेते है। ये धार्मिक नियम भक्तिमार्ग है। श्रीभगवान् स्वयं भगवद्गीता मे कहते है—**सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।**

महाराज नाभि के पुत्र ऋषभदेव धर्म-नियमो को उपदेश देने के लिए इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। इसकी व्याख्या अगले अध्याय मे की जायेगी।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां भक्तिवेदान्त भाष्ये पञ्चम स्कन्धे नाभिचरिते ऋषभावतारो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध के अन्तगत, "महाराज नाभि की पत्नी मेरु देवी के गर्भ से ऋषभदेव का जन्म" शीर्षक नामक तीसरे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय चार

श्रीभगवान् ऋषभदेव के लक्षण

इस अध्याय मे महाराज नाभि के पुत्र ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों की उत्पत्ति का वर्णन है जिनके शासन काल मे ससार सभी प्रकार से सुखी रहा। जब ऋषभदेव महाराज नाभि के पुत्र रूप मे प्रकट हुए तो लोगों ने उन्हे अपने काल का महानतम एवं सुन्दर पुरुष माना। उनमें अगसौष्ठव, प्रभाव, वल, उत्साह, कान्ति तथा अन्य दिव्य गुण अद्वितीय थे। ऋषभ शब्द श्रेष्ठ या परम का सूचक है। महाराज नाभि ने अपने पुत्र के अद्वितीय गुणो के कारण ही उसका नाम ऋषभ अथवा "सर्वश्रेष्ठ" रखा। उसका प्रभाव अनुपम था। वर्षा का अभाव होने पर भी ऋषभदेव ने जल के स्वामी स्वर्ग के राजा इन्द्र की परवाह नही की। अपनी शक्ति से उन्होने प्रचुर वर्षा से अजनाभ को जलमग्न कर दिया। ऋषभदेव को पुत्र रूप में पाकर राजा नाभि वडी ही सावधानी से उसका पालन करने लगे। तत्पश्चात् उसे राज्य-भार सौपकर वे गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये और बदरिकाश्रम में रहकर भगवान् वासुदेव की उपासना मे लग गये। सामाजिक परिपाटी का पालन करने के लिए भगवान् ऋषभदेव कुछ काल तक गुरुकुल में विद्यार्थी के रूप में रहे और वहाँ से लौटने पर अपने गुरु की आज्ञा से जयन्ती को अपनी पत्नी रूप मे स्वीकार किया जो स्वर्ग के राजा इन्द्र द्वारा उन्हे प्रदत्त की गई थी। जयन्ती से उनके सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें से सबसे ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था। महाराज भरत के शासनकाल से यह लोक भारतवर्ष कहलाया। ऋषभदेव के अन्य पुत्रो मे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ, तथा कीकट प्रमुख थे। अन्य पुत्रो के नाम कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविहोत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन थे। ये नौ पुत्र राज्य न करके श्रीकृष्णभावना के साधु-प्रचारक बन गए। इन सब के लक्षणो तथा कार्यो का वर्णन श्रीमद्भागवत के ग्यारहवे स्कन्ध मे हुआ है। जनता को शिक्षा देने के लिए राजा ऋषभदेव ने अनेक यज्ञ किये और अपने पुत्रो को जनता पर शासन करना सिखाया।

श्रीशुक उवाच

अथ ह तमुत्पत्त्यैवाभिव्यज्यमानभगवल्लक्षणं साम्योपशमवैराग्यैश्वर्यमहाविभूतिभिरनुदिनमेधमानानुभावं प्रकृतयः प्रजा ब्राह्मणा देवताश्चावनितलसमवनायातितरां जगृधुः ॥ १ ॥

श्री-शुकः उवाच=श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा, **अथ ह**=इस प्रकार (श्रीभगवान् के प्रकट होने के अनन्तर), **तम्**=उसको, **उत्पत्त्या**=आविर्भाव काल से, **एव**=ही, **अभिव्यज्यमान**=प्रकट रूप मे, **भगवत्-लक्षणम्**=श्रीभगवान् जैसे लक्षणो से युक्त, **साम्य**=समभाव वाला, **उपशम**=इन्द्रियो तथा मन को वश मे करते समय पूर्णतया शान्त, **वैराग्य**=गृहत्याग, **ऐश्वर्य**=ऐश्वर्य, **महा-विभूतिभि.**=महान गुणो के कारण, **अनुदिनम्**=प्रतिदिन, **एध-मान**=वढता हुआ, **अनुभावम्**=उसकी शक्ति, **प्रकृतयः**=मन्त्रीगण, **प्रजा.**=प्रजा, नागरिक, **ब्राह्मणाः**=ब्रह्म को जानने वाले विद्वान, **देवता**=देवता गण, **च**=तथा, **अवनि-तल**=पृथ्वी पर, **समवनाय**=शासन करने के लिए, **अतितराम्**=उत्कट, **जगृधुः**=अभिलाषा होने लगी।

अनुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—जन्म से ही महाराज नाभि के पुत्र मे श्रीभगवान् के लक्षण प्रकट थे, यथा चरणतल के चिह्न (ध्वज, वज्र आदि)। यह पुत्र सम भाव वाला और परम शान्त था। वह अपनी इन्द्रियों तथा मन को वश मे कर सकता था और परम ऐश्वर्यवान होने के कारण भौतिक सुख का कामी नहीं था। इन समस्त गुणों से सम्पन्न होने कारण महाराज नाभि का पुत्र अनुदिन शक्तिशाली बनता गया। फलतः समस्त नागरिकों, सुधी ब्राह्मणों, देवताओं तथा मन्त्रियो ने चाहा कि ऋषभदेव पृथ्वी का शासक बने।

तात्पर्य

आजकल सस्ते अवतार होने लगे है, अत अवतार मे प्राप्य शारीरिक लक्षणो को ध्यान से देखना रोचक होगा। यह देखा गया था कि ऋषभदेव के पैरो मे जन्म से ही दिव्य चिह्न (ध्वजा, वज्र, कमल आदि) थे। इसके अतिरिक्त ज्यो-ज्यो वह वढने लगा, उसकी ख्याति फैलने लगी। वह सम भाव रखने वाला था। उसने न तो किसी एक का पक्ष लिया और न दूसरे की उपेक्षा ही की। ईश्वर के अवतार को छः ऐश्वर्यो से युक्त होना चाहिए। ये है—धन, वल, ज्ञान, सौन्दर्य, यश तथा त्याग। कहा जाता है कि ऋषभदेव इतने ऐश्वर्यो से युक्त होकर भी भौतिक सुख से परम विरक्त था। वह आत्म-सयमी था इसलिए सभी उसे चाहते थे। उसके अपूर्व गुणो के कारण सभी चाहते थे कि पृथ्वी पर वही राज्य करे। ईश्वर के अवतार को

अनुभवी लोग शास्त्रो मे वर्णित लक्षणो द्वारा स्वीकार करते है। कभी भी मूर्ख लोगो की चाटुकारी से अवतार स्वीकार नही हो पाता।

तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेन श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इतीदं नाम चकार ॥ २ ॥

तस्य=उसके, **ह वा**=निश्चय ही, **इत्थम्**=इस प्रकार, **वर्ष्मणा**=रग-रूप से, **वरीयसा**=श्रेष्ठ; **वृहत्-श्लोकेन**=कवियो द्वारा वर्णित समस्त उत्तम गुणो से अलकृत, **च**=भी, **ओजसा**=शौर्य से, **बलेन**=वल से, **श्रिया**=सुन्दरता से, **यशसा**=यश से, **वीर्य-शौर्याभ्याम्**=प्रभाव तथा वीरता से, **च**=तथा, **पिता**=महाराज नाभि, **ऋषभः**=श्रेष्ठ, **इति**=इस प्रकार, **इदम्**=यह; **नाम**=नाम, **चकार**=रखा।

अनुवाद

जब महाराज नाभि के पुत्र प्रकट हुआ तो उसमें महाकवियों द्वारा वर्णित समस्त उत्तम गुण दिखाई पड़े—यथा ईश्वर के लक्षणों से युक्त सुगठित शरीर, शौर्य, बल, सुन्दरता, नाम, यश, प्रभाव तथा उत्साह। जब उसके पिता ने इन समस्त गुणो को देखा तो उसे मनुष्यो में श्रेष्ठतम अथवा सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति मान कर उसका नाम ऋषभ रख दिया।

तात्पर्य

किसी को ईश्वर या उसका अवतार मानने के पूर्व उसके शरीर मे ईश्वर के लक्षण देखना चाहिए। महाराज नाभि के अद्वितीय पुत्र मे समस्त लक्षण पाये गये थे। उसका शरीर सुगठित था और वह समस्त दिव्य गुणो से सम्पन्न था। वह प्रभावशाली था और अपने मन तथा इन्द्रियो को वश मे करने वाला था। फलस्वरूप उसका नाम ऋषभ रख दिया गया जिससे यह सूचित होता है कि वह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य था।

यस्य हीन्द्रः स्पर्धमानो भगवान् वर्षे न ववर्ष तदवधार्य भगवानृषभदेवो योगेश्वरः प्रहस्यात्मयोगमायया स्ववर्षमजनाभं नामाभ्यवर्षत् ॥३॥

यस्य=जिसका, **हि**=निस्सदेह, **इन्द्रः**=स्वर्ग का राजा इन्द्र, **स्पर्धमानः**=ईर्ष्या के कारण, **भगवान्**=परम ऐश्वर्यवान, **वर्षे**=भारतवर्ष मे, **न ववर्ष**=वर्षा नही की, **तत्**=वह, **अवधार्य**=जानते हुए, **भगवान्**=श्रीभगवान्, **ऋषभदेवः**=ऋषभदेव, **योग-ईश्वरः**=समस्त योग के स्वामी; **प्रहस्य**=हँसते हुए, **आत्म-**

योग-मायया=अपने आत्मबल से, **स्व-वर्षम्**=अपने देश पर; **अजनाभम्**=अजनाभ, **नाम**=नामक; **अभ्यवर्षत्**=जल वर्षा की।

अनुवाद

परम ऐश्वर्यशाली स्वर्ग का राजा इन्द्र राजा ऋषभदेव से ईर्ष्या करने लगा। अतः उसने भारतवर्ष नामक लोक पर जल बरसाना बन्द कर दिया। उस समय समस्त योगों के स्वामी भगवान् ऋषभदेव इन्द्र का प्रयोजन समझ गये और थोड़ा मुस्काये। तब अपने शौर्य तथा योगमाया से अजनाभ नाम से विख्यात अपने देश में अत्यधिक वर्षा की।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **भगवान्** शब्द दो वार प्रयुक्त हुआ है। इन्द्र तथा भगवान् के अवतार ऋषभदेव—इन दोनो को **भगवान्** कहा गया है। कभी-कभी नारद तथा ब्रह्मा भी भगवान् कहकर सम्बोधित किये जाते है। भगवान् का शाब्दिक अर्थ है ब्रह्मा, शिव, नारद अथवा इन्द्र के समान अत्यन्त ऐश्वर्यवान एव शक्तिशाली व्यक्ति। अपने अद्वितीय वैभव के कारण ये सभी भगवान् कहे जाते है। राजा ऋषभदेव भगवान् के अवतार थे, अत. वे आदि भगवान् थे। फलस्वरूप उन्हे योगेश्वर कहा गया है जिसका अर्थ यह है कि उनमे अत्यन्त सत्व-शक्ति थी। वे वर्षा के लिए इन्द्र पर आश्रित न थे। वे स्वय जल की पूर्ति कर सकते थे और उन्होने ऐसा किया भी। भगवद्गीता मे उल्लेख हुआ है कि **यज्ञाद्भवति पर्जन्य**—यज्ञ करने से आकाश मे वर्षा के मेघ दिखाई पडते है। यद्यपि मेघ तथा वर्षा स्वर्ग के राजा इन्द्र के अधीन है, किन्तु जब इन्द्र वर्षा नही करता है तो यज्ञ अथवा यज्ञपति श्रीभगवान् यह कार्य अपने हाथो मे ले लेते है। इसलिए अजनाभ देश मे प्रचुर वर्षा हुई। यदि यज्ञपति चाहे तो अपने सहायक की सहायता के बिना भी कोई कार्य कर सकता है। इसीलिए भगवान् सर्वशक्तिमान है। इस कलियुग मे अन्तत अनावृष्टि (वर्षा का अभाव) होगी क्योकि सामान्य जनता अपनी अविद्या तथा याज्ञिक सामग्री के अभाव के कारण यज्ञ की उपेक्षा करेगी। अतः श्रीमद्भागवत का उपदेश है—**यज्ञैः संकीर्तन-प्रायैः यजन्ति हि सुमेधसः।** वास्तव मे यज्ञ का प्रयोजन श्रीभगवान् को प्रसन्न करना है। यद्यपि इस कलियुग मे अभाव तथा अज्ञानता का बोलबाला है, किन्तु तो भी मनुष्य **संकीर्तन-यज्ञ** तो कर ही सकता है। प्रत्येक परिवार को चाहिए कि प्रति सध्या समय सकीर्तन यज्ञ करे। इस प्रकार से वर्षा का अभाव नही रहेगा। भौतिक रूप से सुखी तथा मानसिक रूप से उन्नत होने के लिए अनिवार्य है कि इस युग मे सकीर्तन-यज्ञ किया जाय।

नाभिस्तु यथाभिलषितं सुप्रजस्त्वमवरुध्यातिप्रमोदभरविह्वलो गद्गदाक्षरया

गिरा स्वैरं गृहीत नरलोकसधर्मं भगवन्तं पुराणपुरुषं मायाविलसितमतिर्वत्स तातेति सानुरागमुपलालयन् परां निर्वृतिमुपगतः ॥ ४ ॥

नाभिः=राजा नाभि, **तु**=निश्चय ही; **यथा-अभिलषितम्**=इच्छानुसार; **सु-प्रजस्त्वम्**=अत्यन्त सुन्दर पुत्र, **अवरुध्य**=पाकर, **अति-प्रमोद**=अत्यधिक प्रसन्नता; **भर**=अति से; **विह्वलः**=विभोर होकर, **गद्गद-अक्षरया**=आह्लाद में शब्द न निकलने से, **गिरा**=वाणी से, **स्वैरम्**=स्वेच्छा से; **गृहीत**=स्वीकार किया, **नर-लोक-सधर्मम्**=मनुष्य की भाँति आचरण करके; **भगवन्तम्**=श्रीभगवान्, **पुराण-पुरुषम्**=सजीव प्राणियो मे सर्वाधिक वय वाले, **माया**=योगमाया से; **विलसित**=मोहग्रस्त, **मतिः**=उसकी मति, **वत्स**=प्रिय पुत्र, **तात**=मेरे प्रिय, **इति**=इस प्रकार, **स-अनुरागम्**=अत्यन्त प्यार सहित, **उपलालयन्**=लालन-पालन करते हुए, **पराम्**=दिव्य; **निर्वृतिम्**=आनन्द, **उपगतः**=प्राप्त किया।

अनुवाद

अपनी इच्छानुसार श्रेष्ठ पुत्र पाकर राजा नाभि दिव्य आनन्द के कारण विह्वल और पुत्र के प्रति अत्यन्त वत्सल हो उठे। उन्होंने गद्गद् वाणी से उसे "मेरे प्रिय पुत्र ! मेरे प्यारे !" शब्दों से सम्बोधित किया। ऐसी बुद्धि योगमाया से उत्पन्न हुई जिसके कारण उन्होंने श्रीभगवान् को अपने पुत्र रूप में स्वीकार किया। ईश्वर भी अपनी परमेच्छा के कारण उनके पुत्र बने और सबों के साथ ऐसा व्यवहार किया जैसे कोई सामान्य मनुष्य हो। इस प्रकार वे अपने दिव्य पुत्र का बड़े ही लाड़-प्यार से लालन-पालन करने लगे और वे दिव्य आनन्द, हर्ष तथा भक्ति से विभोर हो गये।

तात्पर्य

यहाँ **माया** का प्रयोग मोह के अर्थ मे हुआ है। श्रीभगवान् को अपने पुत्र रूप मे पाकर, महाराज नाभि सचमुच मोहग्रस्त थे, किन्तु यह दिव्य मोह था। यह मोह आवश्यक है क्योकि बिना इसके कोई क्योकर परम पिता को अपना पुत्र स्वीकार करने लगा ? भगवान् अपने एक भक्त के पुत्र रूप में वैसे ही प्रकट होते है जिस प्रकार श्रीकृष्ण नन्द महाराज और यशोदा के पुत्र रूप मे प्रकट हुए थे। ये भक्त भगवान् को अपने पुत्र रूप मे प्राप्त करने की कल्पना भी नही कर सकते थे क्योकि इससे पितृ प्रेम मे बाधा उत्पन्न होती है।

विदितानुरागमापौरप्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतु-रक्षायामभिषिच्य ब्राह्मणेषूपनिधाय सह मेरुदेव्या विशालायां प्रसन्न-

निपुणेन तपसा समाधियोगेन नरनारायणाख्यं भगवन्तं वासुदेवमुपासीनः कालेन तन्महिमानमवाप ॥ ५ ॥

विदित=भलीभाँति ज्ञात, **अनुरागम्**=लोकप्रियता, **आपौर-प्रकृति**=समस्त नागरिको तथा प्रशासको के बीच, **जन-पदः**=सामान्य जनो की सेवा की इच्छा से, **राजा**=राजा, **नाभिः**=नाभि, **आत्म-जम्**=अपने पुत्र; **समय-सेतु-रक्षायाम्**=धार्मिक जीवन के वैदिक नियमो के अनुसार जनता की रक्षा करते हुए, **अभिषिच्य**=राज्याभिषेक करके, **ब्राह्मणेषु**=ब्राह्मणो को, **उपनिधाय**=सौप कर, **सह**=साथ; **मेरुदेव्या**=अपनी पत्नी मेरुदेवी के, **विशालायाम्**=वदरिकाश्रम में, **प्रसन्न-निपुणेन**=अत्यन्त सतोष एव निपुणता के साथ करते हुए, **तपसा**=तपस्या से; **समाधि-योगेन**=पूर्ण समाधि से, **नर-नारायण-आख्यम्**=नर-नारायण नामक, **भगवन्तम्**=श्रीभगवान्, **वासुदेवम्**=श्रीकृष्ण, **उपासीनः**=उपासना करते हुए, **कालेन**=कालक्रम से, **तत्-महिमानम्**=महिमामय धाम, वैकुण्ठ लोक, **अवाप**=प्राप्त किया।

अनुवाद

राजनाभि ने समझ लिया था कि उनका पुत्र ऋषभदेव नागरिकों, प्रशासकों तथा मन्त्रियों में अत्यन्त लोकप्रिय है। अत उन्होंने वैदिक धर्म-पद्धति के अनुसार जनता की रक्षा के उद्देश्य से अपने पुत्र को संसार के सम्राट के रूप में अभिषिक्त कर दिया। और उसे विद्वान ब्राह्मणों के हाथों में सौप दिया जो शासन चलाने मे उसका मार्ग दर्शन कर सके। फिर महाराज नाभि अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ हिमालय पर्वत स्थित बदरिकाश्रम में गये और वहाँ पर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक एवं निपुणता के साथ तपस्या में लग गये। पूर्ण समाधि में उन्होंने कृष्ण के ही अंश रूप श्रीभगवान् नर-नारायण की उपासना की, अतः कालक्रम से महाराज नाभि को वैकुण्ठ प्राप्त हुआ।

तात्पर्य

जब महाराज नाभि ने देखा कि जनता तथा राज्य अधिकारियो के बीच उनका पुत्र अत्यन्त लोकप्रिय हो गया है तो उन्होने उसे राज्य-सिंहासन पर आसीन करने का निश्चय किया। साथ ही, वे अपने पुत्र को बुद्धिमान ब्राह्मणो के हाथो मे सौपना चाहते थे। इसका तात्पर्य यह हुआ कि राजा को बुद्धिमान ब्राह्मणो की देखरेख मे वैदिक नियमो के अनुसार राज्य करना होता था जिससे वे **मनुस्मृति** तथा इसी प्रकार के वैदिक शास्त्रो के अनुसार सलाह दे सके। राजा का यह कर्तव्य है कि वह वैदिक नियमो के अनुसार शासन चलावे। वैदिक नियमो के अनुसार समाज चार वर्गो मे विभाजित है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः**। समाज को इस प्रकार विभाजित करने के बाद यह राजा का

कर्तव्य है कि वह यह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण (जाति) के अनुसार वैदिक नियमों का पालन करे। ब्राह्मण को चाहिए कि वह जनता को ठगे बिना ब्राह्मण का कर्तव्य निभावे। बिना पात्रता के किसी को ब्राह्मण कहलाने का अधिकार नही है। यह राजा का पुनीत कर्तव्य है कि वह देखे कि प्रत्येक व्यक्ति वैदिक नियमानुसार अपना व्यावसायिक कर्तव्य निवाहे। साथ ही, जीवन के अन्त समय मे वैराग्य (अवकाश) अनिवार्य है। महाराज नाभि, राजा रहते हुए भी, गृहस्थ जीवन से विरक्त हो गये और अपनी पत्नी के साथ वदरिकाश्रम चले गये जहाँ नर-नारायण विग्रह की उपासना की जाती है। **प्रसन्न-निपुणेन तपसा** से सूचित होता है कि राजा ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक तथा पटुता के साथ तपस्या की। सम्राट होते हुए भी अपने सुविधामय जीवन का परित्याग करने मे उन्हे कोई कठिनाई नही हुई। बदरिकाश्रम मे कठिन तपस्या करते हुए भी वे परम प्रसन्न थे और सारा कार्य दक्षतापूर्वक करते रहे। इस प्रकार श्रीकृष्णभावना (समाधि योग) मे पूर्ण निमग्न रहकर और सतत वासुदेव कृष्ण का ध्यान करते हुए महाराज नाभि ने जीवन के अन्तिम काल मे सफलता प्राप्त की और वैकुण्ठलोक के भागी हुए।

यही वैदिक जीवन पद्धति है। मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से छूटकर भगवान् के धाम जाना है। इस प्रसग मे **तन्महिमानस् अवाप** शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्रील श्रीधर स्वामी का कहना है कि **महिमा** का अर्थ जीवन से मुक्ति है। अतः हमे इस जीवन में ऐसे कर्म करने चाहिए कि हम जन्म-मरण के वन्धन से मुक्त हो सके। यही **जीवन्-मुक्ति** है। श्रील वीरराघव आचार्य ने **छान्दोग्य उपनिषद** मे कहा है कि **जीवन्-मुक्त** अर्थात् इस शरीर मे ही जो मुक्त हो चुका है—के आठ लक्षण वताए गये है। पहला लक्षण है, **अपहत पाप**—अर्थात् वह समस्त पाप कर्मो से अलग रहता है। जव तक मनुष्य माया के चगुल में रहता है वह पाप-कर्म मे लगा रहता है। भगवद्गीता मे ऐसे मनुष्यो को **दुष्कृतिनः** कहा गया है जिसका अर्थ है कि वे सदैव पापकर्म मे रत रहते है। जो जीवन्मुक्त है वह कभी पाप नही करता। व्यभिचार, मद्यपान, मासाहार तथा द्यूत क्रीडा ये ही पाप कर्म है। जीवन्मुक्त का दूसरा लक्षण है, **विजर**—अर्थात् उसे वृद्धावस्था के कष्ट नही भोगने पडते। तृतीय लक्षण है, **विमृत्यु**—अर्थात् वह एक से अधिक शरीर धारण नही करता क्योकि इनकी मृत्यु ध्रुव है। दूसरे शब्दो मे, वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। चतुर्थ लक्षण है, **विशोक**—अर्थात् वह भौतिक शोक तथा हर्ष के प्रति उदास रहता है। पचम लक्षण, **विजिघत्स** है जिसका अर्थ है कि उसे भौतिक सुख की कामना नही रहती। षष्ठम लक्षण है, **अपिपाता**—अर्थात् वह अपने परम प्रिय ईश्वर श्रीकृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही करना चाहता। सप्तम लक्षण है, **सत्य-काम**—जिसका अर्थ है कि उसकी समस्त आकाक्षाएँ परम सत्य श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित होती है। वह **सत्यसंकल्प** होता है। उसकी समस्त कामनाओ को पूरा करने वाले श्रीकृष्ण है। प्रथम तो भौतिक लाभ के लिए वह कोई इच्छा ही नही करता और यदि करता भी है तो ईश्वर उसे पूर्ण करते है इसीलिए उसे **सत्य-संकल्प** कहते है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती

इगित करते है कि **महिमा** का अथ वैकुण्ठलोक को वापस जाना है। श्रील शुकदेव का कथन है कि **महिमा** का यह अर्थ है कि भक्त श्रीभगवान् के गुणो को प्राप्त कर लेता है। इसे **सद्धर्म** अर्थात् सम-गुण कहते है। जिस प्रकार कृष्ण न तो जन्मते है और न मरते है उसी प्रकार उनके जो भक्त भगवान् के धाम पहुँच जाते है, वे फिर इस ससार के जन्म-मरण चक्र मे नही पडते।

यस्य ह पाण्डवेय श्लोकावुदाहरन्ति—

को नु तत्कर्म राजर्षेर्नाभेरन्वाचरेत्पुमान्।
अपत्यतामगाद्यस्य हरिः शुद्धेन कर्मणा॥ ६॥

यस्य=जिसके, **ह**=निस्सन्देह, **पाण्डवेय**=हे महाराज परीक्षित, **श्लोकौ**=दो श्लोक, **उदाहरन्ति**=सुनाते है, **कः**=कौन, **नु**=तब, **तत्**=वह, **कर्म**=कार्य; **राजर्षेः**=पवित्र राजा, **नाभेः**=नाभि का, **अनु**=अनुगमन करते हुए, **आचरेत**=आचरण कर सकता था, **पुमान्**=मनुष्य, **अपत्यताम्**=पुत्रत्व, पुत्र वनना, **अगात्**=स्वीकार किया, **यस्य**=जिसकी, **हरिः**=श्रीभगवान्, **शुद्धेन**=पवित्र, **कर्मणा**=कर्म से।

अनुवाद

हे महाराज परीक्षित ! महाराज नाभि के यशोगान में प्राचीन मुनियो ने दो श्लोक रचे। उनमें से एक यह है, "महाराज नाभि जैसी सिद्धि अन्य कौन प्राप्त कर सकता है ? उनके कर्मो को कौन प्राप्त कर सकता है ? उनकी भक्ति के कारण श्रीभगवान् ने उनका पुत्र बनना स्वीकार किया।"

तात्पर्य

इस श्लोक मे **शुद्धेन कर्मणा** शब्द महत्वपूर्ण है। यदि कोई कार्य भक्ति से नही किया जाता तो वह गुणो से दूषित हो जाता है। भगवद्गीता मे इसकी व्याख्या **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः** के रूप मे की गई है। जो काम श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए किये जाते है वे ही शुद्ध है और वे ही गुणो से कलुषित नही होते। अन्य सभी कर्म सतो तथा रजोगुणो के द्वारा दूषित हो जाते है। इन्द्रियो की तुष्टि के लिए सम्पन्न समस्त कर्म दूषित होते है, किन्तु महाराज नाभि ने ऐसा कोई दूपित कर्म नही किया। यहाँ तक कि यज्ञ के समय भी दिव्य कर्म ही किया था। इसलिए उन्हे पुत्र रूप मे भगवान् की प्राप्त हुई।

ब्रह्मण्योऽन्यः कुतो नाभेर्विप्रा मङ्गलपूजिताः ।
यस्य बर्हिषि यज्ञेशं दर्शयामासुरोजसा ॥ ७ ॥

ब्रह्मण्यः=ब्राह्मण-भक्त, **अन्यः**=कोई दूसरा; **कुतः**=कहाँ है; **नाभेः**= महाराज नाभि के अतिरिक्त, **विप्राः**=ब्राह्मण समुदाय, **मङ्गल-पूजिताः**=भली भाँति उपासित एव तुष्ट; **यस्य**=जिसको, **बर्हिषि**=यज्ञ-स्थल मे, **यज्ञ-ईशम्**= समस्त यज्ञो के भोक्ता, श्रीभगवान्; **दर्शयाम आसुः**=दर्शन कराया, **ओजसा**= अपनी ब्राह्म शक्ति से ।

अनुवाद

[दूसरी स्तुति इस प्रकार है] "महाराज नाभि से बढ़कर ब्राह्मणों का उपासक (भक्त) कौन हो सकता है ? चूँकि राजा ने योग्य ब्राह्मणों को पूर्णतया सन्तुष्ट कर दिया था, इसलिए अपने ब्राह्म-बल से उन्होंने महाराज नाभि को श्रीभगवान् नारायण का साक्षात् दर्शन करा दिया ।"

तात्पर्य

यज्ञ करने वाले पुरोहित सामान्य ब्राह्मण न थे। वे इतने शक्तिशाली थे कि अपनी स्तुति से श्रीभगवान् का प्राकट्य करा सकते थे । इस प्रकार महाराज नाभि को ईश्वर के साक्षात् दर्शन हो सके । जब तक कोई वैष्णव न हो, ईश्वर किसी प्रकार का आमन्त्रण स्वीकार नही करते । इसलिए **पद्म पुराण** मे कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः ।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णव. श्वपचो गुरुः ॥

"भले ही कोई ब्राह्मण वैदिक ज्ञान के समस्त विषयो मे कितना ही निपुण क्यो न हो, किन्तु यदि वैष्णव नही है तो वह गुरु नही हो सकता, किन्तु यदि श्वपच (चाडाल) भी वैष्णव है तो वह गुरु बन सकता है ।" ये ब्राह्मण निश्चय ही वैदिक मन्त्रो के उच्चारण मे अत्यन्त निपुण थे । वे वैदिक कृत्यो के करने मे भी दक्ष थे और सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि वे सभी वैष्णव थे । अत· अपने आत्मवल से वे श्रीभगवान् का आवाहन करके अपने शिष्य महाराज नाभि को साक्षात दर्शन दिला सके । श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने **ओजसा** शब्द की टीका "भक्ति के वल से" की है ।

अथ ह भगवानृषभदेवः स्ववर्षं कर्मक्षेत्रमनुमन्यमानः प्रदर्शितगुरुकुल-वासो लब्धवरैर्गुरुभिरनुज्ञातो गृहमेधिनां धर्माननुशिक्षमाणो जयन्त्यामिन्द्र-

दत्तायामुभयलक्षणं कर्म समाम्नायाम्नातमभियुञ्जन्नात्मजानामात्मसमानानां शतं जनयामास ॥ ८ ॥

अथ=तत्पश्चात् (अपने पिता के प्रयाण के पश्चात्), **ह**=निस्सदेह, **भगवान्**=श्रीभगवान्; **ऋषभ -देव:**=ऋषभदेव, **स्व**=अपना, **वर्षम्**=राज्य, **कर्म-क्षेत्रम्**=कार्य-क्षेत्र, **अनुमन्यमान.**=के रूप मे स्वीकार करते हुए, **प्रर्दाशत**=उदाहरण स्वरूप दिखाया गया, **गुरु-कुल वास:**=गुरुकुल मे रहते हुए; **लब्ध**=प्राप्त करके, **वरै:**=वरदान, **गुरुभि:**=गुरुओ से, **अनुज्ञात**=आदेशित होकर, **गृह-मेधिनाम्**=गृहस्थो के, **धर्मान्**=कर्तव्य, **अनुशिक्षमाण:**=उदाहरण द्वारा शिक्षा देते हुए, **जयन्त्याम्**=अपनी पत्नी जयन्ती से, **इन्द्र-दत्तायाम्**=भगवान् इन्द्र द्वारा प्रदत्त; **उभय-लक्षणम्**=दोनो प्रकार के, **कर्म**=कर्म, **समाम्नायाम्-नातम्**=शास्त्रो मे वर्णित; **अभियुञ्जन्**=करते हुए, **आत्म-जानाम्**=पुत्रो को, **आत्म-समानानाम्**=अपने ही समान, **शतम्**=एक सो, **जनयाम् आस**=उत्पन्न किया ।

अनुवाद

महाराज नाभि के बदरिकाश्रम प्रस्थान के पश्चात् परम ईश ऋषभदेव ने अपने राज्य को ही अपना कर्मक्षेत्र समझा । अत: उन्होंने अपना दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए सर्वप्रथम गुरुओं के निर्देश में ब्रह्मचर्य स्वीकार करके गृहस्थ के कर्त्तव्यों की शिक्षा दी । वे गुरुकुल में वास करने भी गये । शिक्षा पूरी होने पर उन्होंने गुरु-दक्षिणा दी और तब गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए । उन्होंने जयन्ती नामक पत्नी प्राप्त की और उससे एक सौ पुत्र उत्पन्न किये जो उनके ही समान बलवान तथा योग्य थे । उनकी पत्नी जयन्ती स्वर्ग के राजा इन्द्र द्वारा उन्हें प्राप्त हुई थी । ऋषभदेव तथा जयन्ती ने श्रुति तथा स्मृति शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट अनुष्ठानों का पालन करते हुए गृहस्थ जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया ।

तात्पर्य

श्रीभगवान् का अवतार होने से ऋषभदेव को सासारिक कार्यो से कोई प्रयोजन नही था । जैसा कि भगवद्गीता मे कहा गया है—**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्**—अवतार का उद्देश्य भक्तो की रक्षा तथा अभक्तो के आसुरी कार्यो को रोकना है । ईश्वर के अवतार लेने के दो प्रयोजन होते है । श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि उपदेश देने के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि वह व्यावहारिक जीवन बिताकर लोगों को दिखाये कि कार्य किस प्रकार करना चाहिए । **आपनि आचरिऽभक्ति शिखाइमु सबारे**—जव तक कोई उसी रूप से आचरण नही करता तब तक वह अन्यों को शिक्षा नही दे सकता । ऋषभदेव आदर्श राजा थे और उन्होने गुरुकुल मे शिक्षा प्राप्त की, यद्यपि वे पहले से ही शिक्षित थे क्योकि भगवान् सर्वज्ञ होता है । यद्यपि गुरुकुल मे

उनके सीखने के योग्य कुछ भी नही था, किन्तु वे लोगो को यह शिक्षा देने के लिए वहाँ गये कि वे समझे कि वैदिक गुरुओ से किस प्रकार शिक्षा प्राप्त की जाती है। इसके वाद वे गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट हुए और श्रुति-स्मृति-सम्मत विधि से जीवन विताने लगे। श्रील रूप गोस्वामी **भक्तिरसामृतसिन्धु** मे (१ २ १०) स्कन्द पुराण का निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत करते हुए कहते है—

श्रुतिस्मृतिपुराणादि पंचरात्रविधि विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते।

मानव समाज को श्रुति तथा स्मृति से प्राप्त उपदेशो का पालन करना चाहिए। **पाञ्चरात्रिका विधि** के अनुसार व्यावहारिक जीवन मे श्रीभगवान् की यही उपासना है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह दिव्य जीवन विता कर अन्त मे श्रीधाम जाय। महाराज ऋषभदेव ने इन समस्त नियमो का कठोरता से पालन किया। वे आदर्श गृहस्थ वने रहे और अपने पुत्रो को आत्म-जीवन मे पूर्णता प्राप्त करने की शिक्षा दी। उन्होने जिस प्रकार पृथ्वी पर शासन किया ओर अवतार के रूप मे अपना उद्देश्य पूरा किया। उसके ये कुछेक उदाहरण है।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥ ९ ॥

येषाम्=जिनमे से, **खलु**=निश्चय ही, **महा-योगी**=ईश्वर का महान भक्त; **भरत.**=भरत, **ज्येष्ठः**=सवसे से वडा, **श्रेष्ठ-गुणः**=उत्तम गुणो से सम्पन्न; **आसीत्**=था, **येन**=जिसके द्वारा, **इदम्**=यह; **वर्षम्**=लोक, देश; **भारतम्**=भारत, **इति**=इस प्रकार, **व्यपदिशन्ति**=लोग कहते है।

अनुवाद

ऋषभदेव के सौ पुत्रो मे से, सबसे बड़े पुत्र का नाम भरत था जो श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न महान भक्त थे। उन्ही के सम्मान मे इस देश (अजनाभखण्ड) को भारत-वर्ष कहते है।

तात्पर्य

भारतवर्ष नामक यह देश **पुण्य भूमि** भी कहलाता है। इस समय भारत-भूमि या भारतवर्ष हिमालय पर्वत से लेकर कुमारी अन्तरीप तक विस्तृत एक लघु भूखण्ड है। कभी-कभी इस प्रायद्वीप को **पुण्य भूमि** कहा जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने इस भूमि के वासियो को विशेष महत्ता प्रदान की है (चैतन्यचरितामृत, आदि ४.४)—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार ।
जन्म सार्थक करिऽकर पर-उपकार ॥

"जिसने भी भारतवर्ष मे मनुष्य रूप मे जन्म लिया है उसे परोपकार द्वारा अपना जीवन सार्थक वना लेना चाहिए ।" इस भूभाग के वासी अत्यन्त भाग्यशाली है । वे श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन को स्वीकार करके अपने जन्म को पवित्र वना सकते है और भारतभूमि के वाहर जाकर सारे विश्व के कल्याण हेतु इसका उपदेश दे सकते है ।

तमनु कुशावर्त इलावर्तो ब्रह्मावर्तो मलयः केतुर्भद्रसेन इन्द्रस्पृग्विदर्भः कीकट इति नव नवति प्रधानाः ॥१०॥

तम्=उसको, **अनु**=अनुसरण करते हुए, **कुशावर्त**=कुशावर्त, **इलावर्त**=इलावर्त, **ब्रह्मावर्तः**=ब्रह्मावर्त, **मलयः**=मलय, **केतु**=केतु, **भद्र-सेनः**=भद्रसेन, **इन्द्र-स्पृक्**=इन्द्रस्पृक्, **विदर्भ**=विदर्भ, **कीकटः**=कीकट, **इति**=इस प्रकार, **नव**=नौ, **नवति**=नब्बे, **प्रधानाः**=से वडे ।

अनुवाद

भरत के अतिरिक्त उनके निन्यानबे पुत्र और थे । इनमे से नौ बड़े पुत्रो के नाम कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ तथा कीकट थे ।

कविर्हविरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥११॥

इति भागवतधर्मदर्शना नव महाभागवतास्तेषां सुचरितं भगवन्महिमोपबृंहितं वसुदेवनारदसंवादमुपशमायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्यामः ॥१२॥

कविः=कवि, **हविः**=हवि, **अन्तरिक्ष**=अन्तरिक्ष, **प्रबुद्ध**=प्रबुद्ध; **पिप्पलायनः**=पिप्पलायन, **आविर्होत्र**=आविर्होत्र, **अथ**=भी, **द्रुमिलः**=द्रुमिल, **चमसः**=चमस, **करभाजनः**=करभाजन, **इति**=इस प्रकार, **भागवत-धर्म-दर्शनाः**=श्रीमद्भागवत के वैधानिक उपदेशक, **नव**=नौ, **महा-भागवताः**=परम भक्त, **तेषाम्**=उनमे से, **सुचरितम्**=अच्छे लक्षण, **भगवत्-महिमा-उपबृंहितम्**=श्रीभगवान् की महिमा से युक्त, **वसुदेव-नारद-सवादम्**=वसुदेव तथा नारद की वार्ता के अन्तर्गत, **उपशमायनम्**=मन को परम सन्तोष देने वाली; **उपरिष्टात्**=इसके

बाद के, परवर्ती (ग्यारहवे स्कंध मे), **वर्णयिष्यामः**=मै विस्तार से व्याख्या करूँगा।

अनुवाद

इनके पुत्रों के अतिरिक्त कवि, हवि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन भी हुए। ये सभी परम भक्त एवं श्रीमद्भागवत के प्रामाणिक उपदेष्टा थे। ये भक्त श्रीभगवान् वासुदेव के प्रति अपनी उत्कट भक्ति के कारण महिमा-मण्डित थे। मन की पूर्ण तुष्टि के लिए मै (शुकदेव गोस्वामी) इन नौ भक्तो के चरित्रों का वर्णन आगे चलकर नारद-वसुदेव संवाद प्रसंग के अन्तर्गत करूँगा।

यवीयांस एकाशीतिर्जायन्तेयाः पितुरादेशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीलाः कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवुः ॥१३॥

यवीयांसः=इनसे छोटे, **एकाशीतिः**=इक्यासी; **जायन्तेयाः**=ऋषभदेव की पत्नी जयन्ती के पुत्र, **पितुः**=अपने पिता के, **आदेशकराः**=आदेशानुसार, **महा-शालीनाः**=परम विनीत, **महा-श्रोत्रियाः**=वैदिक ज्ञान मे पारगत, **यज्ञ-शीलाः**= अनुष्ठानो को करने मे निपुण; **कर्म-विशुद्धाः**=अत्यन्त शुद्ध कर्मो वाले, **ब्राह्मणाः**= योग्य ब्राह्मण, **बभूवुः**=हो गये।

अनुवाद

उपर्युक्त उन्नीस पुत्रों के अतिरिक्त ऋषभदेव तथा जयन्ती से इक्यासी पुत्र और थे। ये अपने पिता की आज्ञानुसार अति सभ्य, शालीन, उज्ज्वल कर्मो वाले तथा वैदिक ज्ञान तथा अनुष्ठानिक कार्यो में निपुण हुए। इस प्रकार ये सभी पूर्ण योग्य ब्राह्मण बन गये।

तात्पर्य

इस श्लोक से एक अच्छी सूचना प्राप्त होती है कि गुण तथा कार्य के अनुसार जातियाँ योग्य बनती है। ऋषभदेव राजा थे, अतः निश्चय ही वे क्षत्रिय थे। उनके एक सौ पुत्र थे जिनमे से दस क्षत्रिय कार्य मे लगे हुए थे और पृथ्वी पर राज्य कर रहे थे। उनके नौ पुत्र श्रीमद्भागवत के श्रेष्ठ उपदेशक (महाभागवत) हुए, जिसका अर्थ है कि वे ब्राह्मणो से उच्च थे। शेष इक्यासी पुत्र योग्य ब्राह्मण हुए। ये कुछ ऐसे उदाहरण है जो यह बताते है कि कोई जन्म से नही वरन् अपने गुणो के कारण किसी कार्य के लिए योग्य (पात्र) बनता है। महाराज ऋषभदेव के सभी पुत्र जन्म से क्षत्रिय थे, किन्तु अपने गुणो के कारण उनमे से कुछ क्षत्रिय बने तो कुछ ब्राह्मण। उनमे से नौ पुत्र श्रीमद्भागवत के उपदेशक (**भागवत-धर्म-दर्शनाः**) थे जिसका तात्पर्य यह है कि वे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण वर्गो से ऊपर उठ गये।

भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थ-यशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् ॥१४॥

भगवान्=श्रीभगवान्, **ऋषभ**=ऋषभ, **संज्ञ.**=नाम वाले, **आत्म-तन्त्रः**=पूर्णतया स्वतन्त्र, **स्वयम्**=स्वय, **नित्य**=शाश्वत, **निवृत्त**=विरक्त, मुक्त, **अनर्थ**=अनिच्छित वस्तुओ (जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि) का, **परम्परः**=परम्परा, **केवल**=केवल, **आनन्द-अनुभवः**=दिव्य आनन्द से परिपूरित; **ईश्वरः**=परमेश्वर, नियन्ता, **एव**=निस्सन्देह; **विपरीत-वत्**=विरुद्ध जैसा; **कर्माणि**=कर्मो को; **आरभमाणः**=करते हुए; **कालेन**=कालक्रम से, **अनुगतम्**=उपेक्षित, **धर्मम्**=वर्णाश्रम धर्म, **आचरणेन**=करने से; **उपशिक्षयन्**=उपदेश देकर, **अ-तत्-विदाम्**=अज्ञानी पुरुष, **समः**=समान; **उपशान्तः**=इन्द्रियो द्वारा अविचलित, **मैत्रः**=प्रत्येक व्यक्ति से मैत्री भाव, **कारुणिक**=सबो पर सदय, **धर्म**=धार्मिक नियम, **अर्थ**=आर्थिक उन्नति, **यशः**=यश, कीर्ति, **प्रजा**=पुत्र तथा पुत्रियाँ, **आनन्द**=भौतिक सुख, **अमृत**=अमर जीवन, **अवरोधेन**=प्राप्त करने के लिए, **गृहेषु**=गृहस्थ जीवन मे, **लोकम्**=सामान्य लोग, **नियमयत्**=नियमित किया।

अनुवाद

श्रीभगवान् के अवतार होने से भगवान् ऋषभदेव पूर्ण स्वतन्त्र थे क्योंकि उनका यह स्वरूप शाश्वत तथा दिव्य आनन्दमय था। उन्हे भौतिक तापो के चार नियमों (जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि) से कोई सरोकार न था। न ही वे भौतिक दृष्टि से आसक्त थे। वे समानदर्शी थे। अन्यों को दुखी देखकर दुखी होते थे। वे समस्त जीवात्माओ के शुभचिन्तक थे। यद्यपि वे महान पुरुष, परमेश्वर तथा सर्व-नियन्ता थे, तो भी वे ऐसा आचरण कर रहे थे मानो कोई सामान्य बद्धजीव हो। अतः उन्होने दृढतापूर्वक वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए तदनुसार कर्म किया। कालान्तर मे वर्णाश्रम धर्म के नियम उपेक्षित हो चुके थे, फलतः अपने चरित्र और आचरण से उन्होने अज्ञानी जनता को वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत कर्तव्य करना सिखाया। इस प्रकार उन्होने सामान्य लोगों को गृहस्थाश्रम में प्रशिक्षित किया जिससे वे धार्मिक तथा आर्थिक उत्थान कर सके और यश, सन्तान, आनन्द तथा अन्त मे शाश्वत जीवन प्राप्त कर सके। अपने उपदेशो से उन्होने लोगो को गृहस्थाश्रम मे रहते हुए वर्णाश्रम धर्म के नियमों का पालन करते हुए पूर्ण बनने की शिक्षा दी।

तात्पर्य

वर्णाश्रम धर्म तो अपूर्ण बद्ध आत्माओ के लिए है। इससे उन्हे आत्म-उन्नति करके भगवान् के धाम जाने की शिक्षा मिलती है। जिस सभ्यता मे जीवन का परम लक्ष्य न ज्ञात हो वह पशु समाज के तुल्य है। जैसा कि श्रीमद्भागवत मे कहा गया है—**न ते विदु स्वार्थगति हि विष्णुम्**। मानव समाज का उद्देश्य आत्म-ज्ञान को वढा कर समस्त मनुष्यो को जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के चगुल से मुक्त कराना है। वर्णाश्रम धर्म मानव समाज को इतना समर्थ वनाता है कि वह माया के चगुल से वाहर निकल कर तथा उसके नियमो का पालन करके सफल हो सके। इस सम्वन्ध मे भगवद्गीता (३ २१-२४) देखनी चाहिए।

यद्यच्छीर्षण्याचरितं तत्तदनुवर्तते लोकः ॥१५॥

यत् यत्=जो भी, **शीर्षन्य**=शीर्षस्थ महापुरुषो द्वारा, **आचरितम्**=आचरण किया जाता है; **तत् तत्**=वही, **अनुवर्तते**=अनुकरण करते हैं, **लोकः**=सामान्य जन।

अनुवाद

महापुरुष जैसा जैसा आचरण करते हैं, सामान्यजन उसी का अनुकरण करते हैं।

तात्पर्य

ऐसा ही श्लोक श्रीभगवद्गीता मे (३.२१) भी है। वैदिक आदेशो के अनुसार समाज मे मनुष्यो के एक वर्ग को ब्राह्मणो के रूप मे प्रशिक्षित होना चाहिए। इनसे नीचे के लोगो—शासको, वणिको तथा सेवको—को, इन बुद्धिजीवी लोगो से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य परम दिव्य पद को प्राप्त हो सकता है और भौतिक आसक्ति से छूट सकता है। स्वय भगवान् श्रीकृष्ण ने इस भौतिक जगत को **दुःखालयमशाश्वतं** कहा है। यदि कोई दु.खो से समझौता भी कर ले तो भी वह वच नही सकता। उसे इस शरीर का परित्याग करके दूसरा शरीर धारण करना होता है और हो सकता है कि यह मनुष्य-शरीर न हो। शरीर प्राप्त करते ही मनुष्य **देह-भृत** अथवा **देही** हो जाता है अर्थात् उसे समस्त भौतिक परिस्थितियो का सामना करना पडता है। समाज के उन्नायको को ऐसा आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए जिससे उनका अनुकरण करके कोई भी मनुष्य ससार के वन्धन से उवर सके।

यद्यपि स्वविदितं सकलधर्मं ब्राह्मं गुह्यं ब्राह्मणैर्दर्शितमार्गेण सामादिभिरुपायैर्जनतामनुशशास ॥१६॥

यद्यपि=यद्यपि, **स्व-विदितम्**=स्वत ज्ञात, **सकल-धर्मम्**=विभिन्न प्रकार के कर्म, **ब्राह्मम्**=वैदिक उपदेश, **गुह्मम्**=अत्यन्त गोपनीय; **ब्राह्मणैः**=ब्राह्मणो के द्वारा, **दर्शित-मार्गेण**=दिखलाये गये मार्ग द्वारा; **साम-आदिभिः**=साम, दाम, तितिक्षा इत्यादि, **उपायै**=साधनो से, **जनताम्**=सामान्य जन, **अनुशशास**= राज्य किया।

अनुवाद

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव समस्त गोपनीय वैदिक ज्ञान से परिचित थे, जिसमें सभी करणीय कर्मो से सम्बन्धित सूचना सम्मिलित है, तो भी वे अपने को क्षत्रिय मान कर ब्राह्मणों के उन उपदेशो का अनुकरण करते थे, जिनका सम्बन्ध साम (मन पर नियन्त्रण), दाम (इन्द्रियों पर नियन्त्रण), तितिक्षा (सहनशीलता) आदि से था। इस प्रकार उन्होने वर्णाश्रम-धर्म पद्धति से जनता पर शासन किया। इसके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रियों को शिक्षा देता है और क्षत्रिय वैश्यों तथा शूद्रो के माध्यम से राज्य चलाता है।

तात्पर्य

यद्यपि ऋषभदेव समस्त वैदिक उपदेशो से अवगत थे तो भी सामाजिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए वे ब्राह्मणो के उपदेशो का पालन करते रहे। ब्राह्मण शास्त्रों के अनुसार उपदेश देते थे और अन्य समस्त जातियाँ उसका पालन करती थी। **ब्रह्म** शब्द का अर्थ है "समस्त कार्यो का पूर्ण ज्ञान" और यह ज्ञान वैदिक साहित्य मे गुह्य रूप से वर्णित है। ब्राह्मणो के रूप मे शिक्षा-प्राप्त मनुष्यों को समस्त वैदिक साहित्य का ज्ञान होना चाहिए और इस ज्ञान का लाभ जनसाधारण को मिलना चाहिए। जनता का कर्तव्य है कि वह पूर्ण **ब्राह्मण** का अनुगमन करे। इस प्रकार कोई भी मन तथा इन्द्रियो को वश मे करना सीख सकता है और धीरे-धीरे आत्म-सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

द्रव्यदेशकालवयःश्रद्धर्त्विग्विविधोद्देशोपचितैः सर्वैरपि क्रतुभिर्यथोपदेशं शतकृत्व इयाज ॥१७॥

द्रव्य=यज्ञ की सामग्री, **देश**=विशिष्ट स्थान, तीर्थ या मन्दिर, **काल**=उपयुक्त समय, यथा वसन्त, **वय.**=आयु, विशेषतया युवावस्था, **श्रद्धा**=अच्छाई मे विश्वास, **ऋत्विक**=पुरोहितगण, **विविध-उद्देश**=विभिन्न प्रयोजनो से विभिन्न देवताओ की पूजा करके, **उपचितै.**=से समृद्ध होकर, **सर्वै**=सभी प्रकार के, **अपि**=निश्चय ही, **क्रतुभि**=याज्ञिक अनुष्ठानो द्वारा, **यथा-उपदेशम्**=उपदेश के अनुसार, **शत-कृत्व**=एक सौ वार, **इयाज**=आराधना की।

अनुवाद

भगवान् ऋषभदेव ने शास्त्रों के अनुसार सभी यज्ञों को सौ सौ बार किया और इस प्रकार से भगवान् विष्णु को सभी प्रकार से प्रसन्न किया। सभी अनुष्ठान उत्तम कोटि की सामग्री से तथा उचित समय में, और पवित्र स्थानों पर युवा तथा श्रद्धालु पुरोहितो द्वारा सम्पन्न हुए। इस प्रकार भगवान् विष्णु की पूजा की गई और समस्त देवताओं को प्रसाद वितरित किया गया। सभी अनुष्ठान तथा उत्सव परम सफल हुए।

तात्पर्य

कहा गया है कि—**कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह** (भाग० ७ ६ १)। अनुष्ठानो की सफलता के लिए उन्हे युवको, यहाँ तक कि बालको द्वारा सम्पन्न किया जाना चाहिए। मनुष्यो को वचपन से ही वैदिक सस्कृति की, और विशेष रूप से भक्ति की शिक्षा दी जानी चाहिए। इस प्रकार कोई भी अपना जीवन सफल (पूर्ण) वना सकता है। वैष्णव कभी भी देवताओ का अनादर नही करता, किन्तु वह इतना मूर्ख नही होता कि प्रत्येक देवता को परमेश्वर मान ले। परमेश्वर समस्त देवताओ के स्वामी है, अत. देवता उनके सेवक हुए। वैष्णव उन्हे परमेश्वर के सेवक मानता है और उन्ही की उपासना करता है। **ब्रह्मसंहिता** मे मुख्य देवताओ की उपासना **गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि** शब्दो द्वारा की जाती है। मुख्य देवताओ मे शिव, ब्रह्मा तथा गर्भोदकशायी विष्णु, महाविष्णु तथा अन्य समस्त विष्णुतत्व के साथ ही दुर्गादेवी जैसे शक्तितत्व उल्लेखनीय है। वैष्णव इन देवताओ की उपासना पृथक से नही वरन् गोविन्द के माध्यम से करता है। वैष्णव इतना मूर्ख नही होता कि वह देवताओ को श्रीभगवान् से स्वतन्त्र माने। इसकी पुष्टि **श्रीचैतन्यचरितामृत** मे—**एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य**—से हुई है जिसका अर्थ है—श्रीकृष्ण परमेश्वर है और अन्य सभी उनके सेवक है।

भगवतर्षभेण परिरक्ष्यमाण एतस्मिन् वर्षे न कश्चन पुरुषो वाञ्छत्य-विद्यमानमिवात्मनोऽन्यस्मात्कथञ्चन किमपि कर्हिचिदवेक्षते भर्तर्यनुसवनं विजृम्भितस्नेहातिशयमन्तरेण ॥१८॥

भगवता=श्रीभगवान्, **ऋषभेण**=ऋषभदेव द्वारा, **परिरक्ष्यमाणे**=परिरक्षित होकर, **एतस्मिन्**=इस, **वर्षे**=भूखण्ड (ग्रह) मे, **न**=नही, **कश्चन्**=कोई भी, **पुरुषः**=सामान्यजन, **वाञ्छति**=आकाक्षा करता है, **अविद्यमानम्**=उपस्थित न रहकर, **इव**=के समान, **आत्मन.**=अपने लिए, **अन्यस्मात्**=अन्य किसी से, **कथञ्चन**=किसी प्रकार से, **किमपि**=कुछ भी, **कर्हिचित्**=किसी समय, **अवेक्षते**

=देखने का साहस करता है, **भर्तरि**=स्वामी के प्रति, **अनुसवनम्**=सदैव, **विजृम्भित**=बढने वाले; **स्नेह-अतिशयम्**=अत्यन्त स्नेह; **अन्तरेण**=हृदय मे।

अनुवाद

कोई भी व्यक्ति 'आकाश-कुसुम' जैसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता क्योंकि उसे पता रहता है कि ऐसी वस्तुएँ विद्यमान नही है। जब भगवान् ऋषभदेव इस भारतवर्ष-भूमि मे राज्य कर रहे थे तो सामान्य जनता को भी किसी समय या किसी प्रकार से किसी वस्तु की इच्छा नही रह गई थी। कोई 'आकाश-कुसुम' भी नही चाहता था। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी लोग पूर्णतया सन्तुष्ट थे, अतः किसी को किसी भी प्रकार की वस्तु माँगने की आवश्यकता नही थी। सभी लोग राजा के अतीव स्नेह में मग्न थे। चूँकि यह स्नेह निरन्तर बढ़ता गया इसलिए वे किसी भी वस्तु की याचना करने के लिए तैयार नही थे।

तात्पर्य

बगाल मे **घोड़ा-डिम्ब** शब्द प्रचलित है जिसका अर्थ है "घोड़े का अडा।" चूँकि घोडा कभी अडे नही देता इसलिए इस शब्द का कोई अर्थ नही होता। संस्कृत मे एक शब्द है **ख-पुष्प**—जिसका अर्थ है "आकाश कुसुम"। आकाश मे कोई पुष्प नही खिलता इसलिए **ख-पुष्प** या **घोड़ा डिम्ब** जैसी वस्तुओ की कभी याचना नही की जाती। महाराज ऋषभदेव के राज्य मे मनुष्य सभी प्रकार से सम्पन्न थे, अत. उन्हे किसी वस्तु की अपेक्षा नही थी। राजा ऋषभदेव के सु-शासन मे दैनिक जीवन की सभी वस्तुएँ प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध थी। फलतः प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण सतुष्ट था और उसे किसी तरह की आवश्यकता नही थी। यह सरकार (शासन) की पूर्णता का परिचायक है। यदि कुशासन के कारण प्रजा दुखी रहती है तो राज्य अधिकारी निन्दा के पात्र बनते है। किन्तु यहाँ पर एक ऐसा उदाहरण प्राप्त होता है जिसमे पूरे विश्व का सम्राट वैदिक नियमो का पालन करते हुए अपनी प्रजा की समस्त आवश्यकताओ को पूरा करने मे समर्थ है। इस प्रकार भगवान् महाराज ऋषभदेव के राज्य मे सभी लोग सुखी थे।

स कदाचिदटमानो भगवानृषभो ब्रह्मावर्तगतो ब्रह्मर्षिप्रवरसभायां प्रजानां निशामयन्तीनामात्मजानवहितात्मनः प्रश्रयप्रणयभरसुयन्त्रितानप्युपशिक्षयन्निति होवाच ॥१८॥

सः=वह, **कदाचित्**=एक बार, **अटमानः**=घूमते-घूमते, **भगवान्**=श्रीभगवान्, **ऋषभः**=ऋषभदेव, **ब्रह्मावर्त-गतः**=जब वे ब्रह्मावर्त नामक देश मे

[जिसे कुछ लोग वर्मा (ब्रह्मा) देश और कुछ कानपुर के निकट (बिठूर) कहते है] पहुँचे; **ब्रह्म-ऋषि-प्रवर-सभायाम्**=उच्चकोटि के ब्राह्मणो की सभा मे; **प्रजानाम्**=जबकि नागरिक, **निशामयन्तीनाम्**=सुन रहे थे, **आत्म-जान्**=अपने पुत्रो, **अवहित-आत्मनः**=सावधान, **प्रश्रय**=अच्छे आचरण वाले, **प्रणय**=भक्ति वाले, **भार**=अधिकता से, **सुयन्त्रितान्**=सुनियन्त्रित, **अपि**=यद्यपि, **अपशिक्षयन्**=शिक्षा देकर; **इति**=इस प्रकार; **ह**=ही, **उवाच**=कहा।

अनुवाद

एक बार श्रीभगवान् ऋषभदेव घूमते-घूमते ब्रह्मावर्त नामक देश में पहुँचे। वहाँ पर विद्वान ब्राह्मणों की एक बड़ी सभा हो रही थी और राजा के सभी पुत्र बड़े ही मनोयोग से ब्राह्मणों का उपदेश सुन रहे थे। उस सभा में, समस्त नागरिकों के समक्ष ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को शिक्षा दी, यद्यपि वे पहले से अच्छे आचरण वाले, भक्त और योग्य थे। उन्होंने इसलिए शिक्षा दी, जिससे वे भविष्य में अच्छी तरह संसार का शासन चला सकें। वे इस प्रकार बोले।

तात्पर्य

यदि कोई दु खो से पूर्ण इस ससार मे शान्तिपूर्वक रहना चाहता है तो भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रो को दी गई शिक्षाएँ अत्यन्त मूल्यवान है। अगले अध्याय मे उनकी शिक्षाएँ दी गई है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहस्यां संहितायां भक्तिवेदान्त भाष्ये पञ्चम-स्कन्धे चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पचम स्कन्ध, "श्रीभगवान् ऋषभदेव का चरित्र" शीर्षक नामक चौथे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय पाँच

भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को उपदेश

इस अध्याय मे **भागवत-धर्म** का वर्णन किया गया है। इसमे यह बताया गया है कि मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति के लिए कुत्तो तथा सुअरो की तरह अत्यधिक श्रम नही करना चाहिए। यह मनुष्य-जीवन उसे परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्धो के नवीकरण के लिए मिला है जिसके लिए सभी प्रकार की तपस्याएँ की जानी चाहिए। तप-कर्म द्वारा हृदय के कलुष को दूर किया जा सकता है और फिर आत्म-पद प्राप्त किया जा सकता है। इस सिद्धि को पाने के लिए भक्त की शरण लेकर उसकी सेवा करनी चाहिए। तभी मुक्ति के द्वार खुलेगे। जो कामिनी तथा इन्द्रियतृप्ति मे आसक्त रहते है वे धीरे-धीरे भौतिक चेतना मे उलझ जाते है और जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के दुखो को भोगते रहते है। जो सबो के कल्याण मे लगे रहते है और सन्तान तथा परिवार मे लिप्त नही रहते वे **महात्मा** कहलाते है। इन्द्रियतृप्ति मे लगे हुए, पवित्र या अपवित्र कर्म करने वाले व्यक्ति आत्मा के प्रयोजन को नही समझ पाते। अत: उन्हे चाहिए कि वे किसी महान भक्त के पास जाकर उसको गुरु के रूप मे स्वीकार करे। उसकी सगति से जीवन का लक्ष्य समझ मे आ जायेगा। ऐसे गुरु के उपदेश से ईश्वर की भक्ति, भौतिक वस्तुओ से विरक्ति, तथा भौतिक दु.ख तथा शोक को सहने की क्षमता प्राप्त की जा सकती है। तब सभी जीवात्माएँ समान दिखेगी और दिव्य विपयो को जानने के लिए उत्सुकता वढेगी। श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए लगातार प्रयत्न करते रहने पर पत्नी, सतान तथा गृह से विराग उत्पन्न हो जाता है। तब मनुष्य समय गँवाना नही चाहता। इस प्रकार वह स्वरूप-सिद्ध वन जाता है। ऐसा व्यक्ति किसी दूसरे को भौतिक कार्यो मे नही लगाता। जो व्यक्ति अपने भक्ति उपदेश द्वारा दूसरे व्यक्ति का उद्धार नही कर सकता वह गुरु, पिता, माता, देवता या पति होने का भागी नही है। ऋषभदेव ने अपने एक सौ पुत्रो को उपदेश देते हुए उन्हे अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को अपना पथ-प्रदर्शक तथा स्वामी स्वीकार करने की सलाह दी। समस्त जीवात्माओ मे ब्राह्मण श्रेष्ठ है और ब्राह्मणो मे वैष्णव श्रेष्ठतर है। वैष्णव की सेवा का अर्थ है श्रीभगवान् की सेवा। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी भरत महाराज के चरित्र तथा सामान्य जनता के हित के लिए भगवान् ऋषभदेव द्वारा किये गये याज्ञिक अनुष्ठानो का वर्णन करते है।

ऋषभ उवाच

नायं देहो देहभाजां नृलोके
कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं
शुद्धयेद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम् ॥ १ ॥

ऋषभः उवाच=भगवान् ऋषभ ने कहा, **न**=नही, **अयम्**=यह, **देह**=शरीर, **देह-भाजाम्**=समस्त देहधारियो का, **नृ-लोके**=इस ससार मे, **कष्टान्**=कष्टकारक, **कामान्**=इन्द्रियतृप्ति, विषय, **अर्हते**=चाहिए; **विट्-भुजाम्**=विष्ठा खाने वालो का, **ये**=जो, **तपः**=तपस्या, **दिव्य**=दिव्य; **पुत्रकाः**=हे पुत्रो !, **येन**=जिसके द्वारा, **सत्त्वम्**=हृदय, **शुद्धयेत**=पवित्र होता है; **यस्मात्**=जिससे, **ब्रह्म-सौख्यम्**=ब्रह्मानन्द, **तु**=निश्चय ही, **अनन्तम्**=अनन्त ।

अनुवाद

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से कहा—हे पुत्रो ! इस संसार के समस्त देहधारियों में जिसे मनुष्य देह प्राप्त हुई है उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए ही अर्हनिश कठिन श्रम नही करना चाहिए क्योकि ऐसा तो विष्ठाभोजी कूकर-सूकर भी कर लेते है। बल्कि मनुष्य को चाहिए कि भक्ति का नैसर्गिक पद प्राप्त करने के लिए वह अपने को तपस्या में लगाये। ऐसा करने से उसका हृदय शुद्ध हो जाता है और जब इस पद को प्राप्त होता है तो उसे शाश्वत जीवन का आनन्द मिलता है जो दिव्य है और कभी न अन्त होने वाला है ।

तात्पर्य

इस श्लोक मे भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रो को मनुष्य जीवन की महत्ता बताते है। **देह-भाक्** शब्द से यह "भौतिक देह धारण करने वाले" का बोध होता है, किन्तु जिस जीवात्मा को मनुष्य देह प्राप्त होती है उसे पशुओ से भिन्न आचरण करना होता है। कूकर तथा सूकर मल खाकर इन्द्रियतृप्ति का लाभ उठाते है। दिन भर अथक परिश्रम करने के बाद मनुष्य भी रात्रि के समय खा-पीकर सभोग और शयन चाहता है। किन्तु इसके साथ ही उन्हे अपनी रक्षा भी करनी होती है। किन्तु यह कोई मानव सभ्यता नही। मनुष्य जीवन का अर्थ है आत्म-जीवन की उन्नति के लिए कष्ट सहना। निस्सन्देह पशुओ तथा वृक्षो को भी अपने दुष्कर्मो के कारण कष्ट भोगने पडते है। किन्तु मनुष्य को स्वेच्छा से दिव्य जीवन की प्राप्ति के लिए तपस्या के रूप मे कष्टो को अगीकार करना चाहिए। दिव्य जीवन प्राप्त

करने के अनन्तर उसे शाश्वत आनन्द प्राप्त हो सकेगा। मुख्य बात तो यह है कि प्रत्येक जीवात्मा सुखोपभोग चाहती है, किन्तु जब तक वह इस देह मे बन्दी है उसे विभिन्न प्रकार के कष्ट झेलने होते है। मनुष्य मे उच्चतर ज्ञान पाया जाता है। हमे चाहिए कि हम गुरुजनो के उपदेश के अनुसार कार्य करे जिसमे शाश्वत सुख प्राप्त हो और भगवान् के धाम जा सके।

इस श्लोक मे यह भी कहा गया है कि सरकार तथा पिता को अपने अधीनस्थों को शिक्षित करके श्रीकृष्णभावना तक पहुँचना चाहिए। श्रीकृष्णभावना (भक्ति) के बिना प्रत्येक जीव जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में फँसा रहता है। इस बन्धन से छुडाकर उन्हे प्रसन्न तथा आनन्दित बनाने के लिए भक्तियोग की शिक्षा दी जानी चाहिए। विमूढ सभ्यता ही अपने नागरिकों को भक्तियोग तक पहुँचने वाली शिक्षा से वचित रखती है। कृष्णभक्ति के लिए मनुष्य कूकर-शूकर तुल्य है। ऋषभदेव के उपदेश वर्तमान समय मे अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्यो को इन्द्रियतृप्ति के लिए घोर श्रम करने की शिक्षा दी जाती है, उनके जीवन का कोई महदुद्देश्य नही रहता। मनुष्य जीविकोपार्जन के लिए भोर होते ही अपने घर से निकलता है और ठसाठस स्थानीय रेलगाडी पकडता है। उसे अपने कार्यालय तक पहुँचने मे एक या दो घटे तक खडा रहना पडता है। तब वह फिर बस करके अपने कार्यालय पहुँचता है। कार्यालय मे वह नौ से पाँच बजे तक मेहनत से कार्य करता है और घर लौटने मे उसे फिर दो-तीन घंटे लग जाते है। भोजनोपरान्त सभोग करके निद्रा मे लीन हो जाता है। इन समस्त कष्टो का एकमात्र लाभ थोडा सा इन्द्रिय-सुख है—**यन् मैथुनादि-गृहमेधि सुखं हि तुच्छम्**। ऋषभदेव स्पष्ट कहते है कि मनुष्य जीवन इस प्रकार जीने के लिए नही मिला, क्योकि ऐसा भोग तो कूकर-शूकर भी करते है। निस्सदेह, कूकर-शूकर को मैथुन के लिए इतना श्रम नही करना पडता। मनुष्य को चाहिए कि वह कूकर-शूकर का अनुकरण न करके भिन्न प्रकार का जीवन भोगे। इसके विकल्प का उल्लेख किया गया है। मनुष्य जीवन तपस्या के लिए है। तपस्या के द्वारा ही वह भव-बन्धन से छूट सकता है। श्रीकृष्णभावना मे रहकर मनुष्य को शाश्वत सुख की गारटी मिल जाती है। भक्तियोग के द्वारा यह जीवन निर्मल हो जाता है। जन्म-जन्मान्तर तक जीवात्मा सुख की खोज करता है, किन्तु उसे अकेले भक्तियोग से यह सुख सहज ही प्राप्त हो जाता है। फिर वह अविलम्ब श्रीधाम जाने का भागी हो जाता है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता मे (४ ९) की गई है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

"हे अर्जुन! मेरे जन्म तथा कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो मनुष्य तत्व से जानता है, वह देह को त्याग कर ससार मे फिर जन्म नही लेता वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्ते-
स्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम् ।
महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता
विमन्यवः सुहृदः साधवो ये ॥ २ ॥

महत्-सेवाम् = महात्माओ की सेवा, **द्वारम्** = मार्ग, **आहुः** = कहते है, **विमुक्तेः** = मुक्ति का, **तमः-द्वारम्** = नारकीय जीवन का मार्ग, **योषिताम्** = स्त्रियो का; **सङ्गि** = साथियो का, **सङ्गम्** = सगति, साथ; **महान्तः** = महात्मा, **ते** = वे, **सम-चित्ताः** = सब प्राणियो को समभाव से देखने वाले, **प्रशान्ताः** = अत्यन्त शान्त, ब्रह्म या भगवान् मे लीन, **विमन्यव.** = क्रोधहीन, **सुहृदः** = प्रत्येक प्राणी के शुभचिन्तक; **साधव** = अनिद्य आचरण के योग्य भक्त, **ये** = जो ।

अनुवाद

महात्माओं की सेवा करके ही मनुष्य भव बन्धन से मुक्ति का मार्ग प्राप्त कर सकता है। ये पुरुष परोपकारी तथा भक्त होते है। चाहे वह ईश्वर से तदाकार करने अथवा श्रीभगवान् का संग प्राप्त करने का इच्छुक हो, प्रत्येक मनुष्य को महात्माओं की सेवा करनी चाहिए। जो ऐसे कर्मों में रुचि नही रखते, जो स्त्री तथा मैथुन प्रेमी व्यक्तियों की संगति करते है उनके लिए नरक का द्वार खुला रहता है। महात्मा समभाव वाले होते हैं। वे एक जीवात्मा तथा दूसरे में कोई अन्तर नहीं मानते। वे परम शान्त, भक्ति में तत्पर, क्रोधरहित तथा परमार्थी होते है। वे कोई निंद्य आचरण नही करते। ऐसे व्यक्ति महात्मा कहलाते हैं।

तात्पर्य

मानव शरीर चौराहे के समान है। चाहे तो कोई मुक्ति का मार्ग ग्रहण करे या नरक को जाने वाले मार्ग का अनुसरण करे। यहाँ यह बताया गया है कि कोई किस प्रकार का मार्ग ग्रहण करे। मुक्ति मार्ग मे महात्माओ की सगति मिलती हैं तथा बन्धन मार्ग मे इन्द्रियतृप्ति तथा कामासक्त व्यक्तियो का सग प्राप्त होता है। दो प्रकार के महात्मा होते है—निराकारवादी तथा भक्त। यद्यपि उनका परम लक्ष्य भिन्न-भिन्न रहता है, किन्तु उद्धार की विधि एक सी है। दोनो ही शाश्वत सुख की कामना करते है। एक निराकार ब्रह्म मे सुख खोजता है और दूसरा श्रीभगवान् की सगति में रहकर। प्रथम श्लोक मे **ब्रह्म-सौख्यं** कहा गया है। ब्रह्म का अर्थ शाश्वत है, निरीश्वरवादी तथा भक्त दोनों ही जीवन के शाश्वत आनन्द की खोज करते है

प्रत्येक दशा मे पूर्ण वनने का उपदेश है। श्रीचैतन्यचरितामृत (मध्य २२.८७) के शब्दो में—

असत्-संग-त्याग,—एइ वैष्णव-आचार।
'स्त्री-संगी'—एक असाधु, 'कृष्णभक्त' आर।

गुणो से विरक्त रहने के लिए असत् अर्थात् भौतिकवादी लोगो की सगति से बचना चाहिए। दो प्रकार के भौतिकवादी (असत्) है—एक तो स्त्री तथा इन्द्रियतृप्ति मे आसक्त है, दूसरे मात्र अभक्त है। सही दिशा है महात्माओ की सगति और उल्टी दिशा है अभक्तो तथा कामियो से दूर रहना।

ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था
जनेषु देहम्भरवार्तिकेषु।
गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु
न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके ॥ ३ ॥

ये=जो; **वा**=अथवा, **मयि**=मुझको; **ईशे**=श्रीभगवान्; **कृत-सौहृद-अर्थाः**=प्रेम बढ़ाने के लिए उत्सुक; **जनेषु**=व्यक्तियों को, **देहम्भर-वार्तिकेषु**=जो शरीर का केवल निर्वाह करना चाहते है, जिन्हे मोक्ष की कामना नही है, **गृहेषु**=घर में, **जाया**=पत्नी; **आत्म-ज**=बच्चे, सन्तान; **राति**=धन या मित्र; **मत्सु**=से युक्त, **न**=नही; **प्रीति-युक्ताः**=अत्यन्त आसक्त, **यावत्-अर्थाः**=जितना आवश्यक है उतना ही धन संग्रह करके रहने वाले; **च**=तथा, **लोके**=इस भौतिक जगत में।

अनुवाद

जो लोग श्रीकृष्णभावना को पुनरुज्जीवित करने तथा ईश्वर-प्रेम बढ़ाने के इच्छुक हैं वे केवल श्रीकृष्ण से सम्बन्धित कार्य करते है। वे उन लोगो से मेलजोल नहीं बढ़ाते जो अपने शरीर पालन, भोजन, शयन, मैथुन तथा सुरक्षा में व्यस्त रहते हैं। वे गृहस्थ होते हुए भी अपने घरबार के प्रति आसक्त नहीं होते। वे पत्नी, सन्तान, मित्र अथवा धन में भी आसक्त नहीं होते, किन्तु उसके साथ ही वे अपने कर्तव्यों के प्रति अन्यमनस्क नहीं रहते। ऐसे पुरुष अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितना धन चाहिए उतना ही संग्रह करते है।

तात्पर्य

चाहे निर्विशेप हो या भक्त, यदि वह आत्मतत्व मे रुचि रखता है तो उसे चाहिए

कि उन लोगो से मेल-जोल न रखे जो तथाकथित सभ्यता के विकास द्वारा अपने शरीर पालन मे ही रुचि दिखाते है। न ही उसे पत्नी, सन्तान, मित्र आदि के सग गार्हस्थ-सुख भोगने के लिए लालायित रहना चाहिए। यदि कोई गृहस्थ है और उसे जीविकोपार्जन करना हो तो निर्वाह के लिए जितने धन की आवश्यकता हो उतना ही सग्रह करना चाहिए। न तो इससे अधिक और न इससे कम। जैसा कि इस श्लोक मे वताया गया है गृहस्थ को चाहिए कि भक्तियोग पालन के लिए धन कमाने का यत्न करे—**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्म-निवेदनम्।** गृहस्थ को चाहिए कि श्रवण तथा कीर्तन के लिए पूरा-पूरा अवसर निकाले। उसे चाहिए कि धर्म मे श्रीविग्रह की पूजा करे, त्यौहार मनावे, मित्रों को आमन्त्रित करे और उन्हे प्रसाद दे। गृहस्थ को इन्ही कार्यो के लिए धन अर्जित करना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति के लिए नही।

नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म
यदिन्द्रियप्रीतय आपृणोति।
न साधु मन्ये यत आत्मनोऽय-
मसन्नपि क्लेशद आस देहः॥ ४॥

नूनम्=निस्सदेह; **प्रमत्तः**=मदान्ध, **कुरुते**=करता है; **विकर्म**=शास्त्रो मे वर्जित पापकर्म, **यत्**=जब, **इन्द्रिय-प्रीतये**=इन्द्रियतृप्ति के लिए, **आपृणोति**=प्रवृत्त होता है, **न**=नही, **साधु**=अच्छा, उपयुक्त, **मन्ये**=मानता हूँ; **यतः**=जिससे; **आत्मनः**=आत्मा का, **अयम्**=यह, **असन्**=क्षण-भगुर, **अपि**=यद्यपि, **क्लेश-दः**=कष्टदायक, **आस**=सम्भव हो सका, **देहः**=शरीर।

अनुवाद

जब मनुष्य इन्द्रियतृप्ति को ही जीवन का लक्ष्य मान बैठता है तो वह भौतिक रहन-सहन के पीछे प्रमत्त होकर सभी प्रकार के पाप-कर्मों में प्रवृत्त होता है। उसे यह ज्ञात नही रहता कि अपने विगत पाप कर्मो के ही कारण उसे यह क्षणभंगुर शरीर प्राप्त हुआ है जो दुखों की खान है। वास्तव में जीवात्मा को भौतिक देह नहीं मिलना चाहिए था, किन्तु इन्द्रियतृप्ति के लिए ऐसा हुआ है। अतः मै मानता हूँ कि बुद्धिमान प्राणी के लिए यह शोभा नही देता कि वह पुनः इन्द्रियतृप्ति में प्रवृत्त हो, जिससे एक के बाद दूसरा शरीर उसे प्राप्त होता है।

तात्पर्य

इस श्लोक में इन्द्रियतृप्ति के लिए माँगना, उधार लेना तथा चोरी करना

निन्दनीय कहा गया है क्योकि ऐसी भावना से घोर नरक प्राप्त होता है। व्यभिचार, मासाहार, मद्यपान तथा द्यूत क्रीडा ये चार प्रकार के पाप-कर्म है। ये ऐसे साधन है जिनसे दूसरी देह धारण करके घोर कष्ट उठाने पड़ते है। वेदो का कथन है— **असंगो ह्य अयं पुरुषः।** जीवात्मा इस भौतिक ससार से किसी प्रकार जुडा नही है, किन्तु इन्द्रिय-सुख उठाने की प्रवृत्ति रखने के कारण उसे ऐसी अवस्था मे पडना होता है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तो की सगति करके अपने जीवन को पूर्ण बनाये। उसे और आगे भौतिक देह के फेर मे नही पडना चाहिए।

पराभवस्तावदबोधजातो
यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम् ।
यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै
कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः ॥ ५ ॥

पराभवः=हार, कष्ट, **तावत्**=जब तक, **अबोध-जातः**=अज्ञान से उत्पन्न, **यावत्**=जब तक, **न**=नही, **जिज्ञासते**=जिज्ञासा करता है, **आत्म-तत्त्वम्**=आत्म-सत्य, **यावत्**=जब तक, **क्रियाः**=कर्म, **तावत्**=तब तक, **इदम्**=यह; **मनः**=मन, **वै**=निस्सन्देह, **कर्म-आत्मकम्**=कर्मो मे व्यस्त, **येन**=जिसके द्वारा; **शरीर-बन्धः**=भौतिक शरीर का बन्धन, देह बन्धन।

अनुवाद

जब तक जीव को आत्म-तत्व की जिज्ञासा नही होती तभी तक उसे अज्ञानवश कष्ट भोगने पड़ते है और उसकी पराजय होती रहती है। कर्म का फल पाप अथवा पुण्य कुछ भी हो सकता है। यदि मनुष्य किसी कर्म में व्यस्त रहता है तो उसका मन कर्म मे रँगा हुआ कहा जाता है। जब तक मन अशुद्ध रहता है, चेतना अस्पष्ट रहती है और जब तक कोई कर्मो मे लगा रहता है तब तक उसे देह धारण करना होता है।

तात्पर्य

सामान्यत. लोग सोचते है कष्ट से छुटकारा पाने के लिए पुण्य कार्य करना चाहिए, किन्तु यह ठीक नही है। भले ही मनुष्य पवित्र कर्म करे और चिन्तन-मनन करे, तो भी उसकी पराजय होती है। उसका एकमात्र लक्ष्य माया तथा समस्त कर्मो के चगुल से उद्धार होना चाहिए। जीवन की समस्याएँ शुष्कज्ञान चिन्तन तथा पुण्य-कर्म करने से नही सुलझती। मनुष्य को अपने आत्म-पद को समझने के लिए जिज्ञासा होनी चाहिए। भगवद्गीता मे (४ ३७) कहा गया है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।।

"जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि ईधन को भस्म कर देती है, उसी भाँति हे अर्जुन ! ज्ञानरूपी अग्नि प्राकृत क्रियाओ के सम्पूर्ण बन्धनो को जला डालती है ।"

जब तक मनुष्य निज को तथा इसके कार्यो को नही समझ लेता तब तक वह भौतिक बन्धन मे ही माना जायेगा। श्रीमद्भागवत मे (१०.२.३२) भी कहा गया है—**येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।** जिस मनुष्य को भक्ति का ज्ञान नही होता वह अपने को मुक्त हुआ मानता है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है । **आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः**—ऐसे पुरुषो को भले ही निराकार ब्रह्म प्राप्त हो जाय, किन्तु भक्ति का ज्ञान न होने के कारण उन्हे पुन भौतिक सुख भोगने के लिए नीचे आना पडता है । जब तक मनुष्य कर्म तथा ज्ञान मे रुचि दिखाता है तब तक वह भौतिक जीवन के कष्टो—जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्यधि को सहता रहता है । कर्मियो को एक के बाद एक देह धारण करना पडता है । जहाँ तक ज्ञानियो का प्रश्न है, जब तक वे ज्ञान की पराकाष्ठा तक नही पहुँच जाते उन्हे इस ससार मे पुन पुनः लौटना पड़ता है । जैसा कि भगवद्गीता मे (७.१९) व्याख्या की गई है—**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।** मुख्य वात है श्रीकृष्ण वासुदेव को सव कुछ मानना और उन्ही के प्रति समर्पित होना । कर्मी इसे नही जानता, किन्तु ईश्वर की भक्ति मे तत्पर भक्त सम्यक रीति से कर्म तथा ज्ञान को जानता है अतः शुद्ध भक्त कर्म या ज्ञान मे तनिक भी रुचि नही रखता । **अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम् ।** वास्तविक भक्त पर कर्म तथा ज्ञान रचमात्र भी छू नही जाता । उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य ईश्वर की सेवा करना है ।

एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते
अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने ।
प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे
न मुच्यते देहयोगेन तावत् ।। ६ ।।

एवम्=इस प्रकार, **मनः**=मन, **कर्म-वशम्**=कर्म के वशीभूत, **प्रयुङ्क्ते**=कार्य करता है, **अविद्यया**=अविद्या अथवा अज्ञान से, **आत्मनि**=जब जीवात्मा; **उपधीयमाने**=ढका रहता है, **प्रीतिः**=प्रेम, **न**=नही, **यावत्**=जव तक, **मयि**=मुझ, **वासुदेवे**=वासुदेव अथवा कृष्ण मे; **न**=नही, **मुच्यते**=छुटकारा पाता है; **देह-योगेन**=देह के सम्पर्क से, **तावत्**=तव तक ।

अनुवाद

जब जीवात्मा तमोगुण से आच्छादित रहता है तो वह न तो व्यक्ति को और न परम-आत्मा को समझ सकता है। उसका मन कर्म के वशीभूत रहता है। अतः जब तक उस वासुदेव में प्रीति नहीं होती तब तक उसे देह बन्धन से छुटकारा नहीं मिल पाता।

तात्पर्य

जब मन कर्म से दूषित रहता है तो जीवात्मा एक स्थिति से दूसरे में उन्नति चाहता है। सामान्य रूप से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए अहर्निश कर्म मे संलग्न रहता है। वैदिक अनुष्ठानों को जानते हुए भी मनुष्य स्वर्ग-लोक पहुँचने का इच्छुक रहता है। वह यह भूल जाता है कि उसकी वास्तविक रुचि श्रीधाम को लौटने मे है। कर्म करता हुआ मनुष्य विभिन्न योनियो मे ब्रह्माण्ड भर मे घूमता रहता है। किन्तु जब तक वह गुरु के सम्पर्क मे नही आता वह भगवान् वासुदेव की सेवा मे प्रवृत्त नही होता। वासुदेव को समझने के लिए कई जन्म धारण करने पड़ते है। जैसा कि भगवद्गीता मे (७ १९) पुष्टि की गई है—**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः**। अनेक जन्मों तक कष्ट भोगकर वासुदेव के चरण-कमल में शरण मिलती है। जब ऐसा हो जाता है तो मनुष्य बुद्धिमान बनकर ईश्वर के प्रति समर्पित हो जाता है। जन्म-मृत्यु की पुनरावृत्ति को रोकने का यही एकमात्र उपाय है। इसकी पुष्टि दशाश्वमेध घाट मे श्रील रूप गोस्वामी को श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा दिए गए उपदेश से होती है (श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्य १९ १५१)—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

जीवात्मा विभिन्न रूपो तथा देहो मे अनेक लोको मे भ्रमण करता रहता है और यदि दैववश वह गुरु के सम्पर्क मे आता है तो गुरु के अनुग्रह से उसे श्रीकृष्ण की शरण प्राप्त होती है और उसका भक्तिपूर्ण जीवन प्रारम्भ हो जाता है।

यदा न पश्यत्ययथा गुणेहां
स्वार्थे प्रमत्तः सहसा विपश्चित्।
गतस्मृतिर्विन्दति तत्र तापा-
नासाद्य मैथुन्यमगारमज्ञः ॥ ७ ॥

यदा=जब, **न**=नही, **पश्यति**=देखता है, **अयथा**=अनावश्यक, **गुण-ईहाम्**

=इन्द्रियतुष्टि की चेष्टा, **स्व-अर्थे**=आत्म-हित मे; **प्रमत्तः**=पागल, **सहसा**= शीघ्र ही, **विपश्चित्**=ज्ञानी भी, **गत-स्मृतिः**=स्मृति खोकर; **विन्दति**=पाता है, **तत्र**=वहाँ, **तापान**=क्लेश, **आसाद्य**=पाकर, **मैथुन्यम्**=मैथुन आश्रित, **अगारम्** =घर; **अज्ञः**=अज्ञानवश।

अनुवाद

भले कोई कितना ही विद्वान तथा चतुर क्यों न हो, यदि वह यह नही समझ पाता कि इन्द्रियतृप्ति के लिए की जाने वाली सारी चेष्टाएँ समय का अपव्यय है तो वह पागल है। वह आत्म-हित को भूलकर इस संसार मे विषयवासना-प्रधान तथा समस्त क्लेशों के आगार अपने घर में आसक्त रहकर प्रसन्न रहना चाहता है। इस प्रकार मनुष्य मूर्ख पंशु के ही तुल्य होता है।

तात्पर्य

भक्ति की निम्नतम (अधम) अवस्था में मनुष्य शुद्ध भक्त नही होता। **अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्**—शुद्ध भक्त होने के लिए समस्त कामनाओ से मुक्त होना चाहिए तथा कर्म एव शुष्क ज्ञान छू तक नही जाना चाहिए। इस अवस्था मे कभी-कभी दार्शनिक चिन्तन मे रुचि हो सकती है जिस पर भक्ति का रग चढा हो। किन्तु इस अवस्था मे भी मनुष्य इन्द्रियतृप्ति चाहता है और गुणो से दूषित रहता है। माया का इतना जवरदस्त प्रभाव रहता है कि ज्ञानी पुरुप भी यह भूल जाता है कि वह श्रीकृष्ण का चिरन्तन दास है। इसलिए वह विषयभोग के चारो ओर केन्द्रित गृहस्थ जीवन मे ही आसक्त रहता है। वह विषयी जीवन के समक्ष नत होकर समस्त प्रकार के भौतिक क्लेशो को सहन करता है। अज्ञानवश वह भौतिक नियमो की शृखला से बँध जाता है।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै-
र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति॥ ८॥

पुंसः=पुरुप (नर) का, **स्त्रियः**=स्त्री का, **मिथुनी-भावम्**=दाम्पत्य-जीवन के लिए आकर्षण; **एतम्**=यह; **तयोः**=उन दोनो का; **मिथः**=परस्पर; **हृदय-ग्रंथिम्**=हृदयो की गाँठ, **आहुः**=कहते है, **अतः**=तत्पश्चात्, **गृह**=घर से, **क्षेत्र** =खेत, **सुत**=पुत्र, **आप्त**=सम्वन्धी, स्वजन, **वित्तैः**=(तथा) धन से; **जनस्य**=

जीवात्मा का, मोहः=मोह; अयम्=यह, अहम्=मै; मम=मेरा; इति=इस प्रकार।

अनुवाद

स्त्री तथा पुरुष के मध्य का आकर्षण संसार का मूल नियम है। इस भ्रांत धारणा के कारण स्त्री तथा पुरुष के हृदय परस्पर जुड़े रहते है। इसी के फलस्वरूप मनुष्य अपने शरीर, घर, धन, सन्तान, स्वजन तथा धन के प्रति आकृष्ट होता है। इस प्रकार मनुष्य जीवन के मोहों को बढ़ाता है और "मै तथा मेरा" के रूप में सोचता है।

तात्पर्य

स्त्री तथा पुरुष के बीच सहज आकर्पण का प्रमुख कारण विषय है और विवाहित होने पर यह आकर्षण और दृढ हो जाता है। स्त्री तथा पुरुष के इस ग्रथिल सम्बन्ध के कारण मोह उत्पन्न होता है जिससे यह सोचना पडता है कि "अमुक पुरुष मेरा पति है" या "अमुक मेरी पत्नी है।" यह **हृदय ग्रंथि** कहलाती है। इस ग्रथि को खोल पाना कठिन है भले ही स्त्री तथा पुरुष वर्णाश्रम के नियमो के अनुसार या तलाक देने के कारण विलग क्यो न हो ले। प्रत्येक दशा मे स्त्री पुरुष के बारे मे और पुरुप स्त्री के वारे मे सोचता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति परिवार, धन तथा सन्तान के प्रति आसक्त हो जाता है, भले ही ये सव क्षणिक क्यो न हो। कभी-कभी संन्यास लेने के वाद कोई किसी मन्दिर मे रहने लगते है, किन्तु ऐसी आसक्ति गृहस्थी के प्रति आकर्षण के समान बलवती नही होती। परिवार की आसक्ति सबसे प्रबल मोह है। **सत्य-संहिता** में कहा गया है--

ब्रह्माद्या याज्ञवाल्काद्या मुच्यन्ते स्त्री-सहायिनः।
बोध्यन्ते केचनैतेषां विषेशं च विदो विदुः॥

कभी-कभी यह देखा जाता है कि ब्रह्मा जैसे महापुरुषो के लिए स्त्री तथा पुत्र वन्धन के कारण नही होते। उल्टे, पत्नी आध्यात्मिक जीवन तथा मुक्ति मे सहायक वनती है। तो भी अधिकाश व्यक्ति दाम्पत्य भाव की ग्रन्थि से बँधे रहते है फलत: वे कृष्ण के साथ अपने सम्वन्ध को भूल जाते है।

यदा मनोहृदयग्रन्थिरस्य
कर्मानुबद्धो दृढ आश्लथेत।
तदा जनः सम्परिवर्ततेऽस्माद्
मुक्तः परं यात्यतिहाय हेतुम्॥ ९॥

यदा=जब; **मनः**=मन; **हृदय-ग्रन्थिः**=हृदय की गाँठ; **अस्य**=इस व्यक्ति का; **कर्म-अनुबद्धः**=पूर्व कर्मो के फलो से आबद्ध, **दृढ़**=अत्यन्त प्रबल, **आश्लथेत**=ढीली पडती है, **तदा**=उस समय, **जनः**=बद्धजीव, **सम्परिवर्तते**=विमुख हो जाता है; **अस्मात्**=विषयी जीवन के प्रति आसक्ति से; **मुक्तः**=मुक्त, **परम्**=दिव्य लोक को; **याति**=जाता है, **अतिहाय**=त्याग कर, **हेतुम्**=मूल कारण ।

अनुवाद

जब पूर्व कर्म-फलों के कारण भौतिक जीवन में फँसे हुए व्यक्ति के हृदय की दृढ़ गाँठ ढीली पड़ जाती है तो वह घर, स्त्री तथा सन्तान के प्रति अपनी आसक्ति से विमुख होता है । इस तरह उसका मोह (मै तथा मेरा) टूट जाता है, वह मुक्त हो जाता है और उसे दिव्य लोक की प्राप्ति होती है ।

तात्पर्य

साधुओ की सगति तथा भक्ति से जब मनुष्य क्रमश· सासारिक बुद्धि से मुक्त होता है तो हृदय की आसक्ति-ग्रन्थि ढीली पडती है । इस प्रकार वह बद्ध जीवन से मुक्त होकर भगवान् के धाम जाने का अधिकारी बन जाता है ।

हंसे गुरौ मयि भक्त्यानुवृत्या
वितृष्णया द्वन्द्वतितिक्षया च ।
सर्वत्र जन्तोर्व्यसनावगत्या
जिज्ञासया तपसेहानिवृत्त्या ॥१०॥

मत्कर्मभिर्मत्कथया च नित्यं
मद्देवसङ्गाद् गुणकीर्तनान्मे ।
निर्वैरसाम्योपशमेन पुत्रा
जिहासया देहगेहात्मबुद्धेः ॥११॥

अध्यात्मयोगेन विविक्तसेवया
प्राणेन्द्रियात्माभिजयेन सध्र्यक् ।
सच्छ्रद्धया ब्रह्मचर्येण शश्वद्
असम्प्रमादेन यमेन वाचाम् ॥१२॥

सर्वत्र मद्भावविचक्षणेन
ज्ञानेन विज्ञानविराजितेन ।
योगेन धृत्युद्यमसत्त्वयुक्तो
लिङ्गं व्यपोहेत्कुशलोऽहमाख्यम् ॥१३॥

हंसे=परमहंस अथवा आत्म तत्वज्ञ, **गुरौ**=गुरु मे, **मयि**=मुझ श्रीभगवान् मे; **भक्त्या**=भक्ति के द्वारा; **अनुवृत्या**=पालन करके, **वितृष्णया**=इन्द्रियतृप्ति से विरक्ति द्वारा, **द्वन्द्व**=ससार की द्वैतता का; **तितिक्षया**=सहिष्णुता से, **च**=भी; **सर्वत्र**=सभी जगह, **जन्तोः**=जीवात्मा का, **व्यसन**=जीवन की क्लेशमय दशा, **अवगत्या**=समझ कर; **जिज्ञासया**=सत्य के सम्बन्ध में पूछताछ द्वारा, **तपसा**=तपस्या से; **ईहा-निवृत्त्या**=इन्द्रियतृप्ति के प्रयास को त्यागने से; **मत्-कर्मभिः**=मेरे लिए कार्य करने से, **मत्-कथया**=मेरी कथा सुनकर, **च**=भी, **नित्यम्**=सदैव, **मत्-देव-संगात्**=मेरे भक्तो की सगति से, **गुण-कीर्तनात् मे**=मेरे दिव्य गुणो के कीर्तन तथा महिमा गान से; **निर्वैर**=शत्रुता रहित; **साम्य**=आत्मज्ञान के कारण सबो को समान देखते हुए, **उपशमेन**=क्रोध, शोक आदि को जीत कर, **पुत्राः**=हे पुत्रो, **जिहासया**=त्याग करने की इच्छा से; **देह**=देह के साथ, **गेह**=घर के साथ, **आत्म-बुद्धेः**=आत्मबोध, **अध्यात्म-योगेन**=शास्त्रो के अध्ययन से, **विविक्त-सेवया**=एकान्त वास द्वारा, **प्राण**=श्वास, **इन्द्रिय**=इन्द्रियाँ, **आत्म**=मन, **अभिजयेन**=नियन्त्रण द्वारा; **सध्र्यक्**=पूर्णतया, **सत्-श्रद्धया**=धार्मिक ग्रन्थो मे श्रद्धा उत्पन्न करके, **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य पालन द्वारा, **शश्वत्**=सदैव, **असम्प्र-मादेन**=किकर्तव्यमूढ न होकर; **यमेन**=सयम से, **वाचाम्**=शब्दो का; **सर्वत्र**=सभी जगह; **मत्-भाव**=मेरा है, यह भाव; **विचक्षणेन**=अवलोकन द्वारा, **ज्ञानेन**=ज्ञान बढ़ा कर; **विज्ञान**=ज्ञान के सम्प्रयोग द्वारा, **विराजितेन**=प्रकाशित; **योगेन**=भक्तियोग के अभ्यास से; **धृति**=धैर्य, **उद्यम**=उत्साह, **सत्त्व**=विवेक, **युक्तः**=युक्त, **लिङ्गम्**=भौतिक वन्धन का कारण, **व्यपोहेत्**=त्यागा जा सकता है; **कुशलः**=पूर्ण कुशलता मे, **अहम् आख्यम्**=झूठा अहकार ।

अनुवाद

हे पुत्रो ! तुम्हे सिद्ध गुरु अर्थात् परमहंस को मानना चाहिए । इस प्रकार तुम मुझ श्रीभगवान् पर अपनी श्रद्धा तथा प्रेम रख सकोगे । तुम्हें इन्द्रियतृप्ति से घृणा करनी चाहिए तथा ग्रीष्म एवं शीत ऋतु के समान आनन्द तथा पीड़ा की द्वैतता को सहना चाहिए । उन जीवात्माओं की कष्टमय दशा को, जो स्वर्ग में भी दुखी रहती है, समझने का प्रयास करो । सत्य का अन्वेषण करो । फिर भक्ति के लिए समस्त प्रकार की तपस्या करो । इन्द्रिय-सुख के लिए प्रयत्नों का परित्याग करके

ईश्वर की भक्ति करो। श्रीभगवान् की कथा का श्रवण करो और सदैव भक्तों की संगति करो। ईश्वर का कीर्तन और गुणगान करो और सबों को समभाव से देखो। शत्रुता त्याग कर क्रोध तथा शोक का दमन करो। निज को देह न मानते हुए घर को त्याग कर शास्त्रों का अध्ययन करो। एकान्त वास करो और प्राणवायु (श्वास), मन तथा इन्द्रियों को पूर्णतया वश में करने का अभ्यास करो। वैदिक साहित्य अर्थात् शास्त्रों पर पूर्ण श्रद्धावान बनो और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करो। अपने कर्तव्यों को करते हुए वृथा बातें करने से बचो। सदैव श्रीभगवान् का चिन्तन करते हुए अधिकारी से ज्ञान प्राप्त करो। इस प्रकार उत्साह एवं धैर्यपूर्वक भक्तियोग का अभ्यास करते रहने से तुम्हारा अहंकार जाता रहेगा।

तात्पर्य

इन चार श्लोको मे ऋषभदेव अपने पुत्रों को बताते है कि वे किस प्रकार अहकार तथा ससारी बद्ध जीवन से उत्पन्न झूठी पहचान (तादात्म्य) से मुक्त हो सकते है। उपर्युक्त विधि से अभ्यास करने पर मुक्त हुआ जा सकता है। इन उपदिष्ट विधियो से भौतिक शरीर (**लिङ्गं व्यपोहेत**) का परित्याग करके अपने मूल आत्म-देह मे स्थित हुआ जा सकता है। किन्तु सर्वप्रथम गुरु बनाना पड़ता है। श्रील रूप गोस्वामी ने अपनी कृति **भक्तिरसामृतसिंधु** मे इसका समर्थन किया है—**श्री-गुरु पादाश्रयः**। भौतिक ससार के बधनो से मुक्त होने के लिए गुरु के पास जाना होता है। **तद्-विज्ञानार्थं स गुरुं एवाभिगच्छेत्**। गुरु से प्रश्न करके तथा सेवा करके आत्म-जीवन मे अग्रसर हुआ जा सकता है। जब कोई भक्ति मे लग जाता है तो व्यक्तिगत सुविधा—खाने, सोने तथा पहनने—का आकर्षण सहज ही कम होता जाता है। भक्त की संगति करने से आत्म-स्तर बना रहता है। **मद्-देव-सङ्गात्** शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। ऐसे अनेक धर्म है जिनमें विभिन्न देवताओ की पूजा की जाती है, किन्तु यहाँ **सङ्गात्** का अर्थ ऐसी सगति है जो श्रीकृष्ण को ही उपास्य श्रीविग्रह रूप मे स्वीकारती है।

द्वन्द्व-तितिक्षा भी महत्वपूर्ण है। जब तक प्राणी इस ससार मे रहता है तब तक इस देह मे आनन्द तथा कष्ट होता रहता है। जैसा कि भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण उपदेश देते है—**तांस्तितिक्षस्व भारत**। मनुष्य को इस ससार मे सुख तथा दुख सहना सीखना होता है। उसे चाहिए कि वह अपने परिवार से विरक्त होकर ब्रह्मचर्य पालन करे। शास्त्रो के अनुसार अपनी पत्नी के साथ सभोग करना भी ब्रह्मचर्य है, किन्तु व्यभिचार वर्जित है क्योकि इससे आत्म-चेतना जाती रहती है। **विज्ञान विराजित** भी ऐसा ही महत्वपूर्ण शब्द है। प्रत्येक कार्य वैज्ञानिक विधि से तथा विवेकपूर्ण रीति से किया जाना चाहिए। मनुष्य को सिद्ध जीव होना चाहिए। इस प्रकार वह भौतिक वन्धन से छूट सकता है।

जैसा कि श्रीमध्वाचार्य इंगित करते हैं इन चारों श्लोकों का सारांश यह है कि इन्द्रियतृप्ति की आकांक्षा से कार्य करते हुए ईश्वर की प्रिय सेवा में सदैव संलग्न रहना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मुक्ति का स्वीकृत मार्ग भक्ति योग है। श्रील मध्वाचार्य अध्यात्म से उद्धरण देते हैं—

आत्मनोऽविहितं कर्म वर्जयित्वान्य-कर्मणः।
कामस्य च परित्यागो निरीहेत्याहुरुत्तमा.॥

मनुष्य को चाहिए कि आत्मा के लाभ हेतु ही सारे कार्य करे अन्य कार्यों का परित्याग कर दे। जब मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त होता है तो उसे निस्पृह कहते हैं। किन्तु जीवात्मा कभी भी पूर्णतया निस्पृह नहीं हो सकती, किन्तु जब वह आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का हित चिन्तन नहीं करता तो निस्पृह कहलाता है।

आत्म-ज्ञान ही **ज्ञान-विज्ञान-समन्वितम्** है। ज्ञान तथा विज्ञान से पूर्णतया सज्जित होने पर मनुष्य पूर्ण होता है। ज्ञान का अर्थ है श्रीभगवान् विष्णु को ही परम जीव समझना। विज्ञान का अर्थ है संसार की अविद्या से छुटकारा दिलाने वाले कार्य। जैसा कि श्रीमद्भागवत में (२ ९ ३१) कहा गया है—**ज्ञानं परम-गुह्यं मे यद्विज्ञान-समन्वितम्।** श्रीभगवान् का ज्ञान परम गुह्य है और जिस परम ज्ञान से उसे कोई समझता है उससे समस्त जीवों की मुक्ति होती है। ऐसा ही ज्ञान विज्ञान है। भगवद्गीता में इसकी पुष्टि (४ ९) इस प्रकार है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेतिसोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो मनुष्य तत्व से जानता है, वह देह को त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

कर्माशयं हृदयग्रन्थिबन्ध-
मविद्ययाऽऽसादितमप्रमत्तः।
अनेन योगेन यथोपदेशं
सम्यग्व्यपोह्योपरमेत योगात्॥१४॥

कर्म-आशयम्=कर्म की आकांक्षा, **हृदय-ग्रन्थि**=हृदय स्थित गाँठ, **बन्धम्**=बन्धन; **अविद्यया**=अविद्या के कारण, **आसादितम्**=लाया जाकर, **अप्रमत्तः**=अत्यन्त सावधान, जो मोहग्रस्त न हो, **अनेन**=इस, **योगेन**=योग-अभ्यास से;

यथा-उपदेशम्=जैसा उपदेश दिया गया; **सम्यक्**=पूर्णतया; **व्यपोह्य**=मुक्त होकर; **उपरमेत**=परित्याग करना चाहिए; **योगात्**=मुक्ति के साधन योगाभ्यास से।

अनुवाद

हे पुत्रो! तुम्हे मेरे उपदेश के अनुसार आचरण करना चाहिए। अत्यन्त सावधान रहो। इन विधियों से तुम लोग कर्म-अभिलाषा की अविद्या से छूट सकोगे और तुम्हारे हृदय मे स्थित बन्धनरूपी ग्रंथि पूर्णतया कट जायेगी। तदनन्तर साधनों का परित्याग कर देना चाहिए। अर्थात् तुम्हे मुक्ति-क्रिया में आसक्त नही होना चाहिए।

तात्पर्य

मुक्ति की क्रिया **ब्रह्म-जिज्ञासा** है। सामान्यतः इसे **नेतिनेति** कहते है जिसका अर्थ है वह क्रिया जिससे परम सत्य की खोज का विश्लेषण किया जाता है। यह विधि तब तक जारी रहती है जब तक मनुष्य आत्म-जीवन को प्राप्त नही होता। यह आत्म-जीवन ब्रह्मभूत अर्थात् आत्म-अनुभूति की स्थिति है। भगवद्गीता के शब्दो मे (१८.५४)—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"ब्रह्मभूत पुरुष को तत्काल परब्रह्म की अनुभूति होती है। वह न शोक करता है और न इच्छा ही करता है, सब प्राणियो मे समभाव रखता है। इस अवस्था मे उसे मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है।"

इसका उद्देश्य पराभक्ति अर्थात् परमेश्वर की दिव्य सेवा मे प्रवेश है। इसे प्राप्त करने के लिए अपने अस्तित्व का विश्लेषण करता है, किन्तु भक्ति मे सलग्न रहने पर उसे ज्ञान की खोज करने की आवश्यकता नही रह जाती। अविचलित भाव से भक्ति मे मात्र सलग्न रहने से मुक्त अवस्था में रहा जा सकता है (देखे भगवद्गीता १४ २६)—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अविचल भाव से भक्ति करना स्वय ही **ब्रह्मभूत** है। इसकी दूसरी विशेषता है **अनेन योगेन यथोपदेशं**—गुरु से प्राप्त उपदेशो का तुरन्त पालन होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु के उपदेशो से तनिक भी विचलित न हो, न ही उनका उल्लघन करे। उसे चाहिए कि ग्रन्थो के अवलोकन में ही न लगा रहे वरन्

साथ ही साथ गुरु की आज्ञा को कार्य रूप मे परिणत करे (**यथोपदेशं**)। भौतिक अनुभूति का परित्याग हो सके इसके लिए योगाभ्यास करना चाहिए, किन्तु भक्ति करने पर इसकी आवश्यकता नही रह जाती। बात यह है कि योगाभ्यास को छोड़ा जा सकता है किन्तु भक्ति को नही। जैसा कि श्रीमद्भागवत मे (१.७.१०) कहा गया है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

जो आत्माराम (मुक्त) है उन्हे भी सदैव भक्ति मे तत्पर रहना चाहिए। स्वरूप-सिद्ध होने पर योगाभ्यास छोड़ा जा सकता है, किन्तु भक्ति को किसी भी अवस्था में नही छोड़ा जा सकता। योग तथा दार्शनिक चिन्तन समेत आत्मसाक्षात्कार के अन्य कर्म त्यागे जा सकते हैं, किन्तु भक्ति को तो सदैव बनाये रखना चाहिए।

पुत्रांश्च शिष्यांश्च नृपो गुरुर्वा
मल्लोककामो मदनुग्रहार्थः।
इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्
न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान्।
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत
निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते॥१५॥

पुत्रान्=पुत्रो को; **च**=तथा, **शिष्यान्**=शिष्यो को; **च**=तथा; **नृपः**=राजा; **गुरुः**=गुरु; **वा**=अथवा; **मत्-लोक-कामः**=मेरे धाम के इच्छुक; **मत्-अनुग्रह-अर्थ**=मेरे अनुग्रह को जीवन लक्ष्य मानने वाले; **इत्थम्**=इस प्रकार से, **विमन्युः**=क्रोधरहित; **अनुशिष्यात्**=शिक्षा देनी चाहिए; **अ-तत्-ज्ञान**=आत्म-ज्ञान से विहीन, **न**=नही; **योजयेत्**=लगाना चाहिए, **कर्मसु**=कर्म मे, **कर्म-मूढान्**=केवल पुण्य या पाप कर्म मे रत रहने वाले; **कम्**=क्या, **योजयन्**=प्रवृत्त करते हुए; **मनु-जः**=मनुष्य, **अर्थम्**=लाभ; **लभेत**=प्राप्त कर सकता है; **निपातयन्**=ढकेल कर; **नष्ट-दृशम्**=दिव्य ज्योति से विहीन; **हि**=निस्सदेह, **गर्ते**=गड्ढे मे।

अनुवाद

जिसे ईश्वर के धाम जाने की अभिलाषा हो उसे चाहिए कि श्रीभगवान् के अनुग्रह को जानने का परम लक्ष्य माने। यदि वह पिता है तो अपने पुत्रों को, यदि

गुरु है तो अपने शिष्यों को और यदि राजा है तो अपनी प्रजा को, उसी प्रकार शिक्षा दे जैसा कि मैने उपदेश दिया है। उन्हे चाहिए कि क्रोधरहित होकर इन्हें शिक्षा देते रहें, भले ही वे उनकी आज्ञा का पालन करने में कभी-कभी असमर्थ क्यों न रहें। कर्म-मूढों को चाहिए कि वे सभी प्रकार की भक्ति में लगें। उन्हें सकाम कर्म से बचना चाहिए। यदि शिष्य, पुत्र या नागरिक को, जो दिव्य दृष्टि से रहित है, कर्म के बन्धन में डाला जाये तो भला वह कैसे लाभान्वित होगा? यह अंधे मनुष्य को गड्ढे में ढकेलने जैसा है।

तात्पय

भगवद्गीता मे (३ २६) कहा गया है—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

"ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि सकाम कर्मो से आसक्ति वाले अज्ञानियो की बुद्धि मे भ्रम उत्पन्न न करे अर्थात् उन्हे कर्म से विमुख न करे, वरन् अपने आचरण से उन्हे भक्तिभाव के साथ कर्म करने मे ही लगाये।"

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान् समीहेत निकामकामः।
अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतो-
रनन्तदुःखं च न वेद मूढः ॥१६॥

लोकः=लोग; **स्वयम्**=स्वय, **श्रेयसि**=कल्याण-मार्ग का, **नष्ट-दृष्टिः**=जिनकी दृष्टि नष्ट हो चुकी है, **यः**=जो, **अर्थान्**=विषय-भोग की वस्तुएँ, **समीहेत**=आकाक्षा; **निकाम-कामः**=इन्द्रियसुख के लिए अनेक कामेच्छाओं वाला, कामी; **अन्योन्य-वैरः**=परस्पर ईर्ष्यालु होकर, **सुख-लेश-हेतोः**=केवल क्षणिक सुख के लिए, **अनन्त-दुःखम्**=अपार कष्ट, **च**=भी; **न**=नही, **वेद**=जानते है; **मूढः**=मूढ लोग, मूर्ख।

अनुवाद

अज्ञानवश भौतिकवादी व्यक्ति अपना सच्चा हित नहीं समझ पाते जो जीवन का कल्याणकारी मार्ग है। वह भौतिक सुख की कामेच्छाओं से बँधा रहता है और उसकी सारी योजनाएँ इसी एक कार्य के लिए तैयार की जाती है। ऐसा व्यक्ति क्षणिक सुख के लिए वैरपूर्ण समाज की सृष्टि करता है और अपनी मानसिकता के

कारण वह दुख के सागर में कूद पड़ता है। ऐसे मूर्ख व्यक्ति को इसका ज्ञान भी नही होता।

तात्पर्य

नष्टदृष्टि: शब्द का अर्थ है, "जो भविष्य को नही देख पाता" और यह शब्द इस श्लोक मे अत्यन्त सार्थक है। प्राण तो एक शरीर से दूसरे में चला जाता है और इस जीवन मे किये गये कर्मो का अच्छा या बुरा फल अगले जन्म मे मिलता है। जो अल्पज्ञ है और भविष्य को नही देख सकता वह इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यों से दुश्मनी मोल लेता है और लडता-भिडता रहता है। इसके फलस्वरूप उसे अगले जीवन मे कष्ट उठाना पडता है। किन्तु अन्धे व्यक्ति की भाँति वह कार्य करता है, जिससे उसे अनन्त कष्ट झेलने पडते है। ऐसा व्यक्ति मूढ़ है क्योकि वह अपना समय गँवाता है और ईश्वर की भक्ति को नही समझ पाता। जैसा कि भगवद्गीता मे (७ २५) कहा गया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

"मै मूढ तथा अल्पज्ञ मनुष्यो के समक्ष कभी प्रकट नही होता। उनके लिए मै अपनी योगमाया मे छिपा रहता हूँ। इस प्रकार मोहित हुआ ससार मुझ अजन्मा तथा अच्युत को नही जान पाता।"

कठोपनिषद मे भी कहा गया है—**अविद्यामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।** अब भी कुछ लोग अन्य अन्धे पुरुषो के पास नेतृत्व प्राप्त करने के लिए जाते है, भले ही वे अज्ञानी क्यो न हो। फलस्वरूप इन दोनो को कष्ट उठाना पड़ता है। एक अन्धा दूसरे को खड्ड मे ले जाने वाला होता है।

कस्तं स्वयं तदभिज्ञो विपश्चिद्
अविद्यायामन्तरे वर्तमानम्।
दृष्ट्वा पुनस्तं सघृणः कुबुद्धिं
प्रयोजयेदुत्पथगं यथान्धम् ॥१७॥

कः=ऐसा कौन व्यक्ति है, **तम्**=उसको, **स्वयम्**=स्वय; **तत्-अभिज्ञः**=तत्व-ज्ञान जानते हुए, **विपश्चित्**=विद्वान, **अविद्यायाम् अन्तरे**=अज्ञानवश; **वर्तमानम्**=वर्तमान, रहते हुए, **दृष्ट्वा**=देख कर, **पुनः**=फिर, **तम्**=उसको, **स-घृण**=अत्यन्त दयालु; **कु-बुद्-धिम्**=ससार मार्ग मे लिप्त, **प्रयोजयेत्**=प्रवृत्त

होगा, **उत्पथ-गम्**=उल्टे मार्ग पर अग्रसर होने वाला, **यथा**=सदृश, **अधम्**= अधा पुरुष ।

अनुवाद

यदि कोई अज्ञानी है और ससार-पथ मे लिप्त है तो भला उसे कोई विद्वान, दयालु तथा आत्मज्ञानी पुरुष सकाम कर्म करने तथा भौतिक ससार में अधिकाधिक फँसने के लिए क्योकर प्रवृत्त करेगा ? यदि कोई उल्टी राह पर जा रहा हो तो ऐसा कौन सा सज्जन है जो उसे संकट के पथ पर आगे जाने देगा ? वह इस विधि को क्यो सही मानने लगा ? कोई भी बुद्धिमान अथवा दयालु व्यक्ति ऐसा नही करने देगा ।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्
पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्या-
न्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥१८॥

गुरु.=गुरु, **न**=नही, **सः**=वह, **स्यात्**=होना चाहिए, **स्व-जनः**=कुटुम्बी; **न**=नही, **सः**=ऐसा व्यक्ति, **स्यात्**=होवे, **पिता**=पिता, **न**=नही, **स**=वह; **स्यात्**=हो, **जननी**=माता, **न**=नही, **सा**=वह, **स्यात्**=हो; **दैवम्**=आराध्य देव, **न**=नही, **तत्**=वह, **स्यात्**=होवे, **न**=नही, **पति**=पति, **च**=भी, **सः**= वह, **स्यात्**=हो, **न**=नही, **मोचयेत**=उबार सकता है, **यः**=जो, **समुपेत-मृत्युम्** =वारम्बार जन्म-मृत्यु के मार्ग पर अग्रसर होने वाला ।

अनुवाद

"जो अपने आश्रित को बारम्बार जन्म-मृत्यु के पथ से न उबार सके उसे कभी भी गुरु, पिता, पति, माँ या आराध्य देव नही बनना चाहिए ।"

तात्पर्य

गुरु कई प्रकार के होते है किन्तु ऋषभदेव का उपदेश है कि जो गुरु अपने शिष्य को जन्म-मरण के पथ से उबार सकने मे असमर्थ हो उसे गुरु नही वनना चाहिए । श्रीकृष्ण का शुद्ध भक्त हुए विना कोई व्यक्ति बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के पथ से अपने को वचा नही पाता । **त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।** केवल भगवान् के धाम पहुँच कर ही मनुष्य जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट सकता है । लेकिन जव तक वह सचमुच ही परमेश्वर को नही समझता, तव तक वह परम धाम कैसे जा सकता है ? **जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।**

इतिहास मे ऋषभदेव के उपदेशों का दृष्टान्त प्रस्तुत करने वाली कई घटनाएँ है। बलि महाराज ने शुक्राचार्य का इसलिए परित्याग किया क्योकि वे उन्हे जन्म-मरण के मार्ग से बचाने में असमर्थ रहे। शुक्राचार्य शुद्ध भक्त नही थे, वे सकाम कर्म मे प्रवृत्त थे और जब बलि महाराज ने भगवान् विष्णु को अपना सर्वस्व देना चाहा तो शुक्राचार्य ने उन्हे रोका। वास्तव मे, मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना सर्वस्व ईश्वर को अर्पित कर दे क्योकि वह उन्ही का है। फलस्वरूप परमेश्वर ने भगवद्गीता मे (९.२७) उपदेश दिया है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

"हे कुन्तीपुत्र ! तू जो भी कर्म करता है, जो कुछ खाता, जो कुछ यज्ञ करता है या जो भी दान देता और तपस्या करता है वह सब मुझे अर्पित कर।" यह भक्ति है। बिना भक्त बने मनुष्य परमेश्वर को सर्वस्व अर्पित नही कर सकता और जब तक वह ऐसा नही करता तब तक वह गुरु, पति, पिता या माता नही बन सकता। इसी प्रकार यज्ञ करने वाले ब्राह्मणो की पत्नियों ने अपने पतियो को त्याग दिया जिससे वे श्रीकृष्ण को सन्तुष्ट कर सके। यह ऐसा उदाहरण है जिसमे एक पत्नी अपने पति का परित्याग इसलिए करती है क्योकि वह जन्म-मरण के आसन्न सकटो से उसे नही उबार सकता। इसी प्रकार प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता तथा भरत महाराज ने अपनी माता का परित्याग किया (**जननी न सा स्यात्**)। **दैवम्** शब्द देवता या अपने अधीन की अर्चना स्वीकार करने वाले का द्योतक है। सामान्यतः गुरु, पति, पिता, माता या गुरु-परिजन अपने से कनिष्ठ परिजन की आराधना स्वीकार कर लेते है, किन्तु यहाँ पर ऋषभदेव इसके लिए मना करते है। पहले तो पिता, गुरु वा पति को इतना सक्षम होना चाहिए कि अपने आश्रित को बारम्बार जन्म तथा मृत्यु से उबार सके। यदि ऐसा नही कर पाते तो भर्त्सना के सागर मे डूबते है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि अपने आश्रित का वैसा ही ध्यान रखे जैसे कि गुरु अपने शिष्य का या कि पिता अपने पुत्र का रखता है। ये सारे उत्तरदायित्व एक साथ तब तक नही निभाये जा सकते जब तक अपने आश्रित को जन्म-मरण के चक्कर से उबार न लिया जाय।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं
सत्त्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः।
पृष्ठे कृतो मे यदधर्म आराद्
अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः॥१९॥

इदम्=यह, **शरीरम्**=दिव्य देह अथवा सच्चिदानन्द विग्रह, **मम**=मेरा, **दुर्विभाव्यम्**=अकलपनीय, **सत्वम्**=गुणरहित, **हि**=निस्सदेह, **मे**=मेरा, **हृदयम्**=हृदय, **यत्र**=जहाँ पर, **धर्मः**=धर्म का वास्तविक पद अथवा भक्ति-योग, **पृष्ठे**=पीठ पर, **कृतः**=बनाया हुआ, **मे**=मेरे द्वारा, **यत्**=क्योकि, **अधर्मः**=अधर्म, **आरात्**=अत्यन्त दूर, **अतः**=इसलिए, **हि**=निस्सदेह; **माम्**=मुझको, **ऋषभम्**=जीवो मे श्रेष्ठ, **प्राहुः**=पुकारते है, **आर्याः**=श्रेष्ठ जन, सत्पुरुष ।

अनुवाद

मेरा दिव्य शरीर (सच्चिदानन्दविग्रह) मानव सदृश दिखता है, किन्तु यह भौतिक मनुष्य-शरीर नही है । यह अकल्पनीय है । मुझे बाध्य होकर किसी विशेष प्रकार का शरीर नही धारण करना पड़ता, मै अपनी इच्छानुकूल शरीर धारण करता हूँ । मेरा हृदय भी सात्विक है और मै सदैव अपने भक्तो का कल्याण सोचता रहता हूँ । इसलिए मेरे हृदय में भक्ति पूरित है, जो भक्तो के लिए है । मैने अधर्म को हृदय से बहुत दूर कर दिया है । मुझे अभक्ति बिल्कुल नही रुचती । इन दिव्य गुणो के कारण सामान्यत· लोग श्रीभगवान् ऋषभदेव के रूप में उपासना करते है जो सर्व जीवात्माओ में श्रेष्ठ है ।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्** शब्द उल्लेखनीय है । सामान्यतः हम दो प्रकार की शक्तियो का अनुभव करते है—भौतिक शक्ति (माया) तथा सात्विक शक्ति । भौतिक शक्ति (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि, अह) का हमे कुछ-कुछ अनुभव है क्योकि सबो का शरीर इन तत्वो से बना हुआ है । इस भौतिक शरीर के ही भीतर आत्मा है, किन्तु उसे हम नेत्रो से नही देख सकते । जब हम सात्विक शक्ति से पूर्ण शरीर देखते है तो हमारे लिए यह समझ पाना कठिन हो जाता है कि सात्विक शक्ति को शरीर कैसे प्राप्त हो सकता है । कहा जाता है कि ऋषभदेव का शरीर पूर्णतया सात्विक था, अतः ससारी पुरुष के लिए उसको समझ पाना कठिन है । उसके लिए पूर्णतया सात्विक शरीर अकलपनीय है । जब हमे व्यावहारिक बुद्धि से कोई विषय समझ मे नही आता तो हमे वेदो की दृष्टि ग्रहण करनी चाहिए । जैसा कि **ब्रह्मसंहिता** मे कहा गया है—**ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः** । परमेश्वर का देह स्वरूप युक्त होता है, किन्तु यह भौतिक तत्वो का बना हुआ नही रहता । यह सात्विक आनन्द, सनातन तथा प्राण से युक्त होता है । श्रीभगवान् की अकलपनीय शक्ति से ईश्वर अपने आदि-सात्विक शरीर मे प्रकट हो सकता है, किन्तु हमे ऐसे शरीर का कोई अनुभव न होने से हम मोहग्रस्त हो जाते है और ईश्वर के रूप को सात्विक समझ बैठते है । मायावादी दार्शनिक ईश्वर के सात्विक देह को समझने मे सर्वथा अक्षम है । उनका कथन है कि आत्मा

सदैव निराकार है, अत. जव भी किसी साकार वस्तु को देखते है, तो उसे भौतिक मान बैठते हे। भगवद्गीता मे (६.११) कहा गया है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

"जव मै मनुष्य रूप मे अवतरित होता हूँ तो मूर्ख मेरा उपहास करते है। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नही जानते।"

अज्ञानी लोग सोचते है कि परमेश्वर भौतिक शक्ति से वने शरीर को धारण करते है। भौतिक शरीर सरलता से हमारी समझ मे आ जाता है, किन्तु सात्विक शरीर नही। अतः ऋपभदेव कहते है—**इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्**—इस वैकुण्ठ जगत् मे प्रत्येक का सात्विक शरोर होता है। यहाँ भौतिक अस्तित्व का कोई अनुभव नही है। वैकुण्ठ जगत मे भक्ति है और भक्ति की प्राप्ति। यहाँ सेव्य, सेवा तथा सेवक ये तीन ही है। ये तीनो पूर्ण सात्विक है अत वैकुण्ठ जगत पूर्ण है। इसमे भौतिक कलुप छू तक नही गया। नितान्त दिव्य होने से भगवान् ऋषभदेव कहते है कि उनका हृदय धर्म से वना है। भगवद्गीता मे (१८ ६६) धर्म की व्याख्या इस प्रकार की गई है—**सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज**। वैकुण्ठ जगत मे प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर को समर्पित है और सत्व-पद पर आसीन है। यद्यपि सेवक, सेव्य तथा सेवा सभी है, किन्तु सभी सात्विक है और चित्र-विचित्र। इस समय हमारे भौतिक अनुभव के कारण प्रत्येक वस्तु अकल्पनीय—दुर्विभाव्य—है। सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ही ईश्वर ऋपभदेव कहलाये। वैदिक पदावली मे कहना चाहे तो कहेगे—**नित्यो नित्यानाम्**। हम भी सात्विक है, किन्तु आश्रित है। अत श्रीकृष्ण, जो परमेश्वर है वे आदि जीवात्मा है। ऋषभ शब्द का अर्थ है प्रमुख अथवा सर्वश्रेष्ठ और यह परम जीव या साक्षात् ईश्वर का सूचक है।

तस्माद्भवन्तो हृदयेन जाताः
सर्वे महीयांसममुं सनाभम्।
अक्लिष्टवुद्ध्या भरतं भजध्वं
शुश्रूषणं तद्भरणं प्रजानाम्॥२०॥

तस्मात्=अत (क्योकि मै ही सर्वश्रेष्ठ हूँ), **भवन्तः**=आप लोग, **हृदयेन**= =मेरे हृदय से, **जाताः**=उत्पन्न, **सर्वे**=सभी, **महीयांसम्**=सर्वश्रेष्ठ, **अमुम्**= वह, **स-नाभम्**=भ्राता; **अक्लिष्ट-बुद्ध्या**=भौतिक कलुषहीन आपकी बुद्धि से; **भरतम्**=भरत की, **भजध्वम्**=सेवा करने का यत्न मात्र करो, **शुश्रूषणम्**=सेवा; **तत्**=वह, **भरणम् प्रजानाम्**=नागरिको (प्रजा) पर शासन।

अनुवाद

मेरे पुत्रो ! तुम सभी मेरे हृदय से उत्पन्न हो, जो समस्त सात्विक गुणों का केन्द्र है। अतः तुम्हे संसारी तथा ईर्ष्यालु मनुष्यो के समान नहीं होना है। तुम अपने सबसे बड़े भाई को मानो क्योंकि वह भक्ति मे श्रेष्ठ है। यदि तुम लोग भरत की सेवा करोगे तो उसकी सेवा से मेरी सेवा होगी और तुम स्वयमेव प्रजा पर शासन करोगे।

तात्पर्य

इस श्लोक में हृदय 'उर' अर्थात् वक्षस्थल का सूचक है। यद्यपि पुत्र जननाग से उत्पन्न होता है, किन्तु वास्तव मे वह हृदय मे ही उत्पन्न माना जाता है। हृदय की स्थिति के अनुसार ही वीर्य शरीर का रूप धारण करता है। अत. जब किसी के पुत्र उत्पन्न होता है तो वैदिक प्रथा के अनुसार उसके हृदय को गर्भाधान संस्कार द्वारा शुद्ध किया जाना चाहिए। ऋषभदेव का हृदय निष्कलुष एवं सात्विक था, अतः उनके हृदय से उत्पन्न सभी पुत्र सात्विक थे। फिर भी ऋषभदेव ने सुझाया कि उनका सबसे ज्येष्ठ पुत्र प्रवर था इसलिए अन्यो को उसकी सेवा करनी चाहिए। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि मनुष्य को परिवार के सदस्यो मे क्यो आसक्त होना चाहिए जबकि प्रारम्भ मे उपदेश दिया गया है कि मनुष्य को घर तथा परिवार मे लिप्त नही रहना चाहिए। किन्तु साथ ही यह भी उपदेश है—**महीयसां पादरजोऽभिषेक**—मनुष्य को महीयान अर्थात् सात्विक दृष्टि से महान की सेवा करनी चाहिए। **महत् सेवां द्वार अहुर्विमुक्तेः**—महत् अर्थात् महान भक्त की सेवा करने से मुक्ति का द्वार खुल जाता है। ऋषभदेव का परिवार कोई सामान्य परिवार न था। ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत विशेष रूप से महान थे। इसीलिए अन्य पुत्रो को उनकी सेवा करने का उपदेश दिया गया। यही उनका कर्तव्य था।

परमेश्वर महाराज भरत को इस लोक का प्रमुख शासक बनाने का उपदेश दे रहे थे। यही परमेश्वर की असली योजना थी। कुरुक्षेत्र के युद्ध मे श्रीकृष्ण महाराज युधिष्ठिर को इस लोक का चक्रवर्ती राजा बनाना चाहते थे। वे कभी नही चाहते थे कि यह पद दुर्योधन को मिले। जैसा कि पहले के श्लोक मे कहा जा चुका है कि भगवान् ऋषभदेव का हृदय **हृदय यत्र धर्मः** था। भगवद्गीता मे धर्म का लक्षण बताया गया है—श्रीभगवान् को समर्पण करो। धर्म की रक्षा हेतु (**परित्राणाय साधूनाम्**) ईश्वर अपने भक्त को पृथ्वी का शासक बनाना चाहता है। तभी सबो का कल्याण सम्भव है। ज्योंही असुर पृथ्वी का शासन सँभालता है अव्यवस्था फैल जाती है। इस समय यह जगत प्रजातान्त्रिक प्रणाली के प्रति उन्मुख है, किन्तु जनता सासारिक गुणो तथा अज्ञान से कलुषित है। फलत. वे शासन चलाने के लिए उचित व्यक्ति नही चुन सकते। राष्ट्रपति का चुनाव मूर्ख शूद्रो के मतदान से होता है, अतः

अन्य शूद्र चुन लिया जाता है और फिर सारी सरकार दूषित हो जाती है। यदि जनता भगवद्गीता के नियमो का कठोरता से पालन करे तो सदैव ईश्वर का भक्त ही चुना जावेगा। फिर तो स्वत उत्तम शासन होगा। इसीलिए ऋषभदेव ने महाराज भरत को इस लोक के सम्राट के रूप मे बनाने को कहा। भक्त की सेवा का अर्थ है परमेश्वर की सेवा, क्योंकि भक्त ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। जब भक्त यह भार लेता है तो राज्य मैत्री पूर्ण तथा सर्व कल्याणमय होता है।

भूतेषु वीरुद्भ्य उदुत्तमा ये
सरीसृपास्तेषु सबोधनिष्ठाः।
ततो मनुष्याः प्रमथास्ततोऽपि
गन्धर्वसिद्धा विबुधानुगा ये ॥२१॥

देवासुरेभ्यो मघवत्प्रधाना
दक्षादयो ब्रह्मसुतास्तु तेषाम्।
भवः परः सोऽथ विरिञ्चवीर्यः
स मत्परोऽहं द्विजदेवदेवः ॥२२॥

भूतेषु=समस्त उत्पन्न जीवो मे (चाहे चर हो या अचर), **वीरुद्भ्य** =पौदों से, **उदुत्तमा**=कही अधिक श्रेष्ठ, **ये**=जो, **सरीसृपा** =रेंगने वाले प्राणी, यथा सर्प, **तेषु**=उनमे से, **स-बोध-निष्ठाः**=वे, जिन्होने बुद्धि विकसित कर ली है; **ततः**=उनमे से; **मनुष्या** =मनुष्य, **प्रमथा**=भूत, **ततः अपि**=उनसे भी श्रेष्ठ, **गन्धर्व**=गधर्वलोक के वासी (देव लोक मे गायक के रूप मे नियुक्त), **सिद्धाः**=सिद्ध लोक के वासी, जिनमे योग शक्ति रहती है, **विबुध-अनुगा**=किन्नरगण, **ये**=जो, **देव**=देवता, **असुरेभ्यः**=असुरो की अपेक्षा, **मघवत्-प्रधाना**=इन्द्र आदि, **दक्ष-आदयः**=दक्ष आदि, **ब्रह्म-सुताः**=ब्रह्मा के पुत्र, **तु**=तब, **तेषाम्**=उनमे से, **भवः**=भगवान् शिव, **परः**=श्रेष्ठ, **सः**=वह (शिव), **अथ**=आगे, और, **विरिञ्च-वीर्यः**=भगवान् ब्रह्मा से उत्पन्न होने से, **सः**=वह (ब्रह्मा) **मत्-पर** =मेरा भक्त; **अहम्**=मैं, **द्विज-देव-देवः**=ब्राह्मणो का उपासक अथवा ब्राह्मणो का भगवान्।

अनुवाद

दो प्रकार की प्रकट शक्तियो (आत्मा तथा जड़ पदार्थ) में से जीव-शक्ति (वनस्पति, घास, वृक्ष तथा पौदे) जड़ पदार्थ (पत्थर, पृथ्वी आदि) से श्रेष्ठ है।

इन अचर पौदों तथा वनस्पतियों की तुलना में रेंगने वाले कीट तथा सर्प श्रेष्ठ है। कीटों तथा सर्पो से पशु श्रेष्ठ है क्योकि उनमे बुद्धि है। पशुओं से मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों से भूत-प्रेत क्योकि इनके कोई शरीर नही होता। भूत-प्रेतो से गंधर्व और गंधर्वो से सिद्ध श्रेष्ठ होते है। सिद्धो से किन्नर और किन्नरो से असुर श्रेष्ठ है। असुरों से देवता और देवताओ मे स्वर्ग का राजा इन्द्र श्रेष्ठ है। इन्द्र से भी श्रेष्ठ ब्रह्मा के पुत्र, यथा दक्ष आदि और इन पुत्रो में भगवान् शिव सर्वश्रेष्ठ है। शिव ब्रह्मा के पुत्र है इसलिए ब्रह्मा श्रेष्ठ माने जाते है किन्तु वे मुझ श्रीभगवान् के अधीन है। चूँकि मै ब्राह्मणों को पूज्य मानता हूँ इसलिए ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है।

तात्पर्य

इस श्लोक मे ब्राह्मणो का पद ईश्वर से भी वढकर बताया गया है। भाव यह है कि शासन का सचालन ब्राह्मणो की देखरेख मे होना चाहिए। यद्यपि ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठतम पुत्र भरत को पृथ्वी का राजा वनाने की सस्तुति की तो भी उसे ससार पर अच्छा शासन करने के लिए ब्राह्मणो की राय लेनी पड़ती। ईश्वर की उपासना **'ब्रह्मण्यदेव'** के रूप मे होती है। ईश्वर ब्राह्मणो अर्थात् भक्तो के अत्यन्त प्रेमी है। यहाँ ब्राह्मण जाति नही वरन् योग्य ब्राह्मण का सूचक है। ब्राह्मण मे आठ गुण होने चाहिए जिनका उल्लेख श्लोक २४ मे हुआ है। ये है साम, दाम, सत्य, तितिक्षा आदि। ब्राह्मणो की सदैव पूजा की जानी चाहिए और उन्ही के निर्देशन मे राजा को शासन करना चाहिए। दुर्भाग्यवश इस कलियुग मे न तो कार्यकारी का चुनाव बुद्धिमान लोगो के द्वारा होता है न वह योग्य ब्राह्मणो द्वारा निर्देशित होता है। फलस्वरूप अव्यवस्था उत्पन्न होती है। जन-समूह को श्रीकृष्णभावना की शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे भरत महाराज जैसे सर्वोत्कृष्ट भक्त को राज्य का शासक चुन सके। यदि राजा का प्रमुख योग्य ब्राह्मण हो तो सव कुछ ठीक रहता है।

इस श्लोक मे विकासवाद का प्रच्छन्न उल्लेख है। पदार्थ से जीवन के विकास के आधुनिक सिद्धान्त का इससे कुछ हद तक समर्थन होता है क्योकि इसमे **भूतेषु विरुद्भ्यः** का उल्लेख है अर्थात् जीवो का विकास वनस्पतियो, घास, पौदो तथा वृक्षो से हुआ जो जड पदार्थो मे श्रेष्ठ है। दूसरे शब्दो मे पदार्थ मे शक्ति होती है कि वह वनस्पतियो के जीव-रूप मे प्रकट हो। इस तरह जीवन पदार्थ से प्रकट होता है और पदार्थ जीवन से। जैसा कि श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता मे (१० ८) कहा है—**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्त· सर्व प्रवर्तते**—मै समस्त वैकुण्ठ तथा मर्त्यलोको का कारण हूँ। मुझसे प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है।

शक्तियाँ दो प्रकार की है—भौतिक तथा आध्यात्मिक (सात्विक) और ये दोनो मूलत श्रीकृष्ण से प्राप्त है। श्रीकृष्ण परम आत्मा है यद्यपि यह कहा जा सकता

है कि भौतिक जगत मे जीवित शक्ति (सजीव) पदार्थ से उत्पन्न है, किन्तु यह स्वीकार करना चाहिए कि पदार्थ मूलत. परम जीव (आत्मा) से उत्पन्न हुआ। **नित्यो नित्याना चेतनश्चेतनानाम्।** निष्कर्ष यह निकला कि प्रत्येक वस्तु, चाहे लौकिक हो या अलौकिक, परमेश्वर से उत्पन्न है। विकासवादी दृष्टि से जीवात्मा पूर्णता को तब प्राप्त करता है जब वह ब्राह्मण पद तक पहुँच जाता है। ब्राह्मण परब्रह्म का उपासक है और परब्रह्म ब्राह्मण की उपासना करता है। दूसरे शब्दो मे भक्त परमेश्वर के अधीन है और ईश्वर अपने भक्त को सतुष्ट रखना चाहता है। ब्राह्मण को **द्विजदेव** कहा जाता है और ईश्वर **द्विज-देव-देव** है अर्थात् ब्राह्मणो का देवता।

"चैतन्यचरितामृत" (मध्य, अध्याय १६) मे भी विकासवाद की व्याख्या है। है। उसमे कहा गया है कि दो प्रकार के जीव है—जड तथा चेतन। चेतन जीवो मे पक्षी, पशु, जलचर, मनुष्य आदि परिगणित है। इनमे से मनुष्यो को सर्वोत्कृष्ठ माना गया है किन्तु इनकी सख्या अल्प है। इन थोड़े से मनुष्यो मे निम्न श्रेणी के मनुष्य कई है—यथा म्लेक्ष, पुलिद, बौद्ध तथा सबर। मनुष्यो मे वैदिक नियमो को मानने वाला श्रेष्ठ है। इनमे से वर्णाश्रम धर्म (वैदिक नियम) को मानने वाले कम ही है। इनमे से अधिकाश सकाम कर्म करते है या उच्च पद प्राप्त करने के लिए पवित्र कर्म करते है। **मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये**—अनेक सकाम कर्मियो मे से कोई एक ज्ञानी होता है। **यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वतः**—अनेक ज्ञानियो मे से कोई एक भौतिक बन्धन से मुक्त हो पाता है और ऐसे लाखो ज्ञानियो मे कोई एक कृष्ण भक्त होता है।

न ब्राह्मणैस्तुलये भूतमन्यत्
पश्यामि विप्राः किमतः परं तु।
यस्मिन्नृभिः प्रहुतं श्रद्धयाह-
मश्नामि कामं न तथाग्निहोत्रे ॥२३॥

न=नही; **ब्राह्मणै**=ब्राह्मणो से, **तुलये**=मै समान मानता हूँ, **भूतम्**=जीव, **अन्यत्**=अन्य, **पश्यामि**=मै देखता हूँ, **विप्रा**=हे समागत ब्राह्मणो, **किम्**=कुछ भी; **अतः**=ब्राह्मणो से; **परम**=श्रेष्ठ, **तु**=निश्चय ही, **यस्मिन्**=जिनमे से, **नृभिः**=मनुष्यो के द्वारा, **प्रहुतम्**=यज्ञो के विधिवत सम्पन्न होने पर दान दिया गया भोजन, **श्रद्धया**=श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक, **अहम्**=मै, **अश्नामि**=खाता हूँ, **कामम्**=परम प्रसन्नतापूर्वक, **न**=नही, **तथा**=उस प्रकार, **अग्निहोत्रे**=अग्नि-यज्ञ मे।

अनुवाद

हे पूज्य ब्राह्मणो ! जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मेरे लिए इस ससार में ब्राह्मणों के तुल्य या उनसे श्रेष्ठ अन्य कोई नही है । मै उनके तुल्य किसी को नही पाता । वैदिक नियमों के अनुसार यज्ञ करने के पीछे जो मेरा उद्देश्य है, उसे जब लोग समझ लेते है तो वे अत्यन्त श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक ब्राह्मण-मुख मे अन्न प्रदान करते है । इस प्रकार प्रदत्त भोजन को मै अत्यन्त प्रसन्न होकर ग्रहण करता हूँ । निस्संदेह इस प्रकार से प्रदत्त भोजन को मै अग्निहोत्र मे होम किये भोजन की अपेक्षा अधिक प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करता हूँ ।

तात्पर्य

वैदिक पद्धति के अनुसार यज्ञ समाप्ति के पश्चात् ब्राह्मणो को आमन्त्रित करके उच्छिष्ट भोजन खिलाया जाता है । जब ब्राह्मण इस भोजन को खाते है तो यह माना जाता है कि परमेश्वर स्वय इसे ग्रहण कर रहे है । अतः योग्य ब्राह्मणो की तुलना किसी से नही की जा सकती । विकास का चरम ब्राह्मण पद पर है । ऐसी सभ्यता जो ब्राह्मण-सस्कृति पर आधारित नही है या उसका सचालन ब्राह्मण नही करते वह निश्चय ही निन्दनीय है । आजकल मानवीय सभ्यता इन्द्रियतृप्ति पर आधारित है, अतः अधिक से अधिक लोग ऐसी वस्तुओ के आदी हो रहे है । कोई भी ब्राह्मण-सस्कृति का आदर नही करता । दानवी सभ्यता उग्रकर्म के प्रति आसक्त है और अगाध काम-वासनाओ की तृप्ति के लिए वडे-वडे उद्योगो की स्थापना की जाती है । जनता सरकारी करो के कारण पीडित होती है, लोग अधार्मिक है और वे भगवद्गीता मे बताये गये यज्ञो को नही करते । **यज्ञाद् भवतिपर्जन्यः**—यज्ञ करने से वादल वनते है और पानी वरसता है । और प्रचुर वर्षा के कारण प्रभूत अन्न उत्पन्न होता है । यदि ब्राह्मण राज्य का सचालन करे तो समाज भी भगवद्गीता के नियमो का पालन करे । तभी लोग सुखी होगे । **अन्नाद् भवन्ति भूतानि**—जव पशु तथा मनुष्य प्रचुर अन्न खाते है तो वे वलिष्ठ होते है और उनके हृदय तथा मस्तिष्क शान्त रहते है । तव वे सात्विक जीवन विता सकते है जो जीवन का परम लक्ष्य है ।

धृता तनूरुशती मे पुराणी
येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम् ।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च
तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र ॥२४॥

धृता=दिव्य शिक्षा द्वारा धारण किया गया, **तनूः**=शरीर, **उशती**=भौतिक कलुष से मुक्त, **मे**=मेरा, **पुराणी**=शाश्वत, **येन**=जिससे, **इह**=इस ससार मे, **सत्त्वम्**=सतोगुण, **परमम्**=परम, सर्वश्रेष्ठ; **पवित्रम्**=पवित्र, **शमः**=मन का नियन्त्रण, **दमः**=इन्द्रियों का नियन्त्रण, **सत्यम्**=सत्य, **अनुग्रह.**=अनुग्रह, कृपा; **च**=तथा, **तपः**=तपस्या, **तितिक्षा**=सहनशीलता, **अनुभव**·=ईश्वर तथा जीवात्मा का वोध; **च**=तथा, **यत्र**=जिसमे ।

अनुवाद

वेद मेरे शाश्वत दिव्य अवतार है इसलिए वे शब्द-ब्रह्म है । इस जगत में ब्राह्मण समस्त वेदों का अध्ययन करते है और उनको आत्मसात् कर लेते है इसलिए उन्हें साक्षात् वेद माना जाता है । ब्राह्मण सतोगुणी होते है फलस्वरूप उनमें शम, दम, एवं सत्य के गुण पाये जाते है । वे वेदो का मूल अर्थ में वर्णन करते हैं और अनुग्रह वश समस्त बद्धजीवों को वेदों के उद्देश्य का उपदेश देते है । वे तपस्या तथा तितिक्षा का अभ्यास करते है और जीवात्मा तथा परमात्मा का अनुभव करते है । ये ही ब्राह्मणों के आठ गुण (साम, दाम, सत्य, अनुग्रह, तपस्या, तितिक्षा तथा अनुभव) हैं । अतः समस्त जीवो में ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है ।

तात्पर्य

यह ब्राह्मण का सही वर्णन है । ब्राह्मण वह है जिसने मन तथा इन्द्रिय को वश मे करके वैदिक निष्कर्षो को आत्मसात् कर लिया है । वह वेदो का सही-सही पाठ है । इसी की पुष्टि भगवद्गीता मे (१५ १५) हुई है—**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः** । वेदो के अध्ययन से श्रीकृष्ण की दिव्य स्थिति का पता चलेगा । जो वेदो के सार को आत्मसात कर लेता था वही सत्य का उपदेश दे सकता था । भगवान् बद्धजीवो पर सदय है क्योकि तीन प्रकार के तापो के कारण वे कृष्णभक्ति से परिचित नही हो पाते । ब्राह्मण का परमधर्म है कि वह व्यक्तियो पर करुणा करे और उन्हे ऊपर उठाने के लिए कृष्णभक्ति का उपदेश दे । श्रीकृष्ण स्वय बद्धजीवो को सात्विक जीवन के मूल्यो का उपदेश देने के लिए वैकुण्ठ से नीचे आते है । वे उन्हे श्रीकृष्ण मे समर्पण के लिए प्रेरित करते है । इसी प्रकार से ब्राह्मण भी यही कार्य करते है । वैदिक आज्ञाओ को आत्मसात् करके वे बद्धजीवो को उबारने मे परमेश्वर के सहायक बनते है । अपने उच्च सत्व-गुण के कारण ब्राह्मण परमेश्वर को परम प्रिय है ।

मत्तोऽप्यनन्तात्परतः परस्मात्
स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् ।

येषां किमु स्यादितरेण तेषा-
मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजाम् ॥२५॥

मत्तः=मुझसे, **अपि**=भी, **अनन्तात्**=वल तथा ऐश्वर्य मे असीम; **परतः परस्मात्**=सर्वोच्च से ऊँचा, **स्वर्ग-अपवर्ग-अधिपतेः**=स्वर्ग मे प्राप्य सुख को मुक्ति द्वारा अथवा भौतिक सुखोपभोग द्वारा और फिर मुक्ति द्वारा प्रदान करने मे समर्थ, **न**=नही, **किंचित्**=कुछ भी, **येषाम्**=जिसका, **किम्**=क्या प्रयोजन, **उ**=ओह, **स्यात्**=क्या हो सकता है, **इतरेण**=जिन्हे किसी वस्तु की अन्य किसी से, **तेषाम्**=उनका; **अकिञ्चनानाम्**=आवश्यकता नही है अथवा जिन्हे सम्पत्ति की इच्छा नही, **मयि**=मुझमे; **भक्ति-भाजाम्**=भक्ति करने वाले।

अनुवाद

मै ब्रह्मा तथा स्वर्ग के राजा इन्द्र से भी अधिक ऐश्वर्यवान, सर्वशक्तिमान तथा श्रेष्ठ हूँ। मै स्वर्गलोक मे प्राप्त होने वाले समस्त सुखो को तथा मोक्ष को देने वाला हूँ। तो भी ब्राह्मण मुझसे भौतिक सुख की कामना नहीं करते। वे अत्यन्त पवित्र तथा निस्पृह है। वे एकमात्र मेरी भक्ति में लगे रहते है। भला उन्हें अन्य किसी से भौतिक लाभो के लिए याचना करने की क्या आवश्यकता है ?

तात्पर्य

यहाँ पर ब्राह्मण की सम्पूर्ण योग्यता का उल्लेख है—**अकिंचनानां मयि भक्ति-भाजाम्**। ब्राह्मण सदैव ईश्वर की भक्ति मे लगे रहते है, फलतः न उन्हे भौतिक वस्तुओ की चाह होती है, न ही उनके सम्पत्ति होती है। चैतन्यचरितामृत मे (मध्य ११ ८) चैतन्य महाप्रभु ने उन शुद्ध वैष्णवो की स्थिति की व्याख्या की है जो भगवान् के धाम जाने के इच्छुक रहते है—**निष्किञ्चनस्य भगवद्-भजनोन्मुखस्य**। जो भगवान् के धाम जाना चाहते है वे निष्किचन है—अर्थात् भौतिक सुख की उन्हे कामना नही रहती। श्रीचैतन्य महाप्रभु का उपदेश है—**सन्दर्शनं विषयिणाम् अथ योषितां च हा हन्त हन्त विष-भक्षणतोऽप्यसाधु**—ऐश्वर्य तथा स्त्री-ससर्ग से इन्द्रियतृप्ति विष से भी अधिक घातक है। ब्राह्मण शुद्ध वैष्णव होने के कारण सदैव ईश्वर की सेवा मे लगे रहते है और भौतिक लाभ की उनमे रच भी इच्छा नही रहती। भौतिक सुख प्राप्ति के लिए वे ब्रह्मा, इन्द्र या शिव जैसे देवताओ की पूजा नही करते। यहाँ तक कि परमेश्वर से भी वे भौतिक लाभ के लिए याचना नही करते, अत यह निष्कर्ष निकलता है कि इस ससार मे ब्राह्मण श्रेष्ठ जीव है। श्रीमद्भागवत मे (३ २९.३३) श्रीकपिलदेव भी इसकी पुष्टि करते है—

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥

ब्राह्मण मनसा वाचा कर्मणा ईश्वर की सेवा में सर्मपित रहने वाले है । ब्राह्मण से वढकर ऐसा अन्य कोई नही है ।

सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
सम्भावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदु हार्हणं मे ॥२६॥

सर्वाणि=समस्त; **मत्-धिष्ण्यतया**=मेरा आसन होने के कारण, **भवद्भिः**= आपके द्वारा; **चराणि**=चर; **भूतानि**=जीवात्माएँ; **सुताः**=हे पुत्रो, **ध्रुवाणि**= अचर; **सम्भावितव्यानि**=आदरणीय, **पदे-पदे**=पग पग पर, प्रतिक्षण, **वः**=तुम लोगो के द्वारा, **विविक्त-दृग्भिः**=स्पष्ट दृष्टि तथा ज्ञान से युक्त (परमात्मा रूप मे श्रीभगवान् सर्वव्यापी है); **तत् उ**=अप्रत्यक्षत. वह, **ह**=निश्चय ही, **अर्हणम्**= आदर करते हुए, **मे**=मुझे ।

अनुवाद

हे पुत्रो ! तुम्हें चराचर जीवात्मा से ईर्ष्या नही करनी चाहिए। यह जानते हुए कि मै उनमे स्थित हूँ, प्रत्येक क्षण उनका समादर करना चाहिए। इस प्रकार तुम मेरा आदर करो।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **विविक्त-दृग्भिः** अर्थात् ईर्ष्यारहित शब्द का प्रयोग हुआ है। सभी जीवात्माओ में श्रीभगवान् का वास होता है । जैसा कि 'ब्रह्मसहिता' मे पुष्टि की गई है—**अण्डान्तरस्थं परमाणुचयान्तरस्थम्**। इस ब्रह्माण्ड मे भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप मे स्थित हैं। वह प्रत्येक परमाणु में व्याप्त है। वेदो का कथन है—**ईशावास्यमिदं सर्वम्**। परमेश्वर सर्वत्र स्थित है और जहाँ कही भी वे स्थित है वह उनका मन्दिर है। हम दूर से मन्दिर को प्रणाम करते है। इसी प्रकार से समस्त जीवो को प्रणाम करना चाहिए। यह नव-अनीश्वरवाद के सिद्धान्त से भिन्न है जो प्रत्येक वस्तु को ईश्वर मानता है। हमे दरिद्र-नारायण के मूर्ख उपासको की भाँति ऊँच-नीच मे भेदभाव नही वरतना चाहिए। नारायण

तो धनी तथा निर्धन दोनो मे विद्यमान है। किसी को यह नही समझना चाहिए कि नारायण केवल दरिद्रो (निर्धनो) मे वास करते है। वे सर्वत्र है। परम भक्त प्रत्येक प्राणी को, चाहे वह कुत्ता या बिल्ली ही क्यो न हो, सम्मान प्रदान करता है। भगवद्गीता मे (५ १८) कथन है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पडिताः समदर्शिनः॥

"यथार्थ ज्ञानी विद्या विनय युक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल (कुत्ता-भक्षक) को समान दृष्टि से देखता है।" इस **सम-दर्शिनः** शब्द से यह भ्रम नही होना चाहिए कि जीव तथा ईश्वर एकसमान है। वे सदैव पृथक-पृथक है। प्रत्येक मनुष्य परमेश्वर से भिन्न है। अत. **विविक्त दृक्, सम-दृक्** के आधार पर दोनो की तुलना करना भूल होगी। भगवान् भले ही सर्वत्र रहना स्वीकार करे, किन्तु उनका पद बड़ा है। श्रील मध्वाचार्य "**पद्म-पुराण**" से उद्धरण देते हुए कहते है—**विविक्त-दृष्टि-जीवानां धिष्ण्यतया परमेश्वरस्य भेद-दृष्टिः**—"जिसकी दृष्टि विमल है और जो ईर्ष्या रहित है उसे ईश्वर प्रत्येक जीवात्मा मे स्थित रह कर भी समस्त जीवात्माओ से पृथक दिखता है।" वे और आगे भी पद्म पुराण से उद्धरण देते है—

उपपादयेत परात्मान जीवेभ्यो यः पदे पदे।
भेदेनैव न चैतस्मात् प्रियो विष्णोस्तु कश्चन॥

"जो जीवात्मा तथा परमेश्वर को पृथक-पृथक देखता है वह उसे परम प्रिय होता है।" पद्मपुराण मे ही कहा गया है—**यो हरेश्चैव जीवानां भेद-वक्ता हरेः प्रियः**—"जो यह उपदेश देता है कि जीवात्मा परमेश्वर से पृथक है वह भगवान् विष्णु को परम प्रिय होता है।"

मनोवचोदृक्करणेहितस्य
साक्षात्कृतं मे परिबर्हणं हि।
विना पुमान् येन महाविमोहात्
कृतान्तपाशान्न विमोक्तुमीशेत् ॥२७॥

मनः=मन; **वचः**=शब्द, **दृक्**=दृष्टि, **करण**=इन्द्रियो का; **ईहितस्य**=समस्त कर्मो (शरीर, समाज, मैत्री आदि बनाये रखने के लिए) का, **साक्षात्-कृतम्**=प्रत्यक्षत· प्रदत्त; **मे**=मुझको; **परि-बर्हणम्**=पूजा; **हि**=क्योकि; **विना**=

विना, **पुमान्**=कोई व्यक्ति, **येन**=जो, **महा-विमोहात्**=परम मोह से; **कृतान्त-पाशात्**=यमराज के पाश से, **न**=नही, **विमोक्तुम्**=मुक्त होने के लिए, **ईशेत्**=समर्थ होता है।

अनुवाद

मन, दृष्टि, वचन तथा समस्त इन्द्रियों का वास्तविक कार्य मेरी सेवा में लगे रहना है। जब तक जीवात्मा की इन्द्रियाँ इस प्रकार सेवारत नही रहतीं तब तक जीवात्मा को यमराज के पाश सदृश सांसारिक बन्धन से निकल पाना दुष्कर है।

तात्पर्य

'नारद-पचरात्र' मे कहा गया है—

सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तं तत्-परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिरुच्यते ॥

भक्ति का यही सार है। भगवान् ऋषभदेव लगातार भक्ति पर बल दे रहे थे और अब अन्त मे यह कहते है कि इन्द्रियो को ईश्वर की सेवा मे प्रवृत्त करना चाहिए। पाँच इन्द्रियो से हम ज्ञान अर्जित करते है और इतनी ही इन्द्रियो से कार्य करते है। ऐसा किये विना माया के चगुल से छुटकारा नही हो सकता।

श्रीशुक उवाच

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थं महानुभावः परमसुहृद्भगवानृषभापदेश उपशमशीलानामुपरतकर्मणां महामुनीनां भक्तिज्ञान-वैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः स्वतनय शतज्येष्ठं परमभागवतं भगवज्जनपरायणं भरतं धरणिपालनायाभिषिच्य स्वयं भवन एवोर्वरित-शरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधानः प्रकीर्णकेश आत्मन्या-रोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात्प्रवव्राज ॥२८॥

श्री-शुकः उवाच=श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा, **एवम्**=इस प्रकार, **अनुशास्य**=उपदेश चुकने पर; **आत्म-जान्**=अपने पुत्रो को, **स्वयम्**=स्वय, **अनुशिष्टान्**=सुशिक्षित, **अपि**=यद्यपि, **लोक-अनुशासन-अर्थम्**=लोगो को शिक्षा देने के लिए; **महा-अनुभावः**=महान पुरुष; **परम-सुहृत्**=हर एक का शुभ चिन्तक; **भगवान्**=श्रीभगवान्, **ऋषभ-अपदेशः**=जो ऋषभदेव के नाम से विख्यात है;

उपशम-शीलानाम्=निस्पृह व्यक्तियो का, **उपरत-कर्मणाम्**=कर्मो से विरक्त; **महा-मुनीनाम्**=सन्यासी, **भक्ति**=भक्ति, **ज्ञान**=पूर्ण ज्ञान, **वैराग्य**=विरक्ति, **लक्षणम्**=लक्षण; **पारमहंस्य**=श्रेष्ठ मनुष्यो का, **धर्मम्**=कर्तव्य; **उपशिक्षमाणः**= उपदेश देते हुए; **स्व-तनय**=अपने पुत्रो का, **शत**=सौ, **ज्येष्ठम्**=ज्येष्ठ, **परम-भागवतम्**=ईश्वर का परम भक्त; **भगवत्-जन-परायणम्**=ईश्वर के भक्तों (ब्राह्मणो तथा वैष्णवो) का अनुगमन करने वाला, **भरतम्**=भरत महाराज; **धरणी-पालनाय** =संसार पर राज्य करने की दृष्टि से; **अभिषिच्य**=अभिषेक करके, सिंहासन पर बैठाकर; **स्वयम्**=स्वय; **भवने**=घर पर, **एव**=यद्यपि, **उर्वरित**=रहते हुए, **शरीर-मात्र**=केवल शरीर; **परिग्रहः**=स्वीकार करते हुए, **उन्मत्तः**=पागल, **इव** =सदृश, **गगन-परिधानः**=आकाश को अपना वस्त्र बनाते हुए, दिगम्बर; **प्रकीर्ण-केशः**=बिखरे बालो वाला, **आत्मनि**=अपने मे, **अरोपित्**=आरोप करके, **आहवनीयः**=वैदिक अग्नि, अग्निहोत्र; **ब्रह्मावर्तात्**=ब्रह्मावर्त देश से, **प्रवव्राज**= सम्पूर्ण ससार मे घूमने लगे।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—इस प्रकार सबके हितैषी परमेश्वर ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को उपदेश दिया। यह आदर्श प्रस्तुत करने के लिए कि गृहस्थ जीवन से विरक्त होने के पूर्व पिता अपने पुत्रों को किस प्रकार शिक्षा दे, उन्होने उन्हें परम शिक्षित तथा शिष्ट होते हुए भी शिक्षा दी। इन उपदेशो से कर्मो से न बँधने वाले तथा अपनी भौतिक कामनाओ को नष्ट करने के बाद भक्ति में लीन रहने वाले संन्यासी भी लाभ उठाते है। ऋषभदेव ने अपने एक सौ पुत्रो को शिक्षा दी जिनमे से सबसे बड़ा भरत था जो परम भक्त तथा वैष्णवो का अनुयायी था। भगवान् ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को सिंहासन पर इसलिए बिठाया कि वह सारे संसार पर शासन करे। इसके पश्चात् घर में रहते हुए भी भगवान् ऋषभदेव पागल के सदृश नंगे तथा बाल बिखेरे रहने लगे। तब यज्ञ-अग्नि को अपने में लीन करके विश्व का भ्रमण करने के लिए उन्होने ब्रह्मावर्त को छोड़ दिया।

तात्पर्य

भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो को जो उपदेश दिये वास्तव मे वे उनके लिए न थे क्योकि वे पहले से शिक्षित तथा ज्ञानी थे। वास्तव मे ये उपदेश उन सन्यासियो के लिए है जो महान भक्त बनना चाहते है। भक्ति पथ पर अग्रसर होने वाले सन्यासियो को चाहिए कि भगवान् ऋषभदेव के उपदेशो का पालन करे। अपने परिवार मे रहते हुए उन्होने गृहस्थ जीवन का परित्याग कर दिया था और नग्न पागल की भाँति रहते थे।

जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूष्णीं बभूव ॥२९॥

जड़=अचर, स्थिर, **अंध**=अधा, **मूक**=गूँगा, **बधिर**=बहरा, **पिशाच**=भूत, **उन्मादक**=पागल, **वत्**=सदृश, **अवधूत-वेष:**=अवधूत के समान रहते हुए (ससार से विमुख); **अभिभाष्यमाण** =इस प्रकार सबोधित होकर (बहरा, गूँगा तथा अधा), **अपि**=यद्यपि, **जनानाम्**=लोगो द्वारा; **गृहीत**=ग्रहण कर लिया, **मौन**=न बोलने का, **व्रत:**=व्रत, सकल्प, **तूष्णीम् बभूव**=चुप रहने लगा ।

अनुवाद

अवधूत वेष धारण करके भगवान् ऋषभदेव अंधे, बहरे तथा गूँगे, जड़, भूत अथवा पागल के समान मनुष्य-समाज में घूमने लगे । यद्यपि लोग उन्हें इन नामों से पुकारते, किन्तु वे मूक बने रहे और किसी से कुछ नही बोले ।

तात्पर्य

अवधूत से ऐसे व्यक्ति का बोध होता है जो सामाजिक नियमो, विशेषतया वर्णाश्रम धर्म की परवाह नही करता । किन्तु ऐसा व्यक्ति अपने आप मे लीन रह कर भगवान् का चिन्तन करता हुआ श्रीभगवान् से परम प्रसन्न रहता है । अर्थात् जिसने वर्णाश्रम धर्म के नियमों की अवहेलना कर दी हो वह अवधूत कहलाता है । ऐसा व्यक्ति माया के वन्धन से परे है और नितान्त विलग तथा स्वतन्त्र रहने वाला होता है ।

तत्र तत्र पुरग्रामाकरखेटवाटखर्वटशिबिरव्रजघोषसार्थगिरिवनाश्रमादिष्वनुपथमवनिचरापसदैः परिभूयमानो मक्षिकाभिरिव वनगजस्तर्जनताडनावमेहनष्ठीवनग्रावशकृद्रजःप्रक्षेपपूतिवातदुरुक्तैस्तदविगणयन्नेवासत्संस्थान एतस्मिन् देहोपलक्षणे सदपदेश उभयानुभवस्वरूपेण स्वमहिमावस्थानेनासमारोपिताहंममाभिमानत्वादविखण्डितमनाः पृथिवीमेकचरः परिबभ्राम ॥३०॥

तत्र तत्र=यहाँ वहाँ, **पुर**=नगरो; **ग्राम**=गाँवो, **आकर**=खानो, **खेट**=खेतो, **वाट**=बगीचो, **खर्वट**=घाटी मे स्थित गाँवो (पहाडी गाँवो); **शिबिर**=सेना को छावनियो; **व्रज**=गोशालाओ, **घोष**=अहीरो की वस्तियो; **सार्थ**=यात्रियो के विश्रामालयो, **गिरि**=पर्वतो; **वन**=जगलो, **आश्रम**=मुनियो के वास स्थानो, **आदिषु**=आदि मे; **अनुपथम्**=मार्ग से जाते हुए, **अवनिचर-अपसदै.**=दुष्ट पुरुषों

के द्वारा, **परिभूयमानः**=घिर कर, **मक्षिकाभिः**=मक्खियो से; **इव**=सदृश, **वन-गजः**=जगली हाथी, **तर्जन**=चिग्घाड से, **ताडनः**=प्रताडित होकर, **अवमेहन**=शरीर पर पेशाव करते हुए, **ष्ठीवन**=शरीर पर थूकते हुए, **ग्राव-शकृत्**=पत्थर तथा विष्ठा, **रज**=धूल, **प्रक्षेप**=फेकते हुए, **पूति-वात**=शरीर पर अधोवायु छोडते हुए, **दुरुक्तैः**=(तथा) गालियो से, **तत्**=वह, **अविगणयन्**=विना परवाह किये, **एव**=इस प्रकार, **असत्-संस्थाने**=भद्र पुरुष के अयोग्य स्थान, **एतस्मिन्**=इसमे, **देह-उपलक्षणे**=देह के रूप मे, **सत्-अपदेशे**=सत्य कहलाने वाला, **उभय-अनुभव-स्वरूपेण**=देह तथा आत्मा की वास्तविक स्थिति समझने से, **स्व-महिम**=अपनी महिमा मे, **अवस्थानेन**=स्थित हो करके, **असमारोपित-अहम्-मम-अभिमानत्वात्**='मै तथा मेरी' ममता को अस्वीकार करने से, **अविखण्डित-मनाः**=अविचलित मन से, **पृथिवीम्**=सारे ससार मे, **एक-चरः**=अकेले, **परिबभ्राम**=घूमता था।

अनुवाद

ऋषभदेव नगरो, गाँवो, खानो, किसानो की बस्तियो, घाटियो, बागो, सैनिक छावनियो, गोशालाओ, अहीरो की बस्तियो, यात्रियो के विश्रामालयो, पर्वतो, जगलो तथा आश्रमो के बीच घूमने लगे। जहाँ भी जाते, उन्हे दुष्ट पुरुष उसी प्रकार घेर लेते जिस प्रकार जंगली हाथी को मक्खियाँ (भौंरें) घेर लेती है। उन्हे डराया-धमकाया और मारा जाता, उन पर पेशाब किया जाता और थूका जाता। यहाँ तक कि कभी-कभी उन पर पत्थर, विष्ठा और धूल फेकी जाती और कभी-कभी तो लोग उनके समक्ष अपानवायु निकालते। इस प्रकार लोग उन्हे भला बुरा कहते और अत्यधिक यातना देते, किन्तु उन्होने कभी भी इसकी परवाह नही की क्योकि वे यह समझते थे कि इस शरीर का यही अन्त है। वे आत्म-पद पर स्थित थे और सिद्ध होने से ऐसे तिरस्कारों की तनिक भी परवाह नही करते थे। अर्थात् उन्हें इसका पूर्ण ज्ञान हो चुका था कि पदार्थ (देह) तथा आत्मा पृथक-पृथक है। उन्हें देहात्म-बुद्धि न थी। अतः वे किसी पर क्रुद्ध हुए बिना सारे संसार में अकेले ही घूमने लगे।

तात्पर्य

नरोत्तमदास ठाकुर कहते है—**देह स्मृति नाहि यार, संसार-बन्धन काहां तार।** जब मनुष्य को यह पूरी तरह अनुभव होने लगता है कि यह देह तथा ससार क्षणिक है तो उसे शारीरिक दुख तथा सुख की परवाह नही रहती। जैसा कि श्रीकृष्ण भगवद्गीता मे (२.१४) मे उपदेश देते है—

> मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
> आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

"हे कुन्तीपुत्र ! इन्द्रिय और विषयो के सयोग से होने वाली सुख-दुख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के आने-जाने के समान ही अनित्य और क्षणभगुर है । इसलिए हे भारत ! उनको विचलित हुए बिना सहने का अभ्यास करो ।"

जहाँ तक ऋषभदेव की बात है, यह पहले ही बताया जा चुका है कि **इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यम्** । उनका देह भूतमय नही था इसलिए समाज के दुश्चरित्रो ने उन्हे जो यातनाएँ दी उनकी उन्हे परवाह नही थी । इसीलिए अपने ऊपर मल फेके जाने तथा प्रताडना को वे सह सके । उनका शरीर दिव्य था, अत. उन्हे पीडा नही होती थी । वे सदैव आनन्दमग्न रहते थे । भगवद्गीता में (१८.६१) कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

"हे अर्जुन ! परमेश्वर प्राणीमात्र के हृदय मे स्थित है । वही देहरूपी यन्त्र मे आरूढ सब जीवो को अपनी माया शक्ति से घुमाता रहता है ।"

चूँकि ईश्वर सबके हृदय मे स्थित है, अत. वह शूकर तथा कूकर के भी हृदय मे स्थित है । यदि शूकर तथा कूकर गन्दे स्थान मे रहते है तो यह नही समझना चाहिए कि ईश्वर गन्दे स्थान मे है । यद्यपि ससार के दुर्जन ऋषभदेव को यातना दे रहे थे, किन्तु इनका उन पर कोई प्रभाव नही हुआ । अतः यहाँ यह कहा गया है—**स्व-महिमा-अवस्थानेन**—वे अपनी महिमा मे स्थित थे । यहाँ जिस प्रकार उन्हे यातना दिये जाने का वर्णन है, उससे वे कभी दुखी नही हुए ।

अतिसुकुमारकरचरणोरःस्थलविपुलबाह्वंसगलवदनाद्यवयवविन्यासः प्रकृतिसुन्दरस्वभावहाससुमुखो नवनलिनदलायमानशिशिरतारारुणायतनयनरुचिरः सदृशसुभगकपोलकर्णकण्ठनासो विगूढस्मितवदनमहोत्सवेन पुरवनितानां मनसि कुसुमशरासनमुपदधानः परावलम्बमानकुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत ॥३१॥

अति-सु-कुमार=अत्यन्त कोमल; **कर**=हाथ; **चरण**=पाँव, **उरः स्थल**=वक्षस्थल, छाती, **विपुल**=दीर्घ, लम्बे, **बाहु**=भुजाएँ, **अंस**=कंधे; **गल**=गला; **वदन**=मुख; **आदि**=इत्यादि; **अवयव**=अग, **विन्यासः**=सुगठित, **प्रकृति**=स्वभाव से; **सुन्दर**=आकर्षक; **स्व-भाव**=स्वाभाविक, **हास**=मन्द मुस्कान, **सु-मुखः**=सुन्दर मुख, **नव-नलिन-दलायमान**=नव विकसित कमल पुष्प की पखड़ियों के समान दिखने वाला, **शिशिर**=सब दुखो को हरने वाली, **तार**=नेत्र गोलक; **अरुण**=लाली लिए हुए, **आयत**=फैले हुए, विशाल, **नयन**=नेत्रो से, **रुचिरः**=

मोहक, **सदृश**=समान, **सुभग**=सुन्दर; **कपोल**=गाल, **कर्ण**=कान, **कण्ठ**=गर्दन, **नासः**=नासिका, नाक, **विगूढ-स्मित**=अस्फुट हास, **वदन**=मुख से, **महा-उत्सवेन** =उत्सव सदृश लगने वाला, **पुर-वनितानाम्**=पुर-नारियो के, **मनसि**=मन मे, **कुसुम-शरासनम्**=कामदेव, **उपदधान**=जागरित करते हुए; **पराक्**=चारो ओर; **अवलम्बमान**=खुला, फैला; **कुटिल**=घुँघराले, **जटिल**=जटायुक्त, **कपिश**=भूरी; **केश**=वालो की, **भूरि-भारः**=अधिकता, **अवधूत**=उपेक्षित, **मलिन**=गदा, धूल-धूसरित, **निज-शरीरेण**=अपने शरीर से, **ग्रह-गृहीतः**=भूतग्रस्त; **इव**=मानो, **अदृश्यत**=वह दिखाई पडता था ।

अनुवाद

भगवान् ऋषभदेव के हाथ, पॉव तथा वक्षस्थल अत्यन्त दीर्घ थे । उनके कंधे, मुख तथा अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुगठित तथा कोमल थे । उनका मुख उनकी सहज मुस्कान से मंडित था और उनके खुले हुए लाल-लाल नेत्र ऐसे प्रतीत होते थे मानों प्रातःकालीन ओस कणों से युक्त नव विकसित कमल पुष्प की पंखड़ियाँ हों । उनकी पुतलियाँ इतनी मनोहर थी कि देखने वालों का सारा सन्ताप हर लेती थी । उनके कपोल, कान, गर्दन, नाक तथा अन्य अंग अतीव सुन्दर थे । उनके मन्द हास से उनका मुख इतना आकर्षक प्रतोत होता था कि विवाहित नारियों का भी मन खिच जाता था । ऐसा प्रतीत होता था मानो कामदेव ने अपने वाणों से बींध दिया हो । उनके सिर के चारो ओर घुँघराली भूरी जटाएँ थी । उनके सिर के बाल छितरे थे क्योकि उनका शरीर गंदा और उपेक्षित था । ऐसा प्रतीत होता था मानो उन्हें किसी भूत ने सता रखा हो ।

तात्पर्य

यद्यपि भगवान् ऋषभदेव का शरीर उपेक्षित था, किन्तु उनके दिव्य अग-प्रत्यग इतने आकर्षक थे कि विवाहित स्त्रियॉ तक आकृष्ट हो जाती थी । उनकी सुन्दरता तथा मलिनता के एकत्र होने से उनका सुन्दर शरीर ऐसा लगता था मानो किसी भूत ने उनका पीछा कर रखा हो ।

यर्हि वाव स भगवान् लोकमिमं योगस्याद्धा प्रतीपमिवाचक्षाण-स्तत्प्रतिक्रियाकर्म बीभत्सितमिति व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति हदति स्म चेष्टमान उच्चरित आदिग्धोद्देशः ॥३२॥

यर्हि वाव=जब, **सः**=उसने, **भगवान्**=श्रीभगवान्, **लोकम्**=जनता; **इमम्** =यह, **योगस्य**=योग का, **अद्धा**=प्रत्यक्ष; **प्रतीपम्**=विरुद्ध; **इव**=सदृश; **अचक्षाणः**=देखते हुए, **तत्**=उसकी, **प्रतिक्रिया**=विरोध में; **कर्म**=क्रिया;

बीभत्सितम्=वीभत्स, घृणित; **इति**=इस प्रकार, **व्रतम्**=आचरण, वृत्ति; **आजगरम्**=अजगर का (एक स्थान पर पडे रहने का); **अस्थितः**=स्वीकार करके; **शयानः**=लेटे रहना; **एव**=निस्सन्देह; **अश्नाति**=भोजन करता है, **पिबति**=पीता है; **खादति**=खाता (चबाता) है, **अवमेहति**=पेशाब करता है; **हदति**=मल-त्याग करता है; **स्म**=इस प्रकार; **चेष्टमानः**=लुढकते हुए, **उच्चरिते**=मल तथा मूत्र मे; **आदिग्ध-उद्देशः**=इस प्रकार उसका शरीर लथपथ हो गया।

अनुवाद

जब भगवान् ऋषभदेव ने देखा कि जनता उनकी योग-साधना में विघ्नरूप है, तो उन्होंने इसकी प्रतिक्रिया मे अजगर का सा आचरण (वृत्ति) ग्रहण कर लिया। वे एक ही स्थान पर लेटे रहने लगे। वे लेटे ही लेटे खाते, पीते, पेशाब तथा मल त्याग करते और उसी पर लुढ़कते-पुढ़कते। यहाँ तक कि वे अपने सारे शरीर को अपने ही मल-मूत्र से सान लेते जिससे उनके विरोधी उन्हें विचलित न करे।

तात्पर्य

अपने प्रारब्ध के अनुसार एक ही स्थान पर रहकर मनुष्य सुख तथा दु ख उठाता है। यह शास्त्रो का आदेश है। जब वह सिद्ध हो जाता है तो वह एक ही स्थान पर रह सकता है और परम नियन्ता उसकी समस्त आवश्यकताओ को पूरा करता है। जब तक वह उपदेशक न हो, उसे ससार भर मे घूमने की कोई आवश्यकता नही है। एक स्थान पर रहते हुए मनुष्य काल तथा स्थिति के अनुसार भक्ति कर सकता है। जब ऋषभदेव ने देखा कि ससार भर मे घूमते रहने से उनको वाधा पहुँचती है तो उन्होने अजगर तुल्य एक ही स्थान पर लेटे रहने का निश्चय किया। इस तरह वे लेटे-लेटे खाते-पीते, मल-मूत्र त्यागते और जपने शरीर को उसी मे साने रहते जिससे लोग उन्हे सतावे नही।

तस्य ह यः पुरीषसुरभिसौगन्ध्यवायुस्तं देशं दशयोजनं समन्तात् सुरभिं चकार ॥३३॥

तस्य=उसकी, **ह**=निस्सदेह, **यः**=जो, **पुरीष**=मल की; **सुरभि**=सुगन्धि से, **सौगन्ध्य**=सुरभित होकर; **वायुः**=वायु, **तम्**=उस, **देशम्**=देश को, **दश योजनम्**=दस योजन तक (एक योजन आठ मील के तुल्य), **समन्तात्**=चारों ओर, **सुरभिम्**=सुगन्धित, **चकार**=कर दिया।

अनुवाद

इस अवस्था में रहने के कारण जनता ने ऋषभदेव को विचलित नहीं किया। उनके मल-मूत्र से दुर्गन्धि नहीं निकली। उल्टे, उनका मल-मूत्र इतना सुगन्धित था कि उसकी सुगन्ध से अस्सी मील तक का प्रदेश भर गया।

तात्पर्य

इस वर्णन से हम यह कल्पना कर सकते है कि ऋषभदेव को दिव्य आनन्द प्राप्त था। उनका मल-मूत्र सामान्य प्राणी के मलमूत्र से सर्वथा भिन्न था, वह सुगन्धित था। इस लोक मे भी गोबर को पवित्र और कृमिनाशक माना जाता है। एक स्थान पर गोबर का कितना बडा ढेर क्यो न लगा दिया जाय उससे दुर्गन्ध नही आवेगी। हम इसे पक्का मान ले कि वैकुण्ठ-जगत मे मल-मूत्र भी सुगन्धित होते हैं। निस्सदेह ऋषभदेव के मल-मूत्र से सारा वायुमण्डल अत्यन्त सुगन्धित हो गया था।

एवं गोमृगकाचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म ॥३४॥

एवम्=इस प्रकार, **गो**=गायो की, **मृग**=हिरन, **काक**=कौवे; **चर्यया**=चर्या (क्रिया) द्वारा; **व्रजन्**=घूमते हुए, **तिष्ठन्**=खडे-खडे, **आसीनः**=बैठे हुए; **शयानः**=लेटे हुए; **काक-मृग-गो-चरितः**=कौवो, हिरणो तथा गायो की भाँति आचरण करते हुए; **पिबति**=पीता है; **खादति**=खाता है, **अवमेहति**=पेशाब करता है; **स्म**=उसने ऐसा किया।

अनुवाद

इस प्रकार ऋषभदेव ने गायो, हिरणो तथा कौवो की वृत्ति का अनुगमन किया। कभी वे इधर-उधर चलते तो कभी एक स्थान पर बैठे रहते। कभी वे लेट जाते। इस प्रकार वे गाय, हिरण तथा कौवे के समान ही आचरण करते। उन्हीं के समान वे खाते पीते तथा मल-मूत्र का त्याग करते। इस प्रकार वे लोगो को धोखा देते रहे।

तात्पर्य

श्रीभगवान् होने के कारण ऋषभदेव को दिव्य देह प्राप्त थी। चूँकि सामान्य लोग उनकी वृत्ति तथा योग साधना को नही समझ पाये इसलिए वे उनको तग करने लगे। अत. उन्हे ही धोखा देने के लिए उन्होने गाय, हरिण तथा कौवे का सा आचरण प्रारम्भ किया।

इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभोऽविरतपरममहानन्दानुभव आत्मनि सर्वेषां भूतानामात्मभूते भगवति वासुदेव आत्मनोऽव्यवधानानन्तरोदर भावेन सिद्धसमस्तार्थपरिपूर्णो योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूरग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत् ॥३५॥

इति=इस प्रकार, **नाना**=अनेक, **योग**=योग की, **चर्या**=क्रियाएँ, **आचरणः** =अभ्यास करते हुए, **भगवान्**=श्रीभगवान्, **कैवल्य-पति** =कैवल्य के स्वामी अथवा सायुज्य-मुक्ति के दाता, **ऋषभः**=ऋषभदेव, **अविरत**=निरन्तर; **परम**=परम; **महा**=अत्यधिक, **आनन्द-अनुभवैः**=आनन्द के अनुभव द्वारा, **आत्मनि**=परम-आत्मा मे, **सर्वेषाम्**=सबके, **भूतानाम्**=जीवात्माओ के; **आत्म-भूते**=हृदय मे स्थित होकर, **भगवति**=श्रीभगवान् मे, **वासुदेवे**=वसुदेव के पुत्र, श्रीकृष्ण, **आत्मनः**= स्वय का; **अव्यवधान**=विधान मे अन्तर न आने से, **अनन्त**=असीम, **रोदर**= यथा रोदन, हास तथा सिहरन, **भावेन**=प्रेम के लक्षणो से, **सिद्ध**=सिद्ध, पूर्ण, **समस्त**=सब, **अर्थ**=वाछित धन, **परिपूर्ण**=पूरित, **योग-ऐश्वर्याणि**=योग-शक्तियाँ, **वैहायस**=आकाश मे उडना, **मनः-जव**=मन की गति से दौडना, **अन्तर्धान**=अदृश्य होने की शक्ति, **परकाया प्रवेश**=दूसरे के शरीर मे प्रवेश करने की क्षमता, **दूर-ग्रहण**=दूर की वस्तुओ को देखने की शक्ति, दूर-दृष्टि, **आदीनि**=इत्यादि, **यदृच्छया** =स्वतः, बिना किसी बाधा के, **उपगतानि**=प्राप्त किया, **न**=नही, **अञ्जसा**= प्रत्यक्षत , **नृप**=हे राजा परीक्षित, **हृदयेन**=हृदय से, **अभ्यनन्दत्**=स्वीकार कर लिया।

अनुवाद

हे राजा परीक्षित ! श्रीकृष्ण के अंश भगवान् ऋषभदेव ने समस्त योगियो को योगसाधना प्रदर्शित करने के उद्देश्य से अनेक विचित्र कार्य किये। वे मुक्ति के स्वामी थे और दिव्य आनन्द में सतत लीन रहते थे। वासुदेव कृष्ण उनके आदि कारण है। उनके विधान मे कोई अन्तर नही फलतः भगवान् ऋषभदेव रोने, हँसने तथा थरथराने के प्रिय लक्षण प्रकट करने लगे। वे दिव्य प्रेम मे सदैव निमग्न रहते। फलस्वरूप सभी योग शक्तियाँ अपने आप उनके पास पहुँचती—यथा मन की गति से आकाश-गमन, प्रकट और अदृश्य होना, अन्यो के शरीर मे प्रवेश कर जाना, दूरस्थ वस्तुओं को देख पाना। यद्यपि वे इन सबको कर सकने में समर्थ थे, किन्तु उन्होने इन शक्तियों का प्रयोग नही किया।

तात्पर्य

चैतन्यचरितामृत (मध्य १९.१४९) मे कहा गया है—

कृष्ण भक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।
भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त' ॥

शान्त शब्द का अर्थ है परम शान्ति से युक्त। जब तक मनुष्य की समस्त कामनाएँ पूर्ण नही हो जाती, वह शान्त नही हो सकता। प्रत्येक मनुष्य अपनी आकाक्षाओ तथा कामनाओ को चाहे वे भौतिक हो या सात्विक (आध्यात्मिक) पूरा करना चाहता है। जो भौतिक जगत मे है वे अशान्त है क्योकि उनकी आकाक्षाएँ अगणित है। किन्तु शुद्ध भक्त निष्काम होता है। **अन्याभिलाषिता-शून्य**—शुद्ध भक्त सभी प्रकार की भौतिक कामनाओ से मुक्त होता है। इसके विपरीत कर्मी कामनाओ से युक्त होते है क्योकि वे इन्द्रियतृप्ति का सुख उठाना चाहते है। वे न तो इस जीवन मे शान्त है, न ही अगले जीवन मे होगे। इसी प्रकार ज्ञानी लोग मुक्ति-कामी होते है और परमात्मा के साथ तादात्म्य चाहते है। योगी सिद्धियो के पीछे रहते है। किन्तु भक्त को इन वस्तुओ मे कोई रुचि नही होती क्योकि वह श्रीकृष्ण के अनुग्रह पर पूरी तरह आश्रित रहता है। कृष्ण योगेश्वर है, समस्त योग (सिद्धियो) के स्वामी है। वे आत्माराम अर्थात् स्वय-सतुष्ट है। इस श्लोक मे योग सिद्धियो का वर्णन हुआ है। इनसे मनुष्य बिना किसी यत्र के अन्तरिक्ष में उड सकता है और मन की गति से यात्रा कर सकता है। इसका यह अर्थ हुआ कि जब कभी योगी को इस ब्रह्माण्ड के अन्दर या बाहर कही जाने की इच्छा होती तो वह तुरन्त वहाँ पहुँच जाता है। मन की गति को निर्धारित करना कठिन है क्योकि एक क्षण मे लाखो मील चला जाता है। कभी-कभी योगी परकाया-प्रवेश करके अपनी इच्छानुसार कार्य करते हैं। वृद्ध होने पर योगी तरुण तथा बलवान शरीर प्राप्त कर सकता है। अपने वृद्ध शरीर को त्याग कर वह तरुण शरीर मे प्रवेश कर सकता है और इच्छानुसार कार्य कर सकता है। भगवान् वासुदेव के अश होने के कारण ऋषभदेव मे ये समस्त योग शक्तियाँ थी, किन्तु वे श्रीकृष्ण की भक्ति से ही सन्तुष्ट थे जिसका प्रत्यक्षीकरण उनके हँसने, रोने या हिलने-डुलने से होता था।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चम स्कन्धे भक्तिवेदान्त भाष्ये ऋषभदेवानुचरिते पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पचम स्कध के अन्तर्गत "भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रो को उपदेश" शीर्षक नामक पाँचवे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय छः

भगवान् ऋषभदेव का चरित्र

इस अध्याय मे भगवान् ऋषभदेव के देह-त्याग का वर्णन है। जब उन्हे दावाग्नि मे जलाया जा रहा था तब भी वे अपने शरीर से आसक्त न थे। जब कर्म-बीज को ज्ञान की अग्नि से जलाया जाता है तो सत्वगुण तथा योग शक्तियाँ स्वत: प्रकट होती है, तो भी इन योग शक्तियो का भक्ति-योग पर कोई प्रभाव नही पडता। सामान्य योगी योगशक्तियो से मोहित हो जाता है और उसकी उन्नति रुक जाती है, अत: सिद्ध योगी इनको आश्रय नही देता। मन अस्थिर (चचल) तथा अविश्वसनीय है अत. इसे सदैव नियन्त्रण (वश) मे रखना चाहिए। यहाँ तक कि सौभरि जैसे सिद्ध योगी का मन इतना चचल हो गया कि उसकी समस्त योग शक्तियाँ जाती रही। मन के चचल होने से परम सिद्ध योगी भी च्युत हो सकता है। मन इतना चचल है कि सिद्ध योगी को भी यह इद्रियो द्वारा वशीभूत वनाता है। फलत समस्त योगियो को उपदेश देने के लिए ही भगवान् ऋषभदेव ने देह-त्याग की क्रिया प्रदर्शित की। दक्षिण भारत मे कर्नाटक, कोक, वेक तथा कुटक प्रदेशो का भ्रमण करते हुए वे कुटकाचल के निकट पहुँचे। अचानक वहाँ जगल मे आग लग गई जिसमे उनका शरीर भस्म होकर राख वन गया। मुक्त जीव के रूप मे ऋषभदेव की लीलाओ का पता कोक, वेक तथा कुटक के राजा को चला। इस राजा का नाम अर्हत् था। वाद मे वह माया के वशीभूत हो गया और जैनवाद का प्रवर्तक बना। ऋषभदेव ने ऐसे धर्म नियमो की स्थापना की जिनसे मनुष्य भौतिक बन्धन से मुक्त हो सके। उन्होने सव प्रकार के नास्तिक कार्यो का अन्त कर दिया। इस धरा मे भारतवर्ष नामक स्थान (देश) अत्यन्त पवित्र है, क्योकि जब-जव परमेश्वर को अवतार लेने की इच्छा हुई, इसी भूमि मे अवतार ग्रहण किया।

ऋषभदेव ने उन योग शक्तियो की उपेक्षा की जिनके पीछे तथाकथित योगी फिरते रहते है। भक्ति की भव्यता के कारण भक्तगण तथाकथित योगशक्ति मे विल्कुल रुचि नही रखते। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त के एवज (स्थान) मे सभी शक्तियो का प्रदर्शन करने वाले है। भक्ति योग-शक्ति से कही अधिक मूल्यवान है। परमेश्वर इन भक्तो की समस्त इच्छाओ को पूरा करने वाले है। किन्तु भक्ति तो उन्ही को मिलती है जो मुक्ति तथा योग की कामना नही करते।

राजोवाच

**न नूनं भगव आत्मारामाणां योगसमीरितज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामै-
श्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि ॥ १ ॥**

राजा उवाच=राजा परीक्षित ने पूछा, **न**=नही, **नूनम्**=निस्सन्देह, **भगवः**=हे सर्वशक्तिमान शुकदेश गोस्वामी !, **आत्मारामाणाम्**=भक्ति मे रत विशुद्ध भक्तो का, **योग-समीरित**=योग साधना से प्राप्त; **ज्ञान**=ज्ञान से, **अवर्भजित**=दग्ध; **कर्म-बीजानाम्**=कर्मरूपी वीजो का, **ऐश्वर्याणि**=योग शक्तियो से, **पुनः**=फिर; **क्लेशदानि**=क्लेश के कारण; **भवितुम्**=होने मे, **अर्हन्ति**=समर्थ है; **यदृच्छया**=स्वत᠄, स्वय ही; **उपगतानि**=प्राप्त हो जाती है।

अनुवाद

राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से पूछा—हे भगवन् ! जो विमल हृदय हैं उन्हें भक्तियोग से ज्ञान प्राप्त होता है और कर्म के प्रति आसक्ति जलकर क्षार हो जाती है। ऐसे व्यक्तियों में योग शक्तियाँ स्वतः उत्पन्न होती है। इनसे किसी प्रकार का क्लेश नही पहुँचता, तो फिर ऋषभदेव ने उनकी उपेक्षा क्यों की ?

तात्पर्य

शुद्ध भक्त श्रीभगवान् की निरन्तर सेवा करता है। भक्ति करने के लिए जिन वस्तुओ की आवश्यकता होती है वे उसे स्वत. प्राप्त होती रहती है, यद्यपि इसे योग शक्ति के फलस्वरूप माना जा सकता है। कभी-कभी योगी सोना वना कर अपनी तुच्छ योग-शक्ति का परिचय देते है। थोड़े से सोने से मूर्ख जनता मोहित हो जाती है और अनेक लोग योगी के अनुयायी वन जाते है जो जान बूझ कर ऐसे तुच्छ मनुष्य को भगवान् मान बैठती है। ऐसा योगी अपने को भगवान् कह कर विज्ञापित करता है। किन्तु भक्त को ऐसी जादूगरी करने की आवश्यकता नही होती। विना योग साधना के ही उसे विश्व भर का ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है। ऐसी दशा मे ऋषभदेव ने अपनी योग-सिद्धियो को प्रकट करने से इनकार किया। इसी लिए महाराज परीक्षित ने प्रश्न किया कि ऋषभदेव ने भक्त के लिए वाधक न होने वाली इन सिद्धियो को स्वीकार क्यो नही किया ? भक्त ऐश्वर्य से न तो घवडाता है न प्रसन्न होता है। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है कि श्रीभगवान् को किस प्रकार प्रसन्न रखा जाय। यदि भगवान् के अनुग्रह से भक्त को अभूतपूर्व ऐश्वर्य प्राप्त होता है तो वह उसका उपयोग ईश्वर की सेवा मे करता है। वह ऐश्वर्य से विचलित नही होता।

ऋषिरुवाच

सत्यमुक्तं किन्त्विह वा एके न मनसोऽद्धा विश्रम्भमनवस्थानस्य शठकिरात इव सङ्गच्छन्ते ॥ २ ॥

ऋषिः उवाच=शुकदेव गोस्वामी ने कहा, **सत्यम्**=सत्य वचन, **उक्तम्**=कहा गया, **किन्तु**=लेकिन, **इह**=इस संसार मे, **वा**=अथवा, **एके**=कुछ, **न**=नही, **मनसः**=मन का, **अद्धा**=प्रत्यक्ष, साक्षात्; **विश्रम्भम्**=विश्वासपात्र, **अनवस्थानस्य**=अस्थिर होकर, **शठ**=अत्यन्त चालाक, **किरातः**=बहेलिया, **इव**=सदृश, **सङ्गच्छन्ते**=हो जाते हैं।

अनुवाद

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने उत्तर दिया—हे राजन! तुमने बिल्कुल सत्य कहा है। किन्तु जिस प्रकार चालाक बहेलिया पशुओं को पकड़ने के बाद उन पर विश्वास नहीं करता, क्योकि वे भग सकते है उसी प्रकार महापुरुष अपने मन पर भरोसा नही करते। निस्सन्देह, वे सदा जागरूक रहते हुए मन की गति को परखते रहते है।

तात्पय

भगवद्गीता मे (१८ ५) भगवान् श्रीकृष्ण कहते है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

"यज्ञ, तप और दान रूप कर्म का त्याग नही करना चाहिए, इन्हे अवश्य करना चाहिए (ये कर्तव्य है)। निस्सदेह यज्ञ, दान और तप आदि महात्माओ को भी शुद्ध करने वाले है।"

जो ससार से विरक्त होकर सन्यासी हो गये है उन्हे "हरे कृष्ण महामन्त्र" के कीर्तन का परित्याग नही करना चाहिए। सन्यास का अर्थ यह नही है कि सकीर्तन यज्ञ को भी त्यागा जाय। इसी प्रकार दान या तपस्या का भी परित्याग नही करना चाहिए। मन तथा इन्द्रियो के नियमन की योग-पद्धति का दृढतापूर्वक पालन करना चाहिए। ऋषभदेव ने यह दिखला दिया है कि किस प्रकार से कठिन से कठिन तपस्या की जाती है। उन्होने अन्यो के लिए आदर्श उपस्थित किया है।

तथा चोक्तम्—

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते ।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम् ॥ ३ ॥

तथा=इस प्रकार, **च**=तथा; **उक्तम्**=कहा गया है; **न**=कदापि नही, **कुर्यात्**=करना चाहिए, **कर्हिचित्**=किसी समय या किसी से; **सख्यम्**=मित्रता, **मनसि**=मन मे, **हि**=निश्चय ही, **अनवस्थिते**=चचल, **यत्**=जिसमे, **विश्रम्भात्**=अत्यधिक विश्वास करने से, **चिरात्**=दीर्घ काल तक, **चीर्णम्**=अभ्यास किया हुआ; **चस्कन्द**=विचलित हो गया, **तप.**=तपस्या; **ऐश्वरम्**=शिव तथा सौभरि जैसे महापुरुषो की ।

अनुवाद

सभी विद्वानों ने अपने-अपने मत व्यक्त किये है । मन स्वभाव से अत्यन्त चंचल है । मनुष्यों को चाहिए कि वे इससे मित्रता न करें । यदि हम मन पर पूर्ण विश्वास करते है तो यह किसी क्षण धोखा दे सकता है । यहाँ तक कि भगवान् शिव श्रीकृष्ण के मोहिनी रूप को देखकर उत्तेजित हो उठे और सौभरि मुनि योग की सिद्धावस्था से च्युत हो गये ।

तात्पय

जो आत्म-जीवन मे आगे बढना चाहता है उसका पहला कार्य होगा कि अपने मन तथा इन्द्रियों पर सयम रखे । जैसा कि भगवद्गीता मे (१५.७) श्रीकृष्ण कहते हैं—

मामैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानिकर्षति ॥

यद्यपि जीवात्माएँ परमेश्वर के अगरूप होने के कारण दिव्य स्थिति को प्राप्त है, किन्तु इस जगत मे अपने मन तथा इन्द्रियो के कारण दु:ख उठा रही है । इन दुखो से उबरने के लिए आवश्यक है कि मन तथा इन्द्रियो को वश मे किया जाय और भौतिक स्थितियो से विरक्त हुआ जाय । मनुष्य को चाहिए कि तप करना न छोड़े । भगवान् ऋषभदेव ने साक्षात् प्रदर्शित किया कि किस प्रकार यह करना चाहिए । श्रीमद्भागवत मे (९ १९ १७) इसका विशेष रूप से उल्लेख हुआ है—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी तथा ब्रह्मचारी को स्त्री सगति से सावधान रहना चाहिए। यहाँ तक कि अपनी माँ, वहन या लड़की के साथ एकान्त मे बैठना वर्जित है। हमारे श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन के समाज मे, विशेष रूप से पश्चिमी देशो मे स्त्रियों से विलग रह पाना कठिन है। इसीलिए कभी-कभी हमारी आलोचना भी की जाती है, किन्तु हम प्रत्येक प्राणी को "हरे कृष्ण महामन्त्र" जपने का समान अधिकार प्रदान कर रहे है और इस प्रकार उन्हे सात्विक रूप से अग्रसर बना रहे है। यदि हम निष्पाप भाव से हरे कृष्ण महामन्त्र का जाप करते रहे तो श्रील हरिदास ठाकुर के अनुग्रह से हम स्त्रियो के आकर्षण से वच सकते है। किन्तु यदि हम हरे कृष्ण महामन्त्र के जाप मे तनिक भी ढिलाई वरतेगे तो किसी भी समय स्त्रियो के शिकार हो सकते है।

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः।
योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली ॥ ४ ॥

नित्यम्=सदा, **ददाति**=देता है, **कामस्य**=विषय का, **छिद्रम्**=सुविधा; **तम्**=वह (विषय), **अनु**=पीछा करता हुआ; **ये**=जो; **अरयः**=शत्रुजन, **योगिनः**=योगियो का, **कृत-मैत्रस्य**=मन मे विश्वास करके, **पत्युः**=पति का; **जाया इव**=पत्नी के समान, **पुंश्चली**=व्यभिचारिणी, जार पुरुषो के बहकावे मे आने वाली स्त्री।

अनुवाद

व्यभिचारिणी स्त्री जार पुरुषों के बहकावे में आकर कभी-कभी अपने पति का बध करा देती है। यदि योगी अपने मन के ऊपर संयम नहीं रखता और उसे अवसर (छूट) प्रदान करता है तो वह एक प्रकार से काम, क्रोध तथा लोभ जैसे शत्रुओं को प्रश्रय देता है जो निश्चय ही योगी को मार डालेंगे।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **पुंश्चली** शब्द ऐसी स्त्री के लिए प्रयुक्त है जो पुरुषो के बहकावे मे आ जाती है। ऐसी स्त्री का कभी भी विश्वास नही करना चाहिए। दुर्भाग्यवश, इस युग मे स्त्रियो को नियन्त्रित नही किया जाता। शास्त्रो के निर्देशानुसार स्त्रियो को स्वतन्त्र नही करना चाहिए। जब स्त्री कन्या रहती है तो पिता को चाहिए कि उस पर नियन्त्रण रखे। जब वह युवती हो जाय तो उसके पति को और वृद्ध होने पर उसके सयाने पुत्रो को उस पर नियन्त्रण रखना चाहिए। यदि उसे स्वतन्त्रता दी जाती है और पुरुषो के साथ उठने-बैठने दिया जाता है तो वह विगड़ (भ्रष्ट) जावेगी। ऐसी भ्रष्ट (व्यभिचारिणी) स्त्री, जार पुरुषो के वहकावे मे आकर अपने पति का भी वध कर सकती है। यहाँ पर यह उद्धरण इसलिए प्रस्तुत किया गया है

जिससे सासारिकता से मुक्त होने का इच्छुक योगी सदा ही अपने मन को सयमित रखे। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे कि प्रात. काल उठते ही मन को सौ-सौ जूते लगाना चाहिए और सोने के पूर्व मन को झाड़ू से सौ बार पीटना चाहिए। इस प्रकार से मनुष्य का मन सयमित रहता है। असयमित मन तथा व्यभिचारिणी स्त्री की दशा एकसमान है। जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री किसी भी समय अपने पति का वध कर सकती है उसी प्रकार असयमित मन काम, क्रोध, लोभ, प्रमत्तता, ईर्ष्या तथा मोहवश योगी का वध कर देता है। जब योगी मन द्वारा सचालित होता है तो वह संसारी स्थिति को प्राप्त होता है। मनुष्य को चाहिए कि वह मन से उसी प्रकार सतर्क रहे जिस प्रकार व्यभिचारिणी पत्नी से पति को रहना चाहिए।

कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद् बुधः॥ ५॥

कामः=विषय, **मन्युः**=क्रोध, **मदः**=घमड, **लोभः**=लालच, **शोक**=पश्चात्ताप; **मोह**=मोह, **भय**=डर, **आदयः**=ये सभी, **कर्म-बन्धः**=सकाम कर्म के लिए बन्धन स्वरूप, **च**=तथा, **यत्-मूलः**=जिसका कारण, **स्वीकुर्यात्**=स्वीकार करे, **कः**=कौन, **नु**=निस्सदेह, **तत्**=वह मन, **बुधः**=यदि बुद्धिमान है।

अनुवाद

काम, क्रोध, मद, लोभ, पश्चाताप, मोह तथा भय का मूल कारण तो मन ही है। ये सब मिल कर कर्म-बन्धन की सृष्टि करते है। भला मन पर कौन बुद्धिमान विश्वास कर सकता है?

तात्पर्य

भौतिक बन्धन का मूल कारण मन है। इसका पीछा करने वाले अनेक शत्रु है यथा क्रोध, मद, लालच, शोक, मोह तथा भय। मन को वश मे करने का सरल उपाय यह है कि उसे श्रीकृष्णभावना मे सलग्न रखा जाय (**स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोः**)। चूंकि मन का पीछा करने वाले तत्व भव-बन्धन लाने वाले है, अतः हमे मन पर कभी भी विश्वास नही करना चाहिए।

अथैवमखिललोकपालललामोऽपि विलक्षणैर्जडवदवधूतवेषभाषाचरितैरविलक्षितभगवत्प्रभावो योगिनां साम्परायविधिमनुशिक्षयन् स्वकलेवरं जिहासुरात्मन्यात्मानमसंव्यवहितमनर्थान्तरभावेनान्वीक्षमाण उपरतानुवृत्तिरुपरराम॥ ६॥

अथ=तत्पश्चात्, **एवम्**=इस प्रकार से, **अखिल-लोकपाल-ललामः**=इस ब्रह्माण्ड के समस्त राजाओ के प्रमुख, **अपि**=यद्यपि, **विलक्षणैः**=विभिन्न, **जड-वत्**=जड-सदृश (मूढ के समान), **अवधूत-वेष-भाषा-चरितैः**=अवधूत के वेष, उसकी भाषा तथा आचरण से, **अविलक्षित-भगवत्-प्रभाव.**=श्रीभगवान् के ऐश्वर्य को छिपाते हुए (अपने को सामान्य पुरुष की तरह रखते हुए); **योगिनाम्**=योगियो का; **साम्पराय-विधिम्**=इस देह के त्याग की विधि, **अनुशिक्षयन्**=सिखाते हुए; **स्व-कलेवरम्**=अपने शरीर को जो किंचित्मात्र भौतिक नही था, **जिहासुः**=सामान्य मनुष्य की भाँति त्यागने की इच्छा से, **आत्मनि**=वासुदेव को, **आत्मानम्**=अपने आप, भगवान् विष्णु के "आवेश-अवतार" होने से ऋषभदेव स्वय; **असंव्यवहितम्**=माया के व्यवधान के बिना; **अनर्थ-अन्तर-भावेन**=विष्णुपद मे स्वय, **अन्वीक्षमाणः**=सदैव देखते हुए, **उपरत-अनुवृत्तिः**=ऐसा दिखा रहे थे मानो अपना भौतिक शरीर त्याग रहे हो; **उपरराम**=राजा के रूप मे इस लोक की लीलाएँ छोड़ दी।

अनुवाद

भगवान् ऋषभदेव इस ब्रह्माण्ड के समस्त राजाओ में प्रमुख थे, किन्तु अवधूत का भेष तथा उसकी भाषा स्वीकार करके वे इस प्रकार आचरण कर रहे थे मानो जड़ तथा बद्ध पुरुष हों। फलतः कोई उनके ईश्वरीय ऐश्वर्य को नही देख सकता था। उन्होने योगियों को देह त्यागने की विधि सिखाने के लिए ही ऐसा आचरण किया तो भी वे वासुदेव कृष्ण के अंश रूप बने रहे। इस दशा में रहते हुए उन्होंने इस संसार में भगवान् ऋषभदेव के रूप में की गई लीलाओ को छोड़ दिया। यदि कोई ऋषभदेव के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए इस सूक्ष्म देह को त्याग देता है तो उसे पुनः भौतिक देह नही धारण करना पड़ता।

तात्पर्य

जैसा कि भगवद्गीता मे (४ ९) भगवान् श्रीकृष्ण कहते है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

"हे अर्जुन। मेरा आविर्भाव और कर्म दिव्य है—इस प्रकार जो मनुष्य तत्व से जानता है, वह देह को त्याग कर ससार मे फिर जन्म नही लेता, वरन् मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

यह तभी सम्भव है जब कोई परमेश्वर का शाश्वत दास बन जाये। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी तथा परमेश्वर दोनो की वैधानिक स्थिति को समझे। दोनो का एक ही सत्व-रूप है। इस ससार मे परमेश्वर का शाश्वत दास बन कर ही पुनर्जन्म

से बचा जा सकता है। यदि मनुष्य आत्म-स्वरूप को ठीक रखे और अपने को परमेश्वर का शाश्वत दास मानता रहे तो इस भौतिक शरीर का त्याग करते समय उसे सफलता मिलेगी।

तस्य ह वा एवं मुक्तलिङ्गस्य भगवत ऋषभस्य योगमाया वासनया देह इमां जगतीमभिमानाभासेन संक्रममाणः कोङ्कवेङ्ककुटकान्दक्षिणकर्णाटका न्देशान् यदृच्छयोपगगतः कुटकाचलोपवन आस्यकृताश्मकवल उन्माद इव मुक्तमूर्धजोऽसंवीत एव विचचार ॥ ७ ॥

तस्य=उसका (भगवान् ऋषभदेव), **ह वा**=मानो; **एवम्**=इस प्रकार, **मुक्त-लिङ्गस्य**=जो सूक्ष्म तथा स्थूल देह मे अन्तर नही रखता, **भगवतः**=श्रीभगवान् का, **ऋषभस्य**=ऋषभदेव का; **योग-माया-वासनया**=भगवान् की लीलाओं हेतु योगमाया को प्राप्ति से, **देहः**=देह; **इमाम्**=यह, **जगतीम्**=पृथ्वी, **अभिमान-आभासेन**=यह देह भौतिक तत्वो से निर्मित है, इस प्रकार के आभास से, **संक्रममाणः** =भ्रमण करते हुए, **कोक-वेक-कुटकान्**=कोक, वेक तथा कुटक, **दक्षिण**=दक्षिण भारत मे, **कर्णाटकान्**=कर्नाट राज्य मे, **देशान्**=समस्त देशो; **यदृच्छया**= अपनी इच्छा से, **उपगतः**=पहुँचे, **कुटकाचल-उपवने**=कुटकाचल के निकटस्थ जगल मे, **आस्य**=मुँह के भीतर, **कृत-अस्म-कवल.**=मुँह मे पत्थर भर कर; **उन्मादः इव**=पागल के समान; **मुक्त-मूर्धजः**=मुक्त (बिखरे) केशो से युक्त, **असंवीतः**=नग्न, **एव**=ही, **विचचार**=भ्रमण करने लगे।

अनुवाद

वास्तव में भगवान् ऋषभदेव के कोई भौतिक शरीर न था, किन्तु योगमाया से वे अपने शरीर को भौतिक मान रहे थे। अतः सामान्य मनुष्य की भाँति आचरण करके उन्होने वैसी मानसिकता का त्याग किया। वे संसार भर में घूमने लगे। घूमते-घूमते वे दक्षिण भारत के कर्णाट प्रदेश में पहुँचे जहाँ के रास्ते में कोंक, वेंक तथा कुटक पड़े। इस दिशा में घूमने की उनकी कोई योजना न थी, किन्तु कुटकाचल के निकट उन्होने एक जंगल में प्रवेश किया। उन्होंने अपने मुँह में पत्थर के टुकड़े भर लिए और जंगल मे नग्न तथा बाल बिखेरे पागल की भाँति घूमने लगे।

अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्रदावानलस्तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह ॥ ८ ॥

अथ=तत्पश्चात्; **समीर-वेग**=वायु के झकोरे से, **विधूत**=झकझोरे हुए, **वेणु**=बाँसो का, **विकर्षण**=रगड़ से, **जातः**=उत्पन्न हुई, **उग्र**=प्रबल; **दाव-अनलः**=दावाग्नि; **तत्**=वह, **वनम्**=कुटकाचल के निकट का जगल; **आलेलिहानः**=चारो ओर से भक्षण करती; **सह**=सग, **तेन**=वह शरीर; **ददाह**=जल कर राख हो गया।

अनुवाद

जब वे घूम रहे थे तो प्रबल दावाग्नि लग गई। यह अग्नि वायु से झकझोरे गये बाँसो की रगड़ से उत्पन्न हुई थी। इस अग्नि में कुटकाचल का पूरा जंगल तथा ऋषभदेव का शरीर भस्मसात् हो गया।

तात्पर्य

ऐसी अग्नि पशुओ के शरीरो को जला सकती है, किन्तु भगवान् ऋषभदेव नही जले, यद्यपि वाह्य रूप से ऐसा लगा कि वे जल गये। भगवान् ऋषभदेव जगल के समस्त जीवो की परम आत्मा है और उनकी आत्मा अग्नि मे कदापि नही जल सकती। जैसा कि भगवद्गीता मे कहा गया है—**अदाह्योऽयं**—आत्मा अग्नि मे नही जलती। भगवान् ऋषभदेव की उपस्थिति के कारण जगल के सभी पशु इस भौतिक वन्धन से मुक्त हो गये।

यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकानां राजार्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्म उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते ॥ ९ ॥

यस्य=जिस (भगवान् ऋषभदेव) का, **किल-अनुचरितम्**=परमहस के रूप मे लीलाएँ, **उपाकर्ण्य**=सुन कर, **कोङ्क-वेङ्क-कुटकानाम्**=कोक, वेक तथा कुटक का, **राजा**=राजा, **अर्हत्-नाम**=जिसका नाम अर्हत् था (अव जैन कहलाता है), **उपशिक्ष्य**=परमहस रूप मे भगवान् ऋषभदेव के कार्यो का अनुकरण करके, **कलौ**=इस कलियुग मे, **अधर्मे उत्कृष्यमाणे**=अधर्म की वृद्धि के कारण, **भवितव्येन**=भावी द्वारा, **विमोहितः**=मोहित, **स्व-धर्म-पथम्**=धर्म-पथ, **अकुतः-भयम्**=समस्त प्रकार के भयो से मुक्त, **अपहाय**=त्याग कर (यथा स्वच्छता, सत्यभाषण, इन्द्रिय-निग्रह, सादगी, धर्माचरण, ज्ञान का सद्प्रयोग); **कुपथ-पाखण्डम्**=नास्तिकता का बुरा (उल्टा) मार्ग, **असमञ्जसम्**=वेदविरुद्ध, अनुचित, **निज-मनीषया**=अपने मस्तिष्क से; **मन्दः**=मूढ; **सम्प्रवर्तयिष्यते**=प्रचार करेगा, चलायेगा।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने परीक्षित को बताया कि हे राजन ! कोक, वेक तथा कुटक के राजा ने, जिसका नाम अर्हत् था, ऋषभदेव के कार्य-कलापो के विषय में सुना और ऋषभदेव के नियमो का अनुकरण करते हुए एक नवीन धर्म-पद्धति चला दी। इस पापमय कर्मो के युग, कलियुग, का लाभ उठाकर राजा अर्हत ने मोहवश बाधा-रहित वैदिक नियमों को छोड़ दिया और वेदविरुद्ध नवीन धर्म-पद्धति गढ़ ली। यही जैन धर्म का शुभारम्भ था। अन्य अनेक धर्मो ने इस नास्तिकवाद को ग्रहण किया।

तात्पर्य

जव इस लोक मे श्रीकृष्ण विद्यमान थे तो पौण्ड्रक नामक एक व्यक्ति ने नारायण के चतुर्भुज रूप का अनुकरण करते हुए अपने आपको श्रीभगवान् घोषित कर दिया। वह श्रीकृष्ण की बराबरी करना चाहता था। इसी प्रकार ऋषभदेव के काल मे कोक तथा वेक के राजा ने परमहस का आचरण करते हुए भगवान् ऋषभदेव का अनुकरण किया। उसने एक धर्म चलाया और इस कलियुग मे जनता की अधोगति का लाभ उठाया। वैदिक साहित्य मे कथित है कि इस कलियुग मे लोग किसी को भी परमेश्वर मान कर वेदविरुद्ध किसी भी धर्म-पद्धति को स्वीकार करेगे। इस युग के व्यक्तियो को **मन्दाः सुमन्द-मतयः** कहा गया है। सामान्यत. उनकी कोई सात्विक संस्कृति नही होती और वे अत्यन्त अधम होते है। इसी कारण से वे कोई धर्म स्वीकार करेगे। दुर्भाग्यवश वे वैदिक नियमो को विस्मृत करते है। इस युग मे अवैदिक नियमो का पालन करते हुए वे अपने को परमेश्वर समझते है और निरीश्वरवादी सम्प्रदाय को विश्व भर मे फैलाते है।

येन ह वाव कलौ मनुजापसदा देवमायामोहिताः स्वविधिनियोगशौच-चारित्रविहीना देवहेलनान्यपव्रतानि निजनिजेच्छया गृह्णाना अस्नानानाचमनाशौचकेशोल्लुञ्चनादीनि कलिनाधर्मबहुलेनोपहतधियो ब्रह्मब्राह्मणयज्ञपुरुषलोकविदूषकाः प्रायेण भविष्यन्ति ॥१०॥

येन = जिस छद्म धार्मिक प्रकृति से, **ह वाव** = निश्चय ही; **कलौ** = इस कलियुग मे; **मनुज-अपसदा** = अधम मनुष्य, **देव-माया-मोहिताः** = श्रीभगवान् की बहिरगा शक्ति या माया से मोहित, **स्व-विधि-नियोग-शौच-चारित्र-विहीनाः** = अपने कर्तव्यो के अनुसार निर्मित विधानो, सफाई तथा चरित्र से विहीन, (शास्त्र विहित आचारो तथा शौच से रहित); **देव-हेलनानि** = श्रीभगवान् के प्रति तिरस्कार, **अपव्रतानि** = अपवित्र व्रत, पाखड, **निज-निज-इच्छया** = अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, **गृह्णानाः**

=स्वीकार करते हुए, **अस्नान-अनाचमन-अशौच-केश-उल्लुञ्चन-आदीनि**=गढ़े हुए धार्मिक नियम यथा अस्नान (न नहाना), मुख न धोना, अशुद्ध रहना, तथा केश नुचवाना; **कलिना**=कलियुग के प्रभाव से, **अधर्म-बहुलेन**=अधर्म की वहुलता वाले, **उपहत-धिय** =जिसका अन्त.करण विनष्ट हो गया है, बुद्धिहीन, **ब्रह्म-ब्राह्मण-यज्ञ-पुरुष-लोक-विदूषकाः**=वेद, ब्राह्मण, यज्ञ, श्रीभगवान् तथा भक्तो की निन्दा करने वाले; **प्रायेण**=प्राय:; **भविष्यन्ति**=होगे ।

अनुवाद

अधम तथा परमेश्वर की माया से मोहित व्यक्ति मूल वर्णाश्रम धर्म तथा उसके नियमों का परित्याग कर देगे । वे नित्य तीन बार स्नान करके ईश्वर की आराधना का बहिष्कार करेगे । वे शौच तथा परमेश्वर को त्याग कर मनमाने नियमो को ग्रहण करेगे । नियमित स्नान न करने अथवा अपना मुख न धोने से वे सदा गंदे रहेगे और अपना केश नुचवावेगे । ढोग धर्म का अनुसरण करते हुए वे फूले-फलेगे । इस कलिकाल में लोग अधार्मिक पद्धतियों की ओर अधिक उन्मुख होगे । फलस्वरूप वे वेद, वेदों के अनुयायी ब्राह्मणों, श्रीभगवान् तथा अनेक भक्तो का उपहास करेगे ।

तात्पर्य

आजकल के पाश्चात्य देशो के हिप्पी इस वर्णन के अनुरूप है । वे गैर-जिम्मेदार तथा असयमी होते है । वे स्नान नही करते और वैदिक ज्ञान का मजाक उड़ाते है । वे नवीन जीवन-शैलियो एव धर्मो को गढते रहते है । इस समय हिप्पियो के अनेक समूह है, किन्तु इनका मूल स्रोत राजा अर्हत् था जिसने परमहस अवस्था को प्राप्त भगवान् ऋषभदेव के कार्यकलापो का अनुकरण किया । अर्हत् को इस बात का ध्यान नही हुआ कि यद्यपि ऋषभदेव पागल जैसा आचरण कर रहे थे, किन्तु उनके मल तथा पुरीष सुगन्धित थे जिससे मीलो दूर के प्रान्त सुवासित रहते थे । राजा अर्हत् के अनुयायी जैन कहलाये और बाद मे अनेक लोगो ने उनका अनुसरण किया । विशेष रूप से हिप्पी उल्लेखनीय है जो मायावाद दर्शन की शाखा से सम्बद्ध है क्योकि वे अपने को श्रीभगवान् मानते है । ऐसे लोग वेदो के असली अनुयायी आदर्श ब्राह्मणो का आदर नही करते, और न उनमे परब्रह्म के प्रति आदरभाव रहता है । इस कलियुग के प्रभाव से वे तरह-तरह के झूठे धर्म गढ़ते रहते है ।

ते च ह्यर्वाक्तनया निजलोकयात्रयान्धपरम्परयाऽऽश्वस्तास्तमस्यन्धे स्वयमेव प्रपतिष्यन्ति ॥११॥

ते=वे लोग जो वेदो का अनुसरण नही करते, **च**=तथा, **हि**=निश्चय ही,

अर्वाक्तनया=वैदिक धर्म के शाश्वत नियमो से विचलित होकर, **निज-लोक-यात्रया** =स्वेच्छाकृत प्रवृत्ति से, **अन्ध-परम्परया**=अन्धे अज्ञानी पुरुषो की परम्परा से, **आश्वस्ताः**=प्रोत्साहित होकर, **तमसि**=अज्ञान के अधकार मे, **अन्धे**=अधकार, **स्वयम् एव**=अपने आप, **प्रपतिष्यन्ति**=गिरेगे।

अनुवाद

अधम लोग अपने अज्ञानवश वैदिक नियमों से हटकर चलने वाली धार्मिक प्रणाली का सूत्रपात करते हैं। वे अपने मानसिक ढोंगों के कारण स्वयं ही घोर अंधकार में गिरते है।

तात्पर्य

इस प्रसग मे भगवद्गीता के सोलहवे अध्याय को देखना चाहिए जहाँ असुरो के पतन का वर्णन है (१६.१६ तथा १६ २३)।

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः ॥१२॥

अयम् अवतारः=यह अवतार (भगवान् ऋषभदेव), **रजसा**=रजोगुण से, **उपप्लुत**=भरा हुआ, **कैवल्य-उपशिक्षणार्थः**=लोगो को मुक्ति मार्ग की शिक्षा देने के उद्देश्य से।

अनुवाद

इस कलियुग में लोग रजो तथा तमो गुणों से परिपूर्ण है। भगवान् ऋषभदेव ने इन लोगो को माया के चंगुल से छुड़ाने के लिए ही अवतार लिया था।

तात्पर्य

कलियुग के लक्षणो की भविष्यवाणी श्रीमद्भागवत के बारहवे स्कध मे तृतीय अध्याय के अन्तर्गत की गई है। **लावण्यं केश-धारणम्**। यह भविष्यवाणी की गई है कि पतित जीव कैसा आचरण करेगा। वे लम्बे-लम्बे बाल रखकर अपने को परम सुन्दर मानेगे या फिर जैनियो की भाँति केशो का लुचन करावेगे। वे गंदे रहेगे और अपना मुँह नही धोवेगे। जैनी भगवान् ऋषभदेव को अपना प्रवर्तक मानते है। यदि ऐसे लोग वास्तव मे उनके अनुयायी है तो उन्हे उनकी शिक्षाओ का दृढता से पालन करना चाहिए। इसी स्कंध के पाँचवे अध्याय मे ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रो को माया के चगुल से बचने का उपदेश दिया है। यदि सचमुच कोई उनके उपदेशो का पालन करे तो वह माया के चगुल से छूटकर परमधाम पहुँच सकता है। यदि कोई पचम अध्याय मे दिये गये ऋषभदेव के उपदेशों का पालन करे तो वह मुक्त हो

सकता है। ऋषभदेव ने विशेष रूप से इन पतित आत्माओ को ही मोक्ष दिलाने के लिए अवतार लिया था।

तस्यानुगुणान् श्लोकान् गायन्ति—

अहो भुवः सप्तसमुद्रवत्या
द्वीपेषु वर्षेष्वधिपुण्यमेतत् ।
गायन्ति यत्रत्यजना मुरारेः
कर्माणि भद्राण्यवतारवन्ति ॥१३॥

तस्य=उसके (ऋषभदेव के), **अनुगुणान्**=मुक्ति के उपदेशो के अनुसार; **श्लोकान्**=श्लोक, **गायन्ति**=गाते है, जप करते है, **अहो**=ओह !; **भुवः**=इस पृथ्वी लोक का, **सप्त-समुद्र-वत्याः**=सात समुद्रो वाले; **द्वीपेषु**=द्वीपो मे से, **वर्षेषु**=भूभागो मे, **अधिपुण्यम्**=अन्य किसी द्वीप से अधिक पवित्र; **एतत्**=यह (भारत-वर्ष), **गायन्ति**=गान करने है, **यत्रत्य-जनाः**=इस भूभाग के लोग, **मुरारेः**=श्रीभगवान् मुरारी के; **कर्माणि**=कार्यो का, **भद्राणि**=शुभ, **अवतारवन्ति**=अनेक अवतारो मे, यथा ऋषभदेव।

अनुवाद

विद्वानजन भगवान् ऋषभदेव के दिव्य गुणों का जाप इस प्रकार करते हैं— "ओह ! इस पृथ्वीलोक में सात समुद्र तथा अनेक द्वीप और वर्ष हैं जिनमें से भारतवर्ष सबसे अधिक पवित्र है। भारतवर्ष के लोग श्रीभगवान् के कार्यकलापों का ऋषभदेव तथा अन्य अनेक अवतारो के रूप में गुणगान करने के अभ्यस्त है। ये समस्त कार्य मानवता के कल्याण हेतु अत्यन्त शुभ है।

तात्पर्य

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

भारत-भूमिते हैल मनुष्य-जन्म यार।
जन्म सार्थक करिऽकर पर-उपकार ॥

जैसा कि इस श्लोक मे कहा गया है, भारतवर्ष अत्यन्त पवित्र भूमि है। वेदो के अनुयायी श्रीभगवान् के विभिन्न अवतारो से परिचित है और वे ईश्वर की महिमा का गान करते रहते है। मानव-जीवन की कीर्ति (महिमा) का अनुभव हो जाने पर ऐसे पुरुषो को विश्व भर मे मानव जीवन की कीर्ति का उपदेश देना चाहिए।

यही चैतन्य महाप्रभु का सन्देश है। **अधिपुण्यम्** शब्द यह सूचित करता है कि ससार मे और भी पवित्र प्राणी है, किन्तु भारतवर्ष के लोग अधिक पवित्र है। फलत वे श्रीकृष्णभावना को सारे विश्व मे फैलाने के लिए उपयुक्त है। श्रील मध्वाचार्य ने भी भारत भूमि को महत्ता प्रदान की है—**विशेषाद्भारते पुण्यम्**। सारे विश्व मे भगवद्भक्ति की बात छोड़ दे, किन्तु भारतवर्ष के लोग ईश्वर की भक्ति करना जानते है। अत: भारतवर्ष का प्रत्येक वासी भगवद्भक्ति द्वारा अपने जीवन को पूर्ण बना सकता है और विश्वभर के प्रत्येक प्राणी के लाभार्थ इस भक्ति (सम्प्रदाय) का प्रचार कर सकता है।

अहो नु वंशो यशसावदातः
प्रैयव्रतो यत्र पुमान् पुराणः।
कृतावतारः पुरुषः स आद्य-
श्चचार धर्मं यदकर्महेतुम् ॥१४॥

अहो=ओह; **नु**=निस्संदेह, **वंशः**=वश; **यशसा**=चतुर्दिक ख्याति से, **अवदातः**=अत्यन्त विमल; **प्रैयव्रतः**=राजा प्रियव्रत का; **यत्र**=जिसमें, **पुमान्**=परम पुरुष; **पुराणः**=आदि; **कृत-अवतार.**=अवतार लेकर, **पुरुषः**=श्रीभगवान्; **सः**=वह, **आद्यः**=आदि-पुरुष, **चचार**=आचरण किया, **धर्मम्**=धार्मिक नियम, **यत्**=जिससे; **अकर्म-हेतुम्**=कर्मो के अन्त का कारण।

अनुवाद

"ओह, भला मै प्रियव्रत के वंश के सम्बन्ध में क्या कहूँ जो इतना विमल तथा अत्यन्त विख्यात है। इसी वंश में परम पुरुष श्रीभगवान् ने अवतार लिया और कर्म फलों के मुक्त करने वाले धार्मिक नियमों का आचरण किया।

तात्पर्य

मानव समाज मे ऐसे अनेक वश है जिसमे परमेश्वर अवतार लेते है। भगवान् श्रीकृष्ण ने यदुवश मे तथा भगवान् रामचन्द्र ने इक्ष्वाकु अथवा रघुवश मे अवतार लिया। इसी प्रकार ऋषभदेव राजा प्रियव्रत के वश मे प्रकट हुए। ये सभी वश अत्यन्त विख्यात है और इनमे प्रियव्रत का वश अत्यन्त प्रसिद्ध है।

को न्वस्य काष्ठामपरोऽनुगच्छे-
न्मनोरथेनाप्यभवस्य योगी।

योो योगमायाः स्पृहयत्युदस्ता
ह्यसत्तया येन कृतप्रयत्नाः ॥१५॥

कः=कौन, **नु**=निस्सदेह, **अस्य**=भगवान् ऋषभदेव का, **काष्ठाम्**=आदर्श, **अपरः**=अन्य, **अनुगच्छेत्**=अनुगमन कर सकता है, **मन.-रथेन**=मन से, **अपि**=भी, **अभवस्य**=अजन्मा का, **योगी**=योगी, **यः**=कौन; **योग-मायाः**=योग सिद्धि, **स्पृहयति**=स्पृहा करता है, कामना करता है; **उदस्ता.**=ऋषभदेव द्वारा परित्यक्त; **हि**=ही, **असत्तया**=अपूर्ण होने से, असत् से, **येन**=जिसके द्वारा (ऋषभदेव द्वारा), **कृत-प्रयत्नाः**=यद्यपि सेवा करने के लिए इच्छुक ।

अनुवाद

"भला ऐसा कौन योगी है जो अपने मन से भी भगवान् ऋषभदेव के आदर्शो का पालन कर सके ? उन्होंने उन समस्त योग-सिद्धियों का तिरस्कार कर दिया था जिसके लिए योगी लालायित रहते है । भला ऐसा कौन योगी है जो भगवान् ऋषभदेव की समता कर सके ?"

तात्पर्य

सामान्यत: योगी अष्ट सिद्धियो की कामना करते है । ये है—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राकाम्य, प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व तथा कामावसायिता । किन्तु भगवान् ऋषभदेव ने इन भौतिक वस्तुओ की कभी कामना नही की । ऐसी सिद्धियाँ भगवान् की माया द्वारा उपस्थित की जाती है । योगसाधना का मुख्य उद्देश्य श्रीभगवान् का अनुग्रह और उनकी शरण प्राप्त करना है । किन्तु योगमाया के कारण यह उद्देश्य प्रच्छन्न हो जाता है । फलस्वरूप तथाकथित योगी ऊपरी सिद्धियो के प्रति आकृष्ट होते है, अत: वे भगवान् ऋषभदेव की समता नही कर सकते ।

इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहा-मङ्गलायनमिदमनुश्रद्धयोपचितयानुशृणोत्याश्रावयति वावहितो भगवति तस्मिन् वासुदेव एकान्ततो भक्तिरनयोरपि समनुवर्तते ॥१६॥

इति=इस प्रकार, **ह स्म**=निस्सदेह, **सकल**=सम्पूर्ण, **वेद**=ज्ञान का, **लोक**=जनता का, **देव**=देवताओ का, **ब्राह्मण**=समस्त ब्राह्मणों का; **गवाम्**=गायो का, **परम**=परम, **गुरोः**=गुरु, स्वामी, **भगवतः**=श्रीभगवान् का, **ऋषभ-आख्यस्य**=जिसका नाम ऋषभ था, **विशुद्ध**=शुद्ध, **आचरितम्**=कार्यकलाप,

ईरितम्=अब व्याख्या किया गया, **पुंसाम्**=प्रत्येक जीवात्मा का, **समस्त**=सम्पूर्ण, **दुश्चरित**=पाप कर्म, **अभिहरणम्**=विनाश करते हुए, **परम**=अग्रणी, **महा**=महान, **मङ्गल**=कल्याण का, **अयनम्**=वास, शरण, घर; **इदम्**=यह; **अनुश्रद्धया**=श्रद्धा से, **उपचितया**=बढती हुई, **अनुशृणोति**=अधिकारी से सुनता है, **आश्रावयति**=दूसरे से कहता है; **वा**=अथवा, **अवहितः**=सावधान होकर; **भगवति**=श्रीभगवान्; **तस्मिन्**=उस, **वासुदेवे**=वासुदेव, श्रीकृष्ण मे, **एक-अन्ततः**=एकान्त भाव से; **भक्तिः**=भक्ति, **अनयोः**=स्रोता तथा वक्ता दोनो समूहो का, **अपि**=निश्चय ही, **समनुवर्तते**=वास्तव मे प्रारम्भ होती है।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने कहा, "ऋषभदेव समस्त वैदिक ज्ञान, मनुष्यों, देवताओं, गायों तथा ब्राह्मणों के स्वामी है। मै पहले ही उनके विशुद्ध, दिव्य कार्य-कलापों का विस्तार से वर्णन कर चुका हूँ जिनसे समस्त जीवात्माओं के पाप कर्म मिट जावेंगे। भगवान् ऋषभदेव की लीलाओं का यह वर्णन समस्त मंगल वस्तुओं का आगार है। जो भी आचार्यो का अनुसरण करते हुए इन्हें सुनता या कहता है उसे निश्चय ही श्रीभगवान् वासुदेव के चरणकमलों की शुद्ध भक्ति प्राप्त होगी।"

तात्पर्य

ऋषभदेव के उपदेश सभी युगो के मनुष्यो के लिए है—चाहे सत्ययुग हो अथवा त्रेता, द्वापर या विशेषतया कलियुग। ये उपदेश इतने प्रभावशाली है कि इस कलियुग मे केवल इनकी व्याख्या करने, आचार्यो का अनुगमन करने या ध्यानपूर्वक सुनने से सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जो ऐसा करता है उसे भगवान् वासुदेव की शुद्ध भक्ति प्राप्त हो सकती है। भगवान् तथा उनके भक्तो की लीलाओ का सग्रह श्रीभागवत मे इस उद्देश्य से किया गया है जिससे इन्हे सुनने तथा सुनाने वाले शुद्ध हो सके। **नित्यं भागवत-सेवया।** भक्तो को नियमानुसार, हो सके तो प्रतिदिन चौबीसो घटे श्रीमद्भागवत का पठन, कथन तथा श्रवण करना चाहिए। यह श्रीचैतन्य महाप्रभु की सलाह है—**कीर्तनीयः सदा हरिः।** मनुष्य को चाहिए कि या तो वह हरे कृष्ण महामन्त्र का जाप करे या श्रीमद्भागवत पाठ करे और इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव, कपिल तथा कृष्ण रूप मे प्रकट होने वाले भगवान् के चरित्र तथा उपदेशो को समझे। इस प्रकार श्रीभगवान् की दिव्य प्रकृति से परिचित हुआ जा सकता है। जैसा कि भगवद्गीता मे कहा गया है कि जो भगवान् के जन्म तथा कर्म के दिव्य स्वभाव को जान लेता है उसे भव-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है और वह परमधाम को प्राप्त होता है।

यस्यामेव कवय आत्मानमविरतं विविधवृजिनसंसारपरितापोपतप्यमानमनुसवनं स्नापयन्तस्तयैव परया निर्वृत्या ह्यपवर्गमात्यन्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः ॥१७॥

यस्याम् एव=जिसमें (श्रीकृष्णभावनामृत अथवा भक्ति के अमृत मे), **कवयः**=पण्डित जन, **आत्मानम्**=आत्म, स्वय, **अविरतम्**=निरन्तर; **विविध**=अनेक, **वृजिन**=पापपूर्ण, **संसार**=भौतिक संसार मे; **परिताप**=दुखो से; **उपतप्यमानम्**=तपे हुए, दुःखी, **अनुसवनम्**=निरन्तर; **स्नापयन्तः**=स्नान करते हुए, **तया**=उससे, **एव**=निश्चय ही; **परया**=महान; **निर्वृत्या**=प्रसन्नतापूर्वक; **हि**=ही; **अपवर्गम्**=मुक्ति, **आत्यन्तिकम्**=बिना अवरोध के, निरन्तर; **परम-पुरुष-अर्थम्**=मानवीय सफलताओ मे सर्वश्रेष्ठ, **अपि**=यद्यपि, **स्वयम्**=स्वयं, **आसादितम्**=प्राप्त, **नो**=नही, **एव**=निश्चय ही, **आद्रियन्ते**=प्राप्त करने का प्रयत्न करते है, **भगवदीयत्वेन एव**=श्रीभगवान् से सम्बन्ध होने के कारण, **परिसमाप्त-सर्व-अर्थाः**=जिनकी समस्त भौतिक कामनाओं का अन्त हो चुका है ।

अनुवाद

भक्त जन भौतिक संसार के विभिन्न दुःखों से मुक्त होने के लिए निरन्तर भक्ति-सरिता में स्नान करते रहते है । इससे उन्हे परम आनन्द प्राप्त होता है और मुक्ति स्वयं आकर उनकी सेवा करती है । तो भी वे सेवा स्वीकार नही करते भले ही श्रीभगवान् स्वयं क्यों न सेवा के लिए तत्पर हों । भक्तों के लिए मुक्ति का कोई महत्व नही है क्योंकि ईश्वर की दिव्य प्रेमा भक्ति प्राप्त हो जाने पर उनकी प्रत्येक आकांक्षा पूरी हो जाती है और वे समस्त भौतिक कामनाओं से ऊपर उठ जाते है ।

तात्पर्य

इस ससार के कष्टो से मुक्ति चाहने वाले के लिए ईश्वर की भक्ति प्राप्त होना सबसे बडी उपलब्धि होती है । जैसा कि भगवद्गीता मे (६ २२) कहा गया है—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**—इसे प्राप्त कर लेने के वाद मनुष्य सोचता है कि इससे बडा कोई अन्य लाभ नही । ईश्वर की भक्ति प्राप्त होना, ईश्वर से अभिन्न नही है, अत. उसके वाद और कोई कामना नही रह जाती । **मुक्ति** का अभिप्राय है ससार से छुटकारा । विल्वमगल ठाकुर कहते है—**मुक्तिः मुकुलितांजलिः सेवतेऽस्मान्** । भक्त के लिए मुक्ति वहुत वड़ी उपलब्धि नही है । मुक्ति का अर्थ है अपनी वैधानिक स्थिति को प्राप्त करना । प्रत्येक जीवात्मा की वैधानिक स्थिति ईश्वर के दास की है, अत. जव कोई जीव ईश्वर की भक्ति मे

लगा रहता है तो उसे पहले से मुक्ति प्राप्त हुई रहती है। फलतः भक्त कभी मुक्ति की स्पृहा नही करता, भले ही ईश्वर स्वयं क्यों न प्रदान करे।

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः ।
अस्त्वेवमङ्ग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥१८॥

राजन्=हे राजा; **पतिः**=पालक; **गुरुः**=गुरु, **अलम्**=निश्चय ही, **भवताम्** =आपका, **यदूनाम्**=यदुवश का; **दैवम्**=आराध्य श्रीविग्रह; **प्रियः**=अत्यन्त प्रिय मित्र, **कुल-पतिः**=वश का स्वामी; **क्व च**=यहाँ तक कि कभी-कभी, एवम्; **किङ्करः**=सेवक, **व**=तुम सब का (पाडवो का), **अस्तु**=होवे, **एवम्**=इस प्रकार, **अङ्ग**=हे राजा !, **भगवान्**=श्रीभगवान्, **भजताम्**=सेवा मे रत भक्तो का, **मुकुन्दः**=भगवान्, **मुक्तिम्**=मुक्ति, **ददाति**=देता है, **कर्हिचित्** किसी भी समय, **स्म**=निस्सन्देह, **न**=नही, **भक्ति-योगम्**=प्रेमाभक्ति।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन ! परम पुरुष मुकुन्द सभी पांडवों तथा यदुवंशियों के वास्तविक पालक है। वे तुम्हारे गुरु, आराध्य श्रीविग्रह, मित्र तथा तुम्हारे कर्मों के नियन्ता है। यही नही, वे कभी-कभी तुम्हारे परिवार की सेवा दूत या सेवक के रूप में भी करते है। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सामान्य सेवकों की तरह कार्य करते है। जो ईश्वर की सेवा में लगे रहकर प्रिय पात्र बनना चाहते है उन्हे सरलता से मुक्ति मिल जाती है, किन्तु वे अपनी प्रत्यक्ष सेवा करने का अवसर बहुत ही कम प्रदान करते है।

तात्पर्य

महाराज परीक्षित को उपदेश देते हुए शुकदेव गोस्वामी ने राजा को प्रोत्साहित करना उचित समझा क्योकि हो सकता है अपने मन मे विविध राज-वशो के यशस्वी स्थान के सम्बन्ध मे सोच रहे हो। विशेष रूप से यशस्वी वश प्रियव्रत का है जिसमे भगवान् ऋषभदेव ने अवतार ग्रहण किया। इसी प्रकार महाराज ध्रुव के पिता उत्तानपाद का वश भी यशस्वी था क्योकि उसमे राजा पृथु ने जन्म लिया था। महाराज रघु का वश भी स्तुत्य है क्योकि उसमे भगवान् रामचन्द्र प्रकट हुए। जहाँ तक कुरु तथा यदुवशो का प्रश्न है ये एक ही समय मे विद्यमान थे, किन्तु इन दोनो

मे यदुवंश अधिक यशस्वी था क्योकि इसमे भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए। हो सकता है कि महाराज परीक्षित यह सोच रहे हो कि कुरु वश अन्य वशो के समान भाग्य-शाली नही है क्योकि इसमे न तो कृष्ण, राम या ऋषभदेव उत्पन्न हुए, न ही महाराज पृथु। इसीलिए इस श्लोक मे महाराज परीक्षित को शुकदेव गोस्वामी ने प्रोत्साहित किया।

कुरुवश को अधिक यशस्वी माना जा सकता है क्योकि इसमे पॉच पांडव हुए जिन्होने शुद्ध भक्ति की। यद्यपि श्रीकृष्ण कुरुवश मे उत्पन्न नही हुए थे, किन्तु वे पांडवो की भक्ति से इतने प्रसन्न थे कि उन्होने पाडवो के परिवार के पालक तथा गुरु के समान आचरण किया। यदुवंश मे जन्म लेकर भी श्रीकृष्ण पाडवो के प्रति अत्यन्त स्नेहिल थे। अपने कार्यो से उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि वे यदुवश की अपेक्षा कुरुवश को अधिक चाहते थे। वे पाडवो की भक्ति के इतने ऋणी थे कि कभी वे उनके दूत बने तो कभी उन्हे भयानक परिस्थितियो से उबारा। इसलिए महाराज परीक्षित को तनिक भी दुखी नही होना चाहिए कि श्रीकृष्ण उनके वश मे नही उत्पन्न हुए। श्रीभगवान् अपने भक्तो को सदैव अधिक चाहते है और इस क्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि भक्तो के लिए मुक्ति अधिक महत्वपूर्ण नही होती। श्रीकृष्ण किसी को मुक्ति भले ही दे दे, किन्तु सबको अपना भक्त बनने का अवसर नही प्रदान करते। **मुक्ति ददाति कर्हिच्चित् स्म न भक्ति-योगम्।** प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से यह सिद्ध हो जाता है कि परमेश्वर से परम सम्बन्ध स्थापित करने का आधार भक्ति-योग ही है। यह मुक्ति से कही श्रेयस्कर है। ईश्वर के शुद्ध भक्त को मुक्ति स्वत: मिल जाती है।

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः।
लोकस्य यः करुणयाभयमात्मलोक-
माख्यान्नमो भगवते ऋषभाय तस्मै ॥१९॥

नित्य-अनुभूत=अपने वास्तविक रूप के प्रति सदैव जागरूक न होने के कारण, **निज-लाभ-निवृत्त-तृष्णः**=अपने मे पूर्ण होने के कारण कामना रहित; **श्रेयसि**= जीवन के वास्तविक कल्याण में; **अ-तत्-रचनया**=देह को स्व मानकर भौतिक क्षेत्र मे कर्मो का प्रसार करके, **चिर**=दीर्घकाल तक, **सुप्त**=सोया हुआ; **बुद्धे**.=जिसकी बुद्धि, **लोकस्य**=लोगो का; **यः**=जो (भगवान् ऋषभदेव), **करुणया**=अहैतुकी कृपा से, **अभयम्**=निर्भय; **आत्म-लोकम्**=आत्म-स्वरूप; **आख्यात्**= उपदेश दिया, **नमः**=नमस्कार है, **भगवते**=श्रीभगवान्; **ऋषभाय**=ऋषभदेव को, **तस्मै**= उसको।

अनुवाद

श्रीभगवान् ऋषभदेव को अपने वास्तविक स्वरूप का बोध था, अतः वह आत्म-तुष्ट थे और उन्हें किसी बाह्य तुष्टि की आकांक्षा नहीं रह गई थी। अपने में पूर्ण होने के कारण उन्हें किसी सफलता की स्पृहा नही थी। जो वृथा ही देहात्म बुद्धि में लगे रहते हैं और भौतिकता का परिवेश तैयार करते है वे अपने वास्तविक हित को नहीं पहचानते। भगवान् ऋषभदेव ने अहैतुकी कृपा वश वास्तविक आत्म-बुद्धि तथा जीवन लक्ष्य की शिक्षा दी। अतः हम उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार करते है।

तात्पर्य

यह इस अध्याय का साराश है जिसमे ऋषभदेव के कार्यो का वर्णन है। श्रीभगवान् होने के कारण वे स्वय मे पूर्ण है। ईश्वर के अश रूप हम सबो को भगवान् ऋषभदेव के उपदेशो का पालन करना चाहिए और आत्मनिर्भर बनना चाहिए। देहात्म बुद्धि के कारण वृथा की आवश्यकताएँ नही बढ़ानी चाहिए। आत्म-सिद्ध होने पर मनुष्य परम तुष्ट रहता है। जैसा कि भगवद्गीता मे (१८.५४) पुष्टि की गई है—**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।** समस्त जीवात्माओ का यही लक्ष्य है। इस ससार मे स्थित रह कर भी मनुष्य परम सन्तुष्ट रह सकता है और शोक-लोभ से विगत हो सकता है यदि भगवद्गीता या श्रीमद्भागवत मे दिये गये श्रीभगवान् के उपदेशो का पालन करे। आत्मसाक्षात्कार द्वारा सतोष **स्वरूपानन्द** कहलाता है। बद्धजीव शाश्वत अधकार मे सुप्त रहकर कभी भी अपना हित नही समझ पाता। वह भौतिक जोड़-तोड द्वारा सुखी बनना चाहता है, किन्तु यह असम्भव है। इसीलिए श्रीमद्भागवत मे कहा गया है—**न ते विदुः स्वार्थ गतिं हि विष्णुम्**—अज्ञान के कारण बद्धजीव यह नही जानता कि उसका वास्तविक हित भगवान् विष्णु के चरणकमलो मे शरण प्राप्त करना है। जोड़-तोड़ द्वारा सुखी बनने के प्रयास वृथा है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने आचरण तथा उपदेशो के द्वारा बद्धजीवों को प्रकाश दिखाया और यह भी बताया कि किस प्रकार आत्मनिर्भर बनना चाहिए।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां भक्तिवेदान्त भाष्ये पञ्चम स्कन्धे ऋषभदेवानु चरिते षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पचम स्कन्ध के अन्तर्गत, "भगवान् ऋषभदेव का चरित्र" शीर्षक नामक छठे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय सात

राजा भरत का चरित्र

इस अध्याय मे समस्त ससार के सम्राट राजा भरत महाराज के कार्यो का वर्णन हुआ है। भरत महाराज ने अनेक वैदिक यज्ञ किये और अनेक प्रकार की पूजा द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न किया। कालान्तर मे गृह त्याग कर वे हरिद्वार मे रहने लगे और भक्ति कार्यो मे अपना समय बिताने लगे। अपने पिता ऋषभदेव की आज्ञा से भरत महाराज ने विश्वरूप की पुत्री पचजनी से व्याह किया था। तत्पश्चात् उन्होने शान्तिपूर्वक सारे विश्व पर राज्य किया। पहले यह लोक अजनाभ कहलाता था, किन्तु भरत महाराज के शासन के बाद इसका नाम भारतवर्ष पडा। भरत महाराज को पचजनी के गर्भ से पॉच पुत्र रत्नो की प्राप्ति हुई जिनके नाम सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण तथा धूम्रकेतु रखे गये। भरत महाराज धर्म के पालन तथा अपने पिता के पद-चिह्नों का अनुसरण करने मे अत्यन्त कठोर थे, फलत. उन्होने अपनी प्रजा का शासन सुचारु रूप से किया। परमेश्वर को तुष्ट करने के लिए अनेक यज्ञ सम्पन्न करने के कारण वे स्वय परम सतुष्ट थे। अविचलित मन से वे भगवान् वासुदेव की भक्ति बढाते गये। वे नारद जैसे ऋषियो के सिद्धान्तो को समझने मे दक्ष थे और उनके पदचिह्नो का अनुसरण करते थे। वे भगवान् वासुदेव को निरन्तर हृदय मे धारण करते थे। राज कर चुकने के बाद उन्होने अपने साम्राज्य को पाँचो पुत्रो मे बाँट दिया। फिर घर छोड कर पुलहाश्रम गये। वहाँ वे जगली वनस्पतियाॅ तथा फल खाकर भगवान् वासुदेव की आराधना करते रहे। वासुदेव के प्रति भक्ति बढ जाने से वे दिव्य आनन्दमय जीवन का अनुभव करने लगे। सिद्धावस्था के कारण कभी-कभी उन्हे अपने शरीर मे अस्पष्ट सात्विक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे ऋग्वेद मे वर्णित मन्त्रो से जिन्हे गायत्री मन्त्र कहते है और जिनका लक्ष्य सूर्य के भीतर स्थित परम नारायण है, परमेश्वर की अराधना करते थे।

श्रीशुक उवाच

भरतस्तु महाभागवतो यदा भगवतावनितलपरिपालनाय सञ्चिन्तित-स्तदनुशासनपरः पञ्चजनीं विश्वरूपदुहितरमुपयेमे ॥ १ ॥

श्रीशुकः उवाच=शुकदेव गोस्वामी ने कहा, **भरतः**=महाराज भरत, **तु**=लेकिन; **महा-भागवतः**=ईश्वर का महान भक्त, **यदा**=जब, **भगवता**=अपने पिता भगवान् ऋषभदेव की आज्ञा से, **अवनितल**=पृथ्वी, **परिपालनाय**=शासन करने के लिए; **सञ्चिन्तितः**=दृढ-निश्चय, **तत्-अनुशासन-परः**=पृथ्वी पर शासन करने मे रत, **पञ्चजनीम्**=पचजनी; **विश्वरूप-दुहितरम्**=विश्वरूप की पुत्री, **उपयेमे**=विवाह किया।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से और आगे कहा—हे राजन ! भरत महाराज सर्वोच्च भक्त थे। अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए वे इच्छानुसार पृथ्वी पर राज्य करने लगे। समस्त संसार पर राज्य करते हुए वे अपने पिता के आदेशों का पालन करने लगे और उन्होने विश्वरूप की कन्या पंचजनी से विवाह कर लिया।

तस्यामु ह वा आत्मजान् कार्त्स्न्येनानुरूपानात्मनः पञ्च जनयामास भूतादिरिव भूतसूक्ष्माणि सुमतिं राष्ट्रभृतं सुदर्शनमावरणं धूम्रकेतुमिति ॥ २ ॥

तस्याम्=उसके गर्भ मे, **उ ह वा**=निस्सदेह, **आत्म-जान्**=पुत्र; **कार्त्स्न्येन**=पूर्णतः; **अनुरूपान्**=अनुरूप, समान, **आत्मनः**=अपने, **पंच**=पॉच, **जनयाम् आस**=उत्पन्न हुए, **भूत-आदिः इव**=अहकार के सदृश, **भूत-सूक्ष्माणि**=पॉच भूत तन्मात्र, **सु-मतिम्**=सुमति, **राष्ट्र-भृतम्**=राष्ट्रभृत; **सु-दर्शनम्**=सुदर्शन, **आवरणम्**=आवरण, **धूम्र-केतुम्**=धूम्रकेतु, **इति**=इस प्रकार।

अनुवाद

जिस प्रकार अहंकार से भूत-तन्मात्र (सूक्ष्म-इन्द्रिय पदार्थ) उत्पन्न होते है वैसे ही महाराज भरत को अपनी पत्नी पंचजनी के गर्भ से पॉच पुत्र प्राप्त हुए। इन पुत्रों के नाम थे—सुमति, राष्ट्रभृत, सुदर्शन, आवरण तथा धूम्रकेतु।

अजनाभं नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ॥ ३ ॥

अजनाभम्=अजनाभ, **नाम**=नाम से; **एतत्**=यह, **वर्षम्**=द्वीप, **भारतम्**=भारत; **इति**=इस प्रकार, **यतः**=जिससे, **आरभ्य**=प्रारम्भ करके, **व्यपदिशन्ति**=कहते है, पुकारते है।

अनुवाद

पहले इस देश का नाम अजनाभवर्ष था, किन्तु महाराज भरत के शासन काल से इसका नाम भारतवर्ष पड़ा।

तात्पर्य

यह देश पहले राजा नाभि के शासन के कारण अजनाभ कहलाता था। भरत महाराज के शासन काल के बाद यह भारतवर्ष कहलाया।

स बहुविन्महीपतिः पितृपितामहवदुरुवत्सलतया स्वे स्वे कर्माणि वर्तमानाः प्रजाः स्वधर्ममनुवर्तमानः पर्यपालयत् ॥ ४ ॥

सः=वह राजा (महाराज भरत), **बहु-वित्**=महान ज्ञानी, **मही-पतिः**=पृथ्वी का शासक, राजा, **पितृ**=पिता, **पिता-मह**=बाबा, **वत्**=सदृश; **उरु-वत्सलतया** =नागरिको (प्रजा) पर अत्यधिक वत्सल (स्नेहिल) होने के कारण, **स्वे स्वे**=अपने अपने, **कर्माणि**=कर्त्तव्य, **वर्तमानाः**=रहकर, **प्रजाः**=प्रजा, **स्व-धर्मम् अनुवर्तमान.**=अपने कर्तव्य मे लगे रहकर, **पर्यपालयत**=शासन किया।

अनुवाद

भरत महाराज अत्यन्त ज्ञानी तथा इस पृथ्वी के अनुभवी राजा थे। वे स्वयं अपने कार्यों में संलग्न रह कर प्रजा पर अच्छी प्रकार से राज्य करते थे। वे अपनी प्रजा के प्रति उतने ही वत्सल थे जितने उनके पिता तथा पितामह रह चुके थे। उन्होने प्रजा को अपने अपने कर्तव्यों में व्यस्त रख कर इस पृथ्वी पर शासन किया।

तात्पर्य

यह अत्यन्त आवश्यक है कि मुख्य कार्यकारी अपने अपने कार्यो मे निरत रह कर प्रजा पर शासन करे। प्रजा मे से कुछ ब्राह्मण थे, कुछ क्षत्रिय और कुछ वैश्य तथा शूद्र। यह सरकार का कर्तव्य है कि नागरिक इन विभागो के अनुसार अपनी आत्मिक उन्नति के लिए कार्य करे। किसी भी नागरिक को बिना काम के या निठल्ला नही रहना चाहिए। उसे भौतिक पथ पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र की तरह और आध्यात्मिक धरातल पर ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यासी के रूप मे आचरण करना चाहिए। यद्यपि पूर्वकाल मे निरकुश शासन होता था, किन्तु सभी राजा प्रजा के प्रति अत्यधिक वत्सल होते थे और वे प्रजा को अपने अपने कर्तव्यो मे व्यस्त रखते थे। इसलिए समाज का सचालन सहजता से होता था।

ईजे च भगवन्तं यज्ञक्रतुरूपं क्रतुभिरुच्चावचैः श्रद्धयाऽऽहृताग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमानां प्रकृतिविकृतिभिरनुसवनं चातुर्होत्रविधिना ॥५॥

ईजे=आराधना की, **च**=भी, **भगवन्तम्**=श्रीभगवान्, **यज्ञ-क्रतु-रूपम्**=पशु सहित तथा पशु रहित यज्ञो वाले, **क्रतुभिः**=ऐसे यज्ञो से, **उच्चावचैः**=अत्यन्त छोटे, **श्रद्धया**=श्रद्धा समेत, **आहृत**=किया गया, **अग्नि-होत्र**=अग्नि होत्र यज्ञ का, **दर्श**=दर्श यज्ञ का, **पूर्णमास**=पूर्णमास यज्ञ का; **चातुर्मास्य**=चातुर्मास यज्ञ का, **पशु-सोमानाम**=पशु तथा सोम रस से सम्पन्न यज्ञो का, **प्रकृति**=पूर्ण अनुष्ठानो द्वारा, **विकृतिभिः**=तथा आशिक अनुष्ठानो द्वारा; **अनुसवनम्**=प्राय.; **चातुः-होत्र-विधिना**=चार प्रकार के पुरोहितो (ऋत्विजो) द्वारा निर्देशित यज्ञविधि-विधानो के द्वारा ।

अनुवाद

राजा भरत ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अनेक प्रकार के यज्ञ किये । इनके नाम है अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु-यज्ञ (जिसमे अश्व बलि दी जाती थी) तथा सोम-यज्ञ (जिसमे सोमरस प्रयुक्त होता है) । कभी ये यज्ञ पूर्ण रूप से तो कभी आशिक रूप में सम्पन्न किये जाते थे । प्रत्येक दशा मे समस्त यज्ञो में चातुर्होत्र-नियमो का दृढ़ता से पालन किया जाता था । इस प्रकार भरत महाराज श्रीभगवान् की उपासना करते थे ।

तात्पर्य

यज्ञ की पूर्णता की परीक्षा के लिए ही शूकरो तथा गायो की बलि दी जाती थी अन्यथा पशुओ की वलि चढाने का कोई प्रयोजन न था । वास्तव मे यज्ञ-अग्नि मे पशु बलि तरुण-जीवन प्राप्त करने के लिए की जाती थी । सामान्यत: बूढ़े पशु की वलि दी जाती थी जो तरुण शरीर लेकर पुनः प्रकट होता था । किन्तु कुछ अनुष्ठानो मे पशु वलि की आवश्यकता नही पड़ती थी । वर्तमान युग मे पशुओ की वलि पर प्रतिवन्ध है । जैसा कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है (चैतन्य चं० आदि १७ १६४)—

अश्वमेधं गवालम्भं संन्यासं पल-पैतृकम् ।
देवरेण सुतोपत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत ॥

"इस कलियुग मे पॉच प्रकार के कार्य वर्जित है—यज्ञ मे अश्व की वलि, यज्ञ मे गो-वलि, सन्यास धारण करना, पितरो को मास-दान तथा भाई की पत्नी से पुत्रोत्पत्ति ।"

कलियुग मे ऐसे यज्ञ असम्भव है क्योकि ऐसे पटु ब्राह्मणो या ऋत्विजो का अभाव है जो इस उत्तरदायित्व को ग्रहण कर सके । इन यज्ञो के अभाव मे सकीर्तन

यज्ञ की सस्तुति की जाती है। **यज्ञैः संकीर्तन-प्रायैः यजन्ति हि सुमेधसः** (भागवत ११ ५ ३२)। कुल मिलाकर यज्ञो का उद्देश्य श्रीभगवान् को प्रसन्न करना है। **यज्ञार्थकर्म**—ऐसे कार्य श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए किये जाने चाहिए। इस कलिकाल मे श्रीभगवान् के अवतार श्रीचैतन्य महाप्रभु की उनके पार्षदो सहित उपासना सकीर्तन यज्ञ द्वारा की जानी चाहिए जिसमे "हरे कृष्ण मन्त्र" का सामूहिक जप किया जाता है। यह विधि बुद्धिमान व्यक्तियो द्वारा स्वीकार की जाती है। **यज्ञैः संकीर्तन-प्रायैः यजन्ति हि सुमेधसः। सुमेधसः** शब्द उन बुद्धिमान लोगो के लिए प्रयुक्त है जिनका मस्तिष्क उच्च कोटि का होता है।

सम्प्रचरत्सु नानायागेषु विरचिताङ्गक्रियेष्वपूर्वं यत्तत्क्रियाफलं धर्माख्यं परे ब्रह्मणि यज्ञपुरुषे सर्वदेवतालिङ्गानां मन्त्राणामर्थनियामकतया साक्षात्कर्तरि परदेवतायां भगवति वासुदेव एव भावयमान आत्मनैपुण्य-मृदितकषायो हविःष्वध्वर्युभिर्गृह्यमाणेषु स यजमानो यज्ञभाजो देवांस्तान् पुरुषावयवेष्वभ्यध्यायत् ॥ ६ ॥

सम्प्रचरत्सु=अनुष्ठान प्रारम्भ करते समय, **नाना-यागेषु**=अनेक प्रकार के यज्ञ, **विरचित-अङ्ग-क्रियेषु**=जिसमे गौण कृत्य किये जाते थे; **अपूर्वम्**=सुदूर, **यत्**=जो भी, **तत्**=वह, **क्रिया-फलम्**=यज्ञ का फल, **धर्म-आख्यम्**=धर्म के नाम से, **परे**=सत्व मे, **ब्रह्मणि**=परब्रह्म, **यज्ञ-पुरुषे**=समस्त यज्ञो का भोक्ता, **सर्व-देवता-लिङ्गानाम्**=देवताओ को प्रकट करने वाले, **मन्त्राणाम्**=मन्त्रो का, वैदिक स्तुतियो का, **अर्थ-नियाम-कतया**=पदार्थो का नियन्ता होने से, **साक्षात्-कर्तरि**= साक्षात करने वाला, **पर-देवतायाम्**=समस्त देवताओ के कारण, **भगवतिः**= श्रीभगवान्, **वासुदेवे**=श्रीकृष्ण मे, **एव**=निश्चय ही, **भावयमानः**=सदैव चिन्तन करते हुए, **आत्म-नैपुण्य-मृदित-कषाय**.=समस्त काम तथा क्रोध से रहित, **हविःषु** =यज्ञ मे डाली दाने वाली सामग्री, हवि, **अध्वर्युभिः**=जव अथर्ववेद मे वर्णित यज्ञो मे दक्ष पुरोहित, **गृह्यमाणेषु**=लेते हुए, **सः**=महाराज भरत, **यजमानः**=यज्ञ करने वाला, **यज्ञभाज** =यज्ञ-फल को पाने वाले, **देवान्**=समस्त देवता, **तान्**=उनको, **पुरुष-अवयवेषु**=श्रीभगवान् गोविन्द के शरीर के अग प्रत्यगो मे; **अभ्यध्यायत्**= उसने सोचा।

अनुवाद

विभिन्न यज्ञो के प्रारम्भिक कार्यो को कर लेने के बाद महाराज भरत यज्ञफलो को धर्म के नाम पर श्रीभगवान् को अर्पण कर देते थे। अर्थात्, वे भगवान् वासुदेव को प्रसन्न करने के लिए समस्त यज्ञ करते थे। महाराज भरत सोचते थे कि सभी

देवता भगवान् वासुदेव के अंग स्वरूप है और वे वैदिक मन्त्रो मे जो भी वर्णित है उसके नियन्ता है। इस प्रकार चिन्तन के फलस्वरूप महाराज भरत आसक्ति, काम तथा लोभ जैसे भौतिक कल्मष से मुक्त थे। जब पुरोहितगण अग्नि मे हवि अर्पित करते तो महाराज भरत को यह ज्ञात था कि विभिन्न देवताओ को दी जाने वाली यह बलि ईश्वर के विभिन्न अवयवो (अंगो) के निमित्त है। उदाहरणार्थ इन्द्र श्रीभगवान् के बाहु स्वरूप और सूर्य उनके नेत्र है। इस प्रकार महाराज भरत ने विचार किया कि विभिन्न देवताओ को दी जाने वाली आहुतियाँ भगवान् वासुदेव के अग-प्रत्यंगों के निमित्त है।

तात्पर्य

श्रीभगवान् का कथन है कि जब तक **श्रवणं कीर्तनं** वाली शुद्ध भक्ति का विकास न हो तब तक मनुष्य को अपने कर्तव्य करते रहना चाहिए। चूंकि भरत महाराज महान भक्त थे, अत. यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि तब वे कर्मियो की भाँति इतने यज्ञ क्यो करते थे ? तथ्य यह है कि वे वासुदेव के आदेशो का पालन कर रहे थे। भगवद्गीता मे (१८ ६६) श्रीकृष्ण ने कहा है—**सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेक शरणं ब्रज**—सभी धर्मो का परित्याग करके मेरी शरण मे आओ। चाहे हम जो भी करे हमे वासुदेव का स्मरण करते रहना चाहिए। लोग सामान्यत. विभिन्न देवताओ को नमस्कार करने के आदी है, किन्तु महाराज भरत तो केवल वासुदेव को प्रसन्न करना चाहते थे। जैसा कि भगवद्गीता मे (५ २९) कहा गया है—**भोक्तारं यज्ञ-तपसां सर्व-लोकमहेश्वरम्**। यज्ञ चाहे जिस विशेष देवता को प्रसन्न करने के लिए किया जाय, किन्तु जब कोई यज्ञ उस यज्ञ पुरुष नारायण को समर्पित होता है तो सभी देवता प्रसन्न होते है। विभिन्न यज्ञो का उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना है। चाहे कोई विभिन्न देवताओ के नाम पर करे या सीधे नारायण को। यदि हम सीधे श्रीभगवान् को आहुति देते है तो सभी देवता स्वत. प्रसन्न होते है। यदि हम पौदे की जड को सीचते है तो उसकी शाखाएँ, फल, फूल स्वत. तुष्ट हो जाते है। जब कोई विभिन्न देवताओ के लिए यज्ञ करता है तो उसे स्मरण रखना चाहिए कि ये देवता परमेश्वर के शरीर के विभिन्न अग है। यदि हम किसी के हाथ की पूजा करते है तो हमारा मन्तव्य उस व्यक्ति की पूजा होती है। यदि हम किसी व्यक्ति के पैर दबाते है तो हम वास्तव मे केवल पाँवो की नही वरन् पाँव वाले व्यक्ति की सेवा करते है। जितने भी देवता है वे भगवान् के ही अश है और जब हम उनकी सेवा करते है तो वास्तव मे हम स्वय भगवान् की सेवा करते होते है। "ब्रह्मसहिता" मे देवताओ की पूजा का वर्णन है, किन्तु सभी श्लोक श्रीभगवान् गोविन्द की उपासना का समर्थन करते है। उदाहरणार्थ **ब्रह्मसंहिता** में (५ ४४) देवी दुर्गा की पूजा इस प्रकार वर्णित है—

सृष्टि-स्थिति-प्रलय-साधन शक्तिरेका
छायेव यस्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा ।
इच्छानुरूपम् अपि यस्य च चेष्टते सा
गोविन्दमादि-पुरुषं तमहं भजामि ॥

श्रीकृष्ण के आदेश से ही देवी दुर्गा सृष्टि, पालन और संहार करती है । श्रीकृष्ण ने भी इस कथन की पुष्टि भगवद्गीता मे (९.१०) इस प्रकार की है—**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**—"हे कौन्तेय ! यह प्रकृति मेरे आदेश के अनुसार कार्य करती है और समस्त चर तथा अचर प्राणियो का सृजन करती है ।"

हमे इस भावना से देवताओ की पूजा करनी चाहिए । चूंकि देवी दुर्गा श्रीकृष्ण को प्रसन्न रखती है इसलिए हमे देवी दुर्गा को नमस्कार करना चाहिए । भगवान् *शिव भी श्रीकृष्ण के अंश रूप के अतिरिक्त और कुछ नही है इसलिए हमे शिव को* नमस्कार करना चाहिए । इसी प्रकार हमे ब्रह्मा, अग्नि तथा सूर्य को नमस्कार करना चाहिए । विभिन्न देवताओ को भिन्न-भिन्न प्रकार की भेंटे की जाती है, किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे सब श्रीभगवान् को ही प्रसन्न करने के लिए हैं । भरत महाराज को देवताओ से किसी प्रकार का वर प्राप्त करने की इच्छा न थी । उनका उद्देश्य परमेश्वर को प्रसन्न करना था । महाभारत मे विष्णु के सहस्र नामों मे **यज्ञ-भुग यज्ञ-कृद् यज्ञः** भी आया है । परमेश्वर यज्ञो का भोक्ता, यज्ञो का कर्ता तथा साक्षात् यज्ञ है । परमेश्वर प्रत्येक वस्तु का कर्ता है, किन्तु अज्ञानवश जीवात्मा अपने को ही कर्ता मान बैठता है । जब तक हम अपने को कर्ता मानते है, तब तक हम कर्म-बन्धन को बुलाते है । यदि हम यज्ञ अर्थात् श्रीकृष्ण के लिए कर्म करते है तो कर्म बन्धन नही रह जाता । भगवद्गीता मे (३.९) कहा गया है—**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः** "यदि विष्णु के लिए यज्ञ नही किया जाता तो कर्म इस भौतिक जगत से बाँध लेता है ।"

भरत महाराज की शिक्षाओ का पालन करते हुए हमें चाहिए कि अपनी तुष्टि के लिए नही, अपितु श्रीभगवान् की तुष्टि के लिए कार्य करे । भगवद्गीता में (१७.२८) यह भी कहा गया है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

"परब्रह्म में श्रद्धा के बिना जो कुछ भी यज्ञ, दान, तप आदि कर्म किये जाते हैं, वे सब असत् हैं । उनका न तो इस जन्म में, न ही अगले जन्म मे कोई लाभ है ।"

महाराज अम्बरीष जैसे राजाओ तथा अन्य राजर्षियों ने अपना सारा समय

भगवद्भक्ति मे लगाया क्योकि वे शुद्ध भक्त थे। जब कोई शुद्ध भक्त किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से कोई सेवा कार्य करता है तो उसकी आलोचना नहीं करनी चाहिए क्योकि उसका यह कार्य ईश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त है। हो सकता है कि भक्त कर्मकाण्ड कराने के लिए किसी पुरोहित को रखे जो वैष्णव नही है, किन्तु चूँकि भक्त भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है इसलिए उसकी आलोचना नही होनी चाहिए। यहाँ **अपूर्व** शब्द अत्यन्त सार्थक है। **अपूर्व** का अर्थ है **कर्म-फल**। जब हम कोई पाप या पुण्य करते है तो उसका फल तुरन्त नही मिलता। अत. हम फल की प्रतीक्षा करते है जिसे **अपूर्व** कहते है। ये फल भविष्य मे प्रकट होते है। यहाँ तक कि स्मार्त भी अपूर्व को मानते है। शुद्ध भक्त श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करते है फलतः उनके कर्मफल सात्विक अथवा स्थायी होते है। वे कर्मियो के फल के समान अस्थायी नही होते। इसकी पुष्टि भगवद्गीता मे (४ २३) की गई है--

गत संगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

"जो पुरुष प्रकृति के गुणो मे आसक्त नही है और तत्व ज्ञान मे स्थित है, उसके सम्पूर्ण कर्म सत्व मे विलीन हो जाते है।"

भक्त भौतिक कलुष से मुक्त रहता है। वह सदैव ज्ञान मे स्थित है, अतः उसके सारे यज्ञ श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए होते है।

एवं कर्मविशुद्ध्या विशुद्धसत्त्वस्यान्तर्हृदयाकाशशरीरे ब्रह्मणि भगवति वासुदेवे महापुरुषरूपोपलक्षणे श्रीवत्सकौस्तुभवनमालारिदरगदादिभिरुपलक्षिते निजपुरुषहृल्लिखितेनात्मनि पुरुषरूपेण विरोचमान उच्चैस्तरां भक्तिरनुदिनमेधमानरयाजायत ॥ ७ ॥

एवम्=इस प्रकार, **कर्म-विशुद्ध्या**=श्रीभगवान् को प्रत्येक वस्तु अर्पित करते हुए अपने पुण्य कर्मो के फल की अभिलाषा न करते हुए, कर्म शुद्धि से, **विशुद्ध-सत्त्वया**=भरत महाराज का, जिनका अस्तित्व पूर्णतः शुद्ध था; **अन्तः-हृदय-आकाश-शरीरे**=योगियो द्वारा ध्यान किये जाने वाले अन्तर्यामी परमात्मा, **ब्रह्मणि**=निराकार ब्रह्म मे, जिसकी आराधना निर्गुण ज्ञानी करते है; **भगवति**=श्रीभगवान् मे, **वासुदेवे**=वासुदेव श्रीकृष्ण मे, **महा-पुरुष**=परम पुरुष का, **रूप**=स्वरूप, आकार, **उपलक्षणे**=लक्षणो वाला; **श्रीवत्स**=भगवान् के वक्षस्थल का चिह्न, श्रीवत्स, **कौस्तुभ**=कौस्तुभ मणि, **वन-माला**=पुष्पो का हार; **अरि-दर**=चक्र तथा शख, **गदा-आदिभिः**=(तथा) गदा इत्यादि अन्य लक्षणों से; **उपलक्षिते**=

पहचाना जाकर, **निज-पुरुष-हृत्-लिखितेन**=जो अपने भक्तो के हृदय मे चित्र की भाँति स्थित है, **आत्मनि**=अपने मन मे, **पुरुष-रूपेण**=अपने स्वरूप से, **विरोचमाने**=चमत्कृत, **उच्चैस्तराम्**=उच्च स्तर पर, **भक्तिः**=भक्ति, **अनुदिनम्**=प्रतिदिन; **एधमान**=बढता हुआ, **रया**=बलशाली, **अजायत**=प्रकट हुआ।

अनुवाद

इस प्रकार यज्ञो से परिष्कृत महाराज भरत का हृदय सर्वथा कल्मषहीन हो गया। दिन प्रति दिन वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति उनकी भक्ति बढ़ती रही। वसुदेव पुत्र श्रीकृष्ण आदि भगवान् है जो परमात्मा रूप में तथा निर्गुण ब्रह्म के रूप में प्रकट होते है। योगी लोग अपने हृदय मे स्थित परमात्मा का ध्यान धरते है, ज्ञानी परम सत्य निर्गुण ब्रह्म के रूप मे उपासना करते है और भक्त जन शास्त्रो मे वर्णित दिव्य देहधारी श्रीभगवान् वासुदेव की आराधना करते है। उनका शरीर श्रीवत्स, कौस्तुभ मणि तथा पुष्प हार से सुशोभित है और हाथो मे शख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये हुए है। नारद जैसे भक्त अपने अन्त:करण मे उनका ध्यान धरते है।

तात्पर्य

भगवान् वासुदेव अर्थात् श्रीकृष्ण श्रीभगवान् है। वे योगियो के हृदय मे परमात्मा रूप मे प्रकट होते है और ज्ञानी लोग निर्गण ब्रह्म के रूप मे उपासना करते है। शास्त्रों मे परमात्मा के स्वरूप का वर्णन किया गया है जिसमे वे चतुर्भुज रूप मे शख, चक्र, गदा तथा कमल धारण किये हुए रहते है। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत मे (२ २ ८) भी हुई है—

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशंखगदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

परमात्मा सभी जीवो के हृदयो मे स्थित है। उनके चार हाथ होते है जिनमे आयुध धारण किये रहते है। ऐसे सभी भक्त जो परमात्मा का ध्यान धरते है वे मन्दिर के श्रीविग्रह के रूप मे श्रीभगवान् की पूजा करते है। वे ईश्वर के निर्गुण स्वरूप तथा उनके ब्रह्म तेज से भी परिचित होते है।

एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसितकर्मनिर्वाणावसरोऽधिभुज्यमानं स्वतनयेभ्यो रिक्थं पितृपैतामहं यथादायं विभज्य स्वयं सकलसम्पन्निकेतात्स्वनिकेतात् पुलहाश्रमं प्रवव्राज॥ ८॥

एवम्=इस प्रकार सदैव कार्यरत रहकर, **वर्ष-अयुत-सहस्र**=दस हजार वर्षो के एक हजार गुने वर्ष अर्थात् एक करोड वर्ष, **पर्यन्त**=बीतने तक; **अवसित-कर्म-निर्वाण-अवसर:**=राज्य-ऐश्वर्य का अन्त समझ कर महाराज भरत, **अधिभुज्य-मानम्**=उस काल तक इस प्रकार भोगी जाकर, **स्व-तनयेभ्य:**=अपने पुत्रो को; **रिक्थम्**=सम्पत्ति; **पितृ-पैतामहम्**=अपने पिता तथा पूर्वजों से प्राप्त, **यथा-दायम्**=मनु के दाय-भाक् नियम के अनुसार (यथायोग्य); **विभज्य**=बॉट कर, **स्वयम्**=स्वयं, आप, **सकल-सम्पत्**=सभी प्रकार के ऐश्वर्यों का, **निकेतात्**=घर से, **स्व-निकेतात्**=अपने पैतृक घर से, **पुलह-आश्रमम् प्रवव्राज**=हरिद्वार मे पुलह आश्रम चला गया (जहाँ शालग्राम शिलाएँ प्राप्त होती है)।

अनुवाद

प्रारब्ध ने महाराज भरत के लिए भौतिक ऐश्वर्य-भोग की अवधि एक करोड़ वर्ष नियत कर दी थी। जब यह अवधि समाप्त हुई तो उन्होने गृहस्थ जीवन त्याग दिया और अपने पूर्वजों से प्राप्त सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बॉट दिया, उन्होने समस्त ऐश्वर्य के आगार अपने पैतृक गृह को छोड़ दिया और पुलहाश्रम के लिए चल पड़े जो हरद्वार में स्थित है। वहाँ शालग्राम शिलाएँ (बटियाँ) प्राप्त होती है।

तात्पर्य

दाय-भाक् नियम के अनुसार जब किसी को कोई सम्पत्ति मिली रहती है तो उसे अगली पीढी को हस्तान्तरित करना होता है। महाराज भरत ने इसे सुचारू रूप से सम्पन्न किया। पहले तो उन्होने स्वय पैतृक सम्पत्ति का एक करोड वर्षो तक उपभोग किया और विरक्त होते समय इस सम्पत्ति को अपने पुत्रो मे बाँट दिया और स्वय पुलह-आश्रम चले गये।

यत्र ह वाव भगवान् हरिरद्यापि तत्रत्यानां निजजनानां वात्सल्येन संनिधाप्यत इच्छारूपेण ॥ ९ ॥

यत्र=जहाँ; **ह वाव**=निश्चय ही, **भगवान्**=श्रीभगवान्, **हरि:**=ईश्वर; **अद्य-अपि**=आज भी, **तत्र-त्यानाम्**=उस स्थान मे रहते हुए, **निज-जनानाम्**=अपने भक्तो के लिए, **वात्सल्येन**=अपने दिव्य स्नेह से, **सन्निधाप्यते**=दृश्य होता है; **इच्छा-रूपेण**=भक्त की इच्छानुसार।

अनुवाद

पुलह आश्रम में श्रीभगवान् हरि अपने भक्तों के दिव्य वात्सल्य-वश दृश्य होते रहते है और उन सबकी मनोकामनाएँ पूर्ण करते है।

तात्पर्य

ईश्वर अनेक दिव्य रूपो मे विद्यमान रहता है। जैसा कि ब्रह्म संहिता में (५ ३९) कहा गया है—

> रामादिमूर्तिषुकलानियमेन तिष्ठन्
> नानावतारमकरोद् भुवनेषु किन्तु।
> कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
> गोविन्दमादि-पुरुष तमहं भजामि॥

ईश्वर साक्षात् श्रीभगवान् कृष्ण के रूप मे स्थित रहता है और उसके साथ भगवान् राम, वलदेव, सकर्षण, नारायण, महा-विष्णु, इत्यादि उनके अश भी रहते है। भक्त अपनी रुचि के अनुसार इन रूपो की पूजा करते है और ईश्वर वात्सल्य-वश अर्चा-विग्रह के रूप मे उपस्थित होता है। कभी-कभी वह भक्त के समक्ष साक्षात् उपस्थित होता है। भक्त ईश्वर की सेवा मे पूर्णतया समर्पित रहता है और ईश्वर भक्त की इच्छानुसार दर्शन देता रहता है। वह भगवान् राम, कृष्ण, नृसिहदेव इत्यादि के रूप मे उपस्थित हो सकता है। भगवान् तथा भक्त के वीच ऐसा ही पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहता है।

यत्राश्रमपदान्युभयतोनाभिभिर्दृषच्चक्रैश्चक्रनदी नाम सरित्प्रवरा सर्वतः पवित्रीकरोति ॥१०॥

यत्र=जहाँ, **आश्रम-पदानि**=सभी आश्रम, **उभयतः**=ऊपर तथा नीचे, दोनो; **नाभिभिः**=नाभि चिह्न सदृश, **दृषत्**=दृश्य, **चक्रैः**=चक्रो से, **चक्र-नदी**=चक्र नदी (जिसे गडकी कहते है), **नाम**=नामक, **सरित्-प्रवरा**=नदियो मे श्रेष्ठ, **सर्वतः**=सर्वत्र, **पवित्री-करोति**=पवित्र करती है।

अनुवाद

पुलह आश्रम मे गण्डकी नदी है जो समस्त नदियों मे श्रेष्ठ है। यहाँ इन समस्त स्थलो को पवित्र करने वाली शालग्राम शिलाएँ (संगमरमर की बटियाँ) है। इनके ऊपर तथा नीचे दोनों ओर नाभि जैसे चक्र दृष्टिगोचर होते है।

तात्पर्य

शालग्राम शिला उन प्रस्तर वटियो (गोलियो) के लिए प्रयुक्त है जिनके ऊपर-नीचे वृत्त बने रहते है। ये गडकी नदी मे मिलते है। यह नदी जहाँ-जहाँ होकर बहती है, वे स्थान तुरन्त पवित्र हो जाते है।

तस्मिन् वाव किल स एकलः पुलहाश्रमोपवने विविधकुसुम-किसलयतुलसिकाम्बुभिः कन्दमूलफलोपहारैश्च समीहमानो भगवत आराधनं विविक्त उपरतविषयाभिलाष उपभृतोपशमः परां निर्वृतिमवाप ॥११॥

तस्मिन्=उस आश्रम मे, **वाव किल**=निस्सन्देह; **सः**=भरत महाराज, **एकलः**=अकेले, एकान्त; **पुलह-आश्रम-उपवने**=पुलह आश्रम के उद्यानो मे, **विविध-कुसुम-किसलय-तुलसिका-अम्बुभिः**=अनेक पुष्प, किसलय तथा तुलसीदल के साथ-साथ जल से, **कन्द-मूल-फल-उपहारैः**=मूल, कन्द तथा फलो की भेट से, **च**=तथा; **समीहमानः**=करते हुए, **भगवत.**=श्रीभगवान् की, **आराधनम्**=आराधना, अर्चना, **विविक्तः**=विशुद्ध, **उपरत**=मुक्त होकर, **विषय-अभिलाष.**=भौतिक इन्द्रिय सुख की कामना, **उपभृत**=वढी हुई, **उपशम**=शान्ति, **पराम्**=दिव्य, **निर्वृतिम्**=सन्तोष, प्रसन्नता, **अवाप**=प्राप्त किया।

अनुवाद

पुलह आश्रम के उपवन में महाराज भरत अकेले रहकर अनेक प्रकार के फूल, किसलय तथा तुलसीदल एकत्र करने लगे। वे गंडकी नदी का जल तथा विभिन्न प्रकार के मूल, फल तथा कन्द भी एकत्र करते। वे इन सबसे श्रीभगवान् वासुदेव को भोजन अर्पित करते और उनकी आराधना करते हुए सन्तुष्ट रहने लगे। इस प्रकार उनका हृदय अत्यन्त निष्कलुष हो गया और भौतिक सुख के लिए लेशमात्र भी इच्छा न रही। उनकी समस्त भौतिक कामनाएँ दूर हो गई। इस स्थिर दशा में उन्हे परम सन्तोष हुआ और वे भक्ति को प्राप्त हुए।

तात्पर्य

प्रत्येक प्राणी को मन शान्ति चाहिए। यह तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति की आकाक्षा से पूर्णतया मुक्त रहे और ईश्वर की सेवा मे निरत रहे। जैसा कि भगवद्गीता मे (९.२६) कहा गया है—**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति**। ईश्वर की आराधना तनिक भी खर्चीली नही है। मनुष्य चाहे तो उन्हे एक पत्र, एक पुष्प, कुछ फल तथा कुछ जल भेट चढा सकता है। यदि

श्रद्धा तथा प्रेम से ये वस्तुएँ अर्पित की जाती है तो ईश्वर इन्हे स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार मनुष्य भौतिक कामनाओ से मुक्त हो सकता है। जब तक भौतिक कामनाएँ बनी रहेगी तब तक वह सुखी नही रह सकता। ज्योही मनुष्य ईश्वर की भक्ति मे लग जाता है उसका मन समस्त भौतिक कामनाओ से पवित्र हो जाता है। तब वह परम सन्तुष्ट हो जाता है। श्रीमद्भागवत मे (१.२ ६-७) कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता यथाऽऽत्मा स प्रसीदति ॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्यासु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥

"समस्त मानवता का परम धर्म वह है जिससे मनुष्य दिव्य ईश्वर की प्रेमाभक्ति प्राप्त कर सकते है। आत्मतुष्टि के लिए आवश्यक है कि ऐसी भक्ति अहैतुकी और अविरत हो। श्रीभगवान् कृष्ण की भक्ति द्वारा मनुष्य तुरन्त ही अहैतुक ज्ञान तथा ससार से विरक्ति को प्राप्त होता है।"

ये उपदेश सर्वोच्च वैदिक साहित्य श्रीमद्भागवत मे दिये गये है। भले ही कोई पुलह आश्रम न जा सके, किन्तु जो विधि बताई गई है उससे किसी भी स्थान मे रहते हुए भक्ति की जा सकती है।

तयेत्थमविरतपुरुषपरिचर्यया भगवति प्रवर्धमानानुरागभरद्रुतहृदयशैथिल्यः प्रहर्षवेगेनात्मन्युद्भिद्यमानरोमपुलककुलक औत्कण्ठ्यप्रवृत्तप्रणयबाष्पनिरुद्धा-चलोकनयन एवं निजरमणारुणचरणारविन्दानुध्यानपरिचितभक्तियोगेन परिप्लुतपरमाह्लादगम्भीरहृदयह्रदावगाढधिषणस्तामपि क्रियमाणां भगवत्स-पर्यां न सस्मार ॥१२॥

तया=उसके द्वारा, **इत्थम्**=इस प्रकार, **अविरत**=निरन्तर, **पुरुष**=परमेश्वर का, **परिचर्यया**=सेवा द्वारा, **भगवति**=श्रीभगवान् मे; **प्रवर्धमान**=निरन्तर बढती हुई, **अनुराग**=आसक्ति का, **भर**=भार से, **द्रुत**=द्रवित, **हृदय**=हृदय, **शैथिल्य**=शिथिलता, **प्रहर्ष-वेगेन**=दिव्य हर्ष के वेग से, **आत्मनि**=अपने शरीर मे; **उद्भिद्यमान-रोम-पुलक-कुलक:**=रोमाच, रोमो का खडा होना, **औत्कण्ठ्य**=उत्कठा के कारण, **प्रवृत्त**=उत्पन्न, **प्रणय-बाष्प-निरुद्ध-अवलोक-नयन.**=प्रेमाश्रु प्रकट होने से दृष्टि मे अवरोध, **एवम्**=इस प्रकार, **निज-रमण-अरुण-चरण-**

अरविन्द=ईश्वर के लाल लाल चरण कमलो पर, **अनुध्यान**=ध्यान करने से; **परिचित**=वढा हुआ, **भक्ति-योगेन**=भक्ति के कारण, **परिप्लुत**=सर्वत्र फैलकर, **परम**=सर्वोच्च, **आह्लाद**=आनन्द का, **गम्भीर**=अत्यन्त गहरा, **हृदय-ह्रद**= हृदय रूपी सरोवर, **अवगाढ**=डूवा हुआ, **धिषणः**=जिसकी वुद्धि, **ताम्**=वह; **अपि**=यद्यपि, **क्रियमाणाम्**=करते हुए, **भगवत्**=श्रीभगवान् का, **सपर्याम्**= आराधना, **न**=नही, **सस्मार**=स्मरण रहा।

अनुवाद

इस प्रकार गौरवशाली भक्त महाराज भरत ईश्वर की भक्ति में निरन्तर लगे रहे। स्वाभाविक है कि वासुदेव श्रीकृष्ण के प्रति उनका प्रेम बढ़ता गया और अन्ततः उनका हृदय द्रवित हो उठा। फलत धीरे-धीरे समस्त कार्यो के प्रति उनकी आसक्ति जाती रही। उन्हे रोमांच होने लगा और आह्लाद के सभी शारीरिक लक्षण (भाव) प्रकट होने लगे। उनके नेत्रो से अश्रुओ की अविरल धारा बहने लगी जिससे वह कुछ भी देखने मे असमर्थ हो गये। इस प्रकार वे निरन्तर ईश्वर के अरुण चरणारविन्द पर ध्यान लगाये रहते। उस समय उनका सरोवर के सदृश हृदय आनन्द-जल से पूरित हो गया। जब उनका मन इस सरोवर में निमग्न हो गया तो वे नियमपूर्वक सम्पन्न की जाने वाली भगवद् पूजा भी भूल गये।

तात्पर्य

जव कोई श्रीकृष्ण के प्रेम मे विभोर हो उठता है तो शरीर मे आठ दिव्य, आनन्दमय लक्षण (भाव) प्रकट होते है। ये सिद्धि के लक्षण है। चूँकि महाराज भरत निरन्तर भक्ति मे लीन रहते थे इसलिए ये हर्षातिरेक के लक्षण उनमे प्रकट हुए।

इत्थं धृतभगवद्व्रत ऐणेयाजिनवाससानुसवनाभिषेकार्द्रकपिशकुटिलजटाकलापेन च विरोचमानः सूर्यर्चा भगवन्तं हिरण्मयं पुरुषमुज्जिहाने सूर्यमण्डलेऽभ्युपतिष्ठन्नेतदु होवाच—॥१३॥

इत्थम्=इस प्रकार, **धृत-भगवत-व्रतः**=श्रीभगवान् को सेवा का व्रत स्वीकार करके, **ऐणेय-अजिन-वासस**=मृगचर्म वस्त्र धारण किये, **अनुसवन**=प्रति दिन तीन वार, **अभिषेक**=स्नान द्वारा, **आर्द्र**=गीला, **कपिश**=भूरा, **कुटिल-जटा**= घुँघराली केशो की जटा, **कलापेन**=समूह से, **च**=तथा, **विरोचमानः**=अत्यन्त सुन्दर ढग से सजाई गई, **सूर्यर्चा**=सूर्य सम्वन्धी ऋचाओ द्वारा, **भगवन्तम्**= श्रीभगवान् मे, **हिरण्मयम्**=स्वर्णकान्ति वाले भगवान्, **पुरुषम्**=श्रीभगवान्;

उज्जिहाने=उदय होते हुए; **सूर्य-मण्डले**=सूर्यमडल मे; **अभ्युपतिष्ठन्**=पूजा करते हुए; **एतत्**=यह; **उ ह**=निश्चय ही; **उवाच**=कहा।

अनुवाद

महाराज भरत अत्यन्त सुन्दर लग रहे थे। उनके शीश पर घुँघराले बालों की राशि थी जो दिन में तीन बार स्नान करने से गीली थी। वे मृगचर्म धारण करते और स्वर्णिम तेजोमय शरीर तथा सूर्य के भीतर वास करने वाले श्रीनारायण की पूजा करते। वे ऋग्वेद की ऋचाओं का जप करते हुए भगवान् नारायण की उपासना करते और सूर्योदय होते ही निम्नलिखित श्लोक का पाठ करते।

तात्पर्य

सूर्य मे प्रमुख श्रीविग्रह हिरण्मय, भगवान् नारायण है। उनकी आराधना गायत्री मन्त्र से की जाती है जो इस प्रकार है—ॐ **भूर्भुवः स्वः तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि**। उनकी अर्चना ऋग्वेद मे की गई अन्य ऋचाओ से भी की जाती है, यथा—**ध्येयः सदा सवितृ-मंडल-मध्य-वर्ती**। सूर्य के भीतर भगवान् नारायण का वास है और उनका रग सुनहला है।

परोरजः सवितुर्जातवेदो
देवस्य भर्गो मनसेदं जजान।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंसं गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः ॥१४॥

परः रजः=रजोगुण से परे (सतोगुण मे स्थित); **सवितुः**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोकित करने वाले का, **जात-वेदः**=जिससे भक्तो की कामनाएँ पूरी होती हैं, **देवस्य**=भगवान् का, **भर्गः**=आत्म-तेज, **मनसा**=मात्र चिन्तन से; **इदम्**=यह; **जजान**=उत्पन्न किया, **सु-रेतसा**=सत्व-शक्ति से; **अदः**=यह सृष्टि, **पुनः**=फिर; **आविश्य**=प्रवेश करके, **चष्टे**=देखता या पालन करता है, **हंसम्**=जीव, **गृध्राणम्**=भौतिक सुख की कामना करते हुए, **नृषत्**=बुद्धि के लिए, **रिङ्गिराम्**=गति प्रदान करने वाले, **इमः**=नमस्कार है।

अनुवाद

"श्रीभगवान् शुद्ध सत्व में स्थित है। वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आलोकित करते हैं और अपने भक्तो को सभी वर देते हैं। ईश्वर ने अपने सात्विक तेज से इस

ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है। वे अपनी ही इच्छा से इस ब्रह्माण्ड में परमात्मा के रूप में प्रविष्ट हुए और अपनी विभिन्न शक्तियों से भौतिक सुख की इच्छा रखने वाले समस्त जीवों का पालन करते है। ऐसे बुद्धिदायक श्रीभगवान् को मै नमस्कार करता हूँ।"

तात्पर्य

सूर्य का प्रधान अधिष्ठातृ देवता नारायण का ही अन्य अश है, जो समस्त ब्रह्माण्ड को अलोकित करता है। ईश्वर समस्त जीवात्माओ के हृदय मे परमात्मा के रूप मे प्रवेश करता है और उन्हे बुद्धि प्रदान करता तथा उनकी कामनाओ को पूरा करता है। भगवद्गीता से (१५ १५) भी इसकी पुष्टि होती है—**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**—मै सबके हृदय मे आसीन रहता हूँ।

ईश्वर परमात्मा के रूप मे सब प्राणियो के हृदय मे प्रवेश करते है। जैसा कि **ब्रह्म संहिता** मे (५ ३५) कथित है—**अण्डान्तर-स्थ-परमाणु-चयान्तर-स्थम्**—"वह ब्रह्माण्ड तथा अणु मे समान भाव से प्रवेश करता है।" ऋग्वेद मे सूर्य के प्रमुख अधिष्ठातृ देवता की अर्चना इस मन्त्र से की गई है—**ध्येयः सदा सवितृ-मंडल-मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्टः**। नारायण सूर्य के भीतर कमल पुष्प पर आसीन है। इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए सूर्योदय के समय प्रत्येक जीव को नारायण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। आधुनिक वैज्ञानिको के अनुसार यह ससार सूर्य के तेज पर निर्भर है। सूर्य प्रकाश से ही सभी ग्रह घूमते है और वनस्पतियाँ उगती है। हमे यह भी ज्ञात है कि चन्द्रमा की चाँदनी से वनस्पतियाँ तथा जडी-बूटियाँ उगती है। वास्तव मे नारायण सूर्य के भीतर स्थित होकर सारे ब्रह्माण्ड का पालन करते है अत नारायण की उपासना गायत्री मन्त्र द्वारा अथवा ऋग् मन्त्र से करनी चाहिए।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्या संहितायां भक्तिवेदान्त भाष्ये पञ्चम स्कन्धे भरत चरिते भगवत्परिचर्यायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत पचम स्कन्ध के अन्तर्गत, "राजा भरत का चरित्र" शीर्षक नामक सातवे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय आठ

भरत महाराज के चरित्र का वर्णन

यद्यपि भरत महाराज परम सिद्ध थे, किन्तु एक तरुण मृगशावक के प्रति आसक्त होने से उनका पतन हुआ। एक दिन सदा की भाँति गण्डकी नदी मे स्नान करके, भरत महाराज मन्त्र का जाप कर रहे थे तो उन्होने देखा कि एक गर्भिणी मृगी नदी में पानी पीने आई। सहसा सिंह की दहाड सुनाई पडी और मृगी इतनी भयभीत हो गई कि उसने एक शिशु को जन्म दे दिया। किसी तरह मृगी ने नदी पार कर लिया, किन्तु उसकी तुरन्त मृत्यु हो गई। महाराज भरत को मृग शावक पर तरस आई, उन्होने उसे जल से निकाला और अपने आश्रम मे लाकर अत्यन्त प्यार से पाला। धीरे-धीरे वे इस तरुण मृग पर इतने आसक्त हो गये कि सदैव उसी के सम्बन्ध में सोचते रहते। जैसे-जैसे वह बढ़ता गया वह महाराज का सगी बनता गया और वे सदैव उसी का ध्यान रखते। अन्ततः वे इसके ध्यान मे इतने खो गये कि उनका मन विह्वल हो उठा। ज्यो-ज्यो मृग के प्रति उनकी आसक्ति बढ़ती गई उनकी भक्ति शिथिल पडती गई। यद्यपि उन्होने अपने ऐश्वर्यमय साम्राज्य का परित्याग कर दिया था, किन्तु वह इस मृग से बँध गये। इस प्रकार योगाभ्यास से उनका पतन हो गया। एक बार मृग के न रहने पर वे इतने विचलित हुए कि उसकी खोज मे चल पड़े। खोजते समय विलाप करते रहने से वे गिर पड़े और मर गये। चूँकि उनका मन मृग के सोच-विचार मे मग्न रहता था इसलिए अगले जन्म मे वे मृगी की कोख से उत्पन्न हुए। लेकिन सिद्ध होने के कारण मृग का शरीर प्राप्त होने पर भी वे अपने पूर्व कर्मो को विस्मृत नही कर पाये, उन्हे ज्ञान था कि वे उच्च पद से किस प्रकार नीचे गिरे थे, अत. अपनी मृगी-माँ को छोडकर वे पुनः पुलह-आश्रम चले आये। उन्होने अपने सकाम कर्मो का अन्त मृग रूप मे किया और जब उनकी मृत्यु हुई तो मृग-शरीर से मुक्त हो गये।

श्रीशुक उवाच

एकदा तु महानद्यां कृताभिषेकनैयमिकावश्यको ब्रह्माक्षरमभिगृणानो मुहूर्तत्रयमुदकान्त उपविवेश ॥ १ ॥

श्री-शुकः उवाच =श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा, **एकदा** =एक बार; **महा-नद्याम्** =गण्डकी नामक महानदी मे, **कृत-अभिषेक-नैयमिक-आवश्यकः** =नित्य नैमित्तिक तथा शौचादि कार्यो से निवृत्त होकर, स्नान करके, **ब्रह्म-अक्षरः** =प्रणव मन्त्र (ॐ); **अभिगृणानः** =जप करते हुए; **मूहर्त-त्रयम्** =तीन मिनट तक; **उदक-अन्ते** =नदी के तट पर, **उपविवेश** =बैठ गये ।

अनुवाद

श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे राजन ! एक दिन प्रातःकालीन नित्यनैमित्तिक शौचादि कृत्यों से निवृत्त होकर महाराज भरत कुछ क्षणो के लिए गण्डकी नदी के तट पर बैठ कर ऊँकार मन्त्र का जप करने लगे ।

तत्र तदा राजन् हरिणी पिपासया जलाशयाभ्याशमेकैवोपजगाम ॥ २ ॥

तत्र =नदी के तट पर; **तदा** =उस समय, **राजन्** =हे राजा !; **हरिणी** =मृगी; **पिपासया**=प्यास के कारण; **जलाशय-अभ्याशम्** =नदी के निकट; **एक** =एक; **एव** =निश्चय ही, **उपजगाम** =आई ।

अनुवाद

हे राजन ! जब महाराज भरत उस नदी के तट पर बैठे हुए थे उसी समय एक प्यासी हिरनी पानी पीने आई ।

तया पेपीयमान उदके तावदेवाविदूरेण नदतो मृगपतेरुन्नादो लोकभयङ्कर उदपतत् ॥ ३ ॥

तया =उस मृगी द्वारा, **पेपीयमाने** =अत्यन्त तृप्ति के साथ पिया गया; **उदके** =जल; **तावत् एव** =ठीक उसी समय, **अविदूरेण** =अत्यन्त निकट; **नदतः**= गरजता हुआ; **मृग-पतेः** =सिंह की, **उन्नादः** =दहाड़; **लोक भयम्-कर** =समस्त जीवो के लिए अत्यन्त डराने वाली; **उदपतत्** =उठी ।

अनुवाद

जव वह हिरनी अत्यन्त तृप्ति के साथ जल पी रही थी तो पास ही एक सिंह ने घोर गर्जना की । यह समस्त जीवों के लिए डरावनी थी । इसे उस मृगी ने भी सुना ।

तमुपश्रुत्य सा मृगवधूः प्रकृति विक्लवा चकितनिरीक्षणा सुतरामपिहरि-भयाभिनिवेशव्यग्रहृदया पारिप्लवदृष्टिरगततृषा भयात् सहसैवोच्चक्राम ॥ ४ ॥

तम् उपश्रुत्य=उस दहाड को सुनकर, **सा**=वह; **मृगवधूः**=मृगी; **प्रकृति-विक्लवा**=स्वभाव से अन्यो द्वारा मारे जाने से भयभीत; **चकित-निरीक्षणा**=चकित नेत्रो वाली; **सुतराम् अपि**=तुरन्त ही, **हरि**=सिंह के; **भय**=डर; **अभिनिवेश**=आने से; **व्यग्र-हृदया**=विक्षुब्ध-चित्त वाली; **पारिप्लव-दृष्टि**=चौकन्ने नेत्रो वाली; **अगत-तृषा**=अपनी प्यास बुझाये बिना; **भयात्**=डर से; **सहसा**=अचानक, **एव**=ही, **उच्चक्राम**=नदी पार करने लगी।

अनुवाद

मृगी स्वभाव से अन्यों द्वारा बध किये जाने से डर रही थी और शंकित दृष्टि से देख रही थी। जब उसने सिंह की दहाड़ सुनी तो वह अत्यन्त क्षुब्ध हो उठी। चौकन्नी दृष्टि से इधर-उधर देख कर वह मृगी अभी जल पीकर पूर्णतया तृप्त भी नहीं हुई थी कि सहसा उसने नदी में छलाँग लगाई।

तस्या उत्पतन्त्या अन्तर्वत्न्या उरुभयावगलितो योनिनिर्गतो गर्भः स्रोतसि निपपात ॥ ५ ॥

तस्याः=उसके, **उत्पतन्त्या**=बलपूर्वक कूदने से; **अन्तर्वत्न्या**=गर्भ होने से; **उरु-भय**=अत्यन्त डर के कारण; **अवगलितः**=छिटक कर; **योनि-निर्गतः**=गर्भ से बाहर आकर; **गर्भः**=गर्भस्थ शिशु, **स्रोतसि**=बहते जल मे, **निपपात**=गिर गया।

अनुवाद

मृगी गर्भिणी थी, अतः जब डर के मारे वह कूदी तो उसके गर्भ से निकल कर शिशु नदी के बहते जल में गिर गया।

तात्पर्य

यदि स्त्री डर जाती है या अत्यन्त भावुक हो जाती है तो गर्भपात की आशंका रहती है। अतः गर्भिणी स्त्रियो को ऐसे बाह्य प्रभावो से दूर रखना चाहिए।

तत्प्रसवोत्सर्पणभयखेदातुरा स्वगणेन वियुज्यमाना कस्याञ्चिद्दर्यां कृष्णसारसती निपपाताथ च ममार ॥ ६ ॥

तत्-प्रसव.=उसके (मृग शावक) असामयिक गिर जाने से; **उत्सर्पण**=नदी मे छलाग लगाने से, **भय**=(तथा) भय से, **खेद**=निर्बलता से; **आतुरा**=पीडित, **स्व-गणेन**=मृग-झुड से, **वियुज्यमाना**=विलग हुई, **कस्याञ्चित**=किसी, **दर्याम्**=पर्वत की गुफा मे, **कृष्ण-सारसती**=कृष्ण मृग-पत्नी (मृगी), **निपपात**=गिर गई, **अथ**=अत, **च**=तथा, **ममार**=मर गई ।

अनुवाद

अपने झुड से विलग होने तथा गर्भपात से पीड़ित वह कृष्णा-मृगी नदी को पार करके अत्यन्त भयभीत हुई । अतः गुफा मे गिर कर तुरन्त मर गई ।

तं त्वेणकुणकं कृपणं स्रोतसानूह्यमानमभिवीक्ष्यापविद्धं बन्धुरिवानुकम्पया राजर्षिर्भरत आदाय मृतमातरमित्याश्रमपदमनयत् ॥ ७ ॥

तम्=उस; **तु**=लेकिन, **एण-कुणकम्**=मृग शावक (हरिणी का बच्चा), **कृपणम्**=बेचारा, **स्रोतसा**=लहरो के द्वारा, **अनूह्यमानम्**=तैरता हुआ, **अभिवीक्ष्य**=देख कर, **अपविद्धम्**=आत्म-जन से विलग (वियुक्त), **बन्धुः इव**=मित्र की भाँति, **अनुकम्पया**=दयावश, **राज-ऋषि-भरतः**=परम सन्त तुल्य राजा भरत, **आदाय**=लाकर, **मृत-मातरम्**=मातृविहीन, **इति**=ऐसा सोचते हुए, **आश्रम-पदम्**=आश्रम मे, **अनयत्**=ले आया ।

अनुवाद

नदी के तीर पर बैठे हुए महान राजा भरत ने अपनी माँ से बिछुड़े बच्चे को नदी मे तैरते देखा । यह देख कर उन्हे बड़ी दया आई । उन्होंने विश्वासपात्र मित्र की भाँति उस बच्चे को लहरो से निकाल लिया और मातृहीन समझ कर वे उसे अपने आश्रम मे ले आये ।

तात्पर्य

प्रकृति के नियम जिस प्रकार लागू होते है उसका हमे ज्ञान नही है । महाराज भरत उन्नत भक्त और महान राजा थे । वे परमेश्वर की प्रेमाभक्ति को प्राप्त करने ही वाले थे, किन्तु उस पद से नीचे गिर गये । इसीलिए भगवद्गीता मे (२.१५) यह चेतावनी दी गई है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदु खसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

"हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! जो सुख-दु.ख को समान समझ कर इन दोनो से व्याकुल नही होता, वह धीर पुरुप निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है ।"

भौतिक वन्धन से मोक्ष तथा मुक्ति के प्रति अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए क्योकि थोडी सी त्रुटि रह जाने से पुन. इस ससार मे गिर पडता है। महाराज भरत के चरित्र का अध्ययन करके हम सभी प्रकार की भौतिक आसक्ति से मुक्त होने की कला सीख सकते है। जैसा कि बाद के श्लोको से पता चलेगा, भरत महाराज को मृग का शरीर धारण करना पडा क्योकि मृग शावक पर उनका ममत्व हो गया था। हमे चाहिए कि हम मनुष्य को भौतिक स्थिति से सात्विक स्थिति तक उठाने मे सहायक बने क्योकि पता नही कब हमारी यह सिद्धि नष्ट हो जाय और हमे नीचे गिरना पडे। महाराज भरत का ममत्व उनके पतन की शुरुआत थी।

तस्य ह वा एणकुणक उच्चैरेतस्मिन् कृतनिजाभिमानस्याहरहस्तत्पोषणपालन-लालनप्रीणनानुध्यानेनात्मनियमाः सहयमाः पुरुषपरिचर्यादय एकैकशः कतिपयेनाहर्गणेन वियुज्यमानाः किल सर्व एवोदवसन् ॥ ८ ॥

तस्य=राजा का; **ह वा**=निस्सदेह, **एण-कुणके**=मृग शावक मे, **उच्चैः**=अत्यधिक; **एतस्मिन्**=इसमें, **कृत-निज-अभिमानस्य**=जिसने मृगछौने को पुत्रवत् स्वीकार किया, **अहः-अहः**=प्रतिदिन, **तत्-पोषण**=उस छौने को पाल कर बडा करना, **पालन**=सकटो से रक्षा, **लालन**=लाड-प्यार, **प्रीणन**=पुचकारना; **अनुध्यानेन**=ऐसी आसक्ति से, **आत्म-नियमाः**=अपने शरीर की रक्षा हेतु किये गये कृत्य, **सह-यमाः**=यम अर्थात् अहिंसा, सहनशीलता तथा सरलता से युक्त; **पुरुष-परिचर्या-आदयः**=श्रीभगवान् की आराधना तथा अन्य कृत्य, **एक-एकशः**=एक-एक करके, **कतिपयेन**=कुछ ही, **अहः-गणेन**=दिनो मे, **वियुज्यमाना**=त्यागे जाकर, **किल**=निस्सन्देह, **सर्वे**=समस्त, **एव**=ही, **उदवसन्**=नष्ट हो गये।

अनुवाद

धीरे-धीरे महाराज भरत उस मृग के प्रति अत्यन्त वत्सल होते गये। वे उसको पालने के लिए घास खिलाते। वे बाघ तथा अन्य हिंस्र पशुओं के आक्रमण से उसकी सुरक्षा के प्रति सदैव सतर्क रहते थे। जब उसे खुजली होती तो वे सहलाते और उसे सुपास देने का प्रयत्न करते। कभी-कभी प्रेमवश उसे चूमते भी थे। इस प्रकार मृग के पालन में आसक्त हो जाने से महाराज भरत आध्यात्मिक जीवन के यम-नियम भूलते गये, यहाँ तक कि धीरे-धीरे श्रीभगवान् की आराधना भी भूल गये। कुछ दिनों के बाद वे अपनी सात्विक उन्नति के विषय में सब कुछ भूल गये।

तात्पर्य

इससे हम यह समझ सकने है कि हमे अपने कर्तव्यो के प्रति कितना सतर्क रहना चाहिए और यम-नियमो का पालन करते हुए नियमित रूप से हरे कृष्ण महामन्त्र का जप करते रहना चाहिए। यदि हम इसे करने मे लापरवाही वरतते है तो अन्त मे हमे नीचे जाना पड़ेगा। हमे चाहिए कि प्रातः उठ कर स्नान करे और मगल आरती मे सम्मिलित हो, अर्चा-विग्रहो की आराधना करे, "हरे कृष्ण मन्त्र" का जप करें, वैदिक साहित्य का अध्ययन और आचार्यो तथा गुरुओ के द्वारा वताये गये यम-नियमो का पालन करे। यदि हम ऐसा नही करते तो चाहे हम जितने उच्च पद पर क्यो न आसीन हो, नीचे गिरेंगे। भगवद्गीता मे (१८ ५) कहा गया है—

यज्ञदानतप.कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

"यज्ञ, तप और दान रूप कर्म का त्याग नही करना चाहिए। वरन् इन्हे अवश्य करना चाहिए। निस्सन्देह यज्ञ, दान और तप महात्माओ को भी शुद्ध करने वाले है।" यहाँ तक कि सन्यासी को भी इन विधि-विधानो का परित्याग नही करना चाहिए। उसे श्रीविग्रह की आराधना करनी चाहिए और श्रीकृष्ण की सेवा मे समय तथा जीवन लगाना चाहिए। उसे तप भी करते रहना चाहिए। इन सबका त्याग नही होना चाहिए। मनुष्य को यह समझकर कि उसने सन्यास धारण कर लिया है अपने को सिद्ध नही मान लेना चाहिए। अपनी आत्म उन्नति के लिए भरत महाराज के कार्य कलापो का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

अहो बतायं हरिणकुणकः कृपण ईश्वररथचरणपरिभ्रमणरयेण स्वगणसुहृद्-बन्धुभ्यः परिवर्जितः शरणं च मोपसादितो मामेव मातापितरौ भ्रातृज्ञातीन् यौथिकांश्चैवोपेयाय नान्यं कञ्चन वेद मय्यतिविस्रब्धश्चात एव मया मत्परायणस्य पोषणपालनप्रीणनलालनमनसूयुनानुष्ठेयं शरण्योपेक्षादोषविदुषा॥ ९॥

अहो बत=ओह!, **अयम्**=यह, **हरिण-कुणकः**=मृग छौना; **कृपणः**=असहाय; **ईश्वर-रथ-चरण-परिभ्रमण-रयेण**=श्रीभगवान् के काल-चक्र के वेग से; **स्व-गण**=अपने झुड, **सुहृत्**=तथा मित्रो; **बन्धुभ्यः**=स्वजनो; **परिवर्जितः**=वियुक्त, **शरणम्**=शरण, **च**=तथा, **मा**=मेरी, **उपसादित.**=प्राप्त करके; **माम्**=मुझको, **एव**=ही, **माता-पितरौ**=माता-पिता; **भ्रातृ-ज्ञातीन्**=बन्धुओ तथा सम्बन्धियो; **यौथिकान्**=झुड से सम्बद्ध, **च**=भी, **एव**=निश्चय ही, **उपेयाय**=भूलकर, विछुड कर; **न**=नही; **अन्यम्**=अन्य कोई; **कञ्चन**=कोई व्यक्ति, **वेद**=यह

जानता है; **मयि**=मुझमे; **अति**=अत्यधिक; **विश्रब्धः**=श्रद्धा रखने वाला, **च**= तथा; **अतः एव**=इसलिए, **मया**=मेरे द्वारा, **मत्-परायणस्य**=इस प्रकार अपने आश्रित का, **पोषण-पालन-प्रीणन-लालनम्**=पोषण, पालन, सतुष्ट करना तथा दुलराना, **अनसूयुना**=अनुसूया (द्वेष) रहित मै; **अनुष्ठेयम्**=किया जाने वाला; **शरण्य**=शरणागत; **उपेक्षा**=उपेक्षा; **दोष-विदुषा**=जो दोष जानता है।

अनुवाद

महान राजा भरत सोचने लगे—अहो ! बेचारा यह मृगछौना काल चक्र के वेग से अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से विलग हो गया है और मेरी शरण में आया है। यह अन्य किसी को न जानकर केवल मुझे अपना पिता, माता, भाई तथा स्वजन मानने लगा है। मेरे ही ऊपर इसकी निष्ठा है। यह मेरे अतिरिक्त और किसी को नही जानता, अतः मुझे यह नही सोचना चाहिए कि इस मृग के पीछे मेरा अकल्याण होगा। मेरा कर्तव्य है कि मै इसका लालन, पालन, रक्षण करूँ तथा इसे दुलारूँ-पुचकारूँ। जब इसने मेरी शरण ग्रहण कर ली है तो भला इसे मै कैसे दुत्कारूँ ? यद्यपि इस मृग से मेरे आध्यात्मिक जीवन में व्यतिक्रम हो रहा है, किन्तु मै अनुभव करता हूँ कि इस प्रकार से कोई असहाय व्यक्ति यदि शरणागत हो तो उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। तब तो यह बड़ा भारी दोष होगा।

तात्पर्य

जव कोई व्यक्ति श्रीकृष्णभावना मे अत्यधिक उठ जाता है तो ससार के समस्त दुखी प्राणियो के प्रति वह सहज ही दयालु हो उठता है। वह सामान्य रूप से मनुष्यों के कष्टो को ही ध्यान मे रखता है, किन्तु यदि कोई पतित जीवो के कष्टो को नहीं जानता और शारीरिक सुख देने के उद्देश्य से दयालु हो उठता है जैसा कि भरत महाराज ने किया तो ऐसी दया या ममता उसके स्वयं के पतन का कारण बनती है। यदि वास्तव मे पतित तथा दुखी मानवता के प्रति दया भाव है तो मनुष्य को चाहिए कि उनमें आध्यात्मिक चेतना (भावना) उत्पन्न करे। जहाँ तक मृग की वात है, भरत महाराज अत्यन्त दयालु हो गये, किन्तु वे यह भूल गये कि इस मृग को आध्यात्मिक भावना तक ऊपर उठा पाना दुष्कर है क्योंकि आखिर मृग पशु ही ठहरा। मात्र पशु की रखवाली के लिए अपने विधि-विधानो का परित्याग महाराज भरत के लिए घातक सिद्ध हुआ। स्मरण रहे कि भगवद्गीता मे प्रतिपाद्य नियमों का पालन होना ही चाहिए—**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ**। जहाँ तक इस देह का प्रश्न है कोई किसी के लिए कुछ नही कर सकता। किन्तु श्रीकृष्ण के अनुग्रह से हम स्वयं विधि-विधानो का पालन करते रहे तो किसी भी व्यक्ति को आध्यात्मिक भावना प्रदान कर सकते है। किन्तु यदि हम अपनी आध्यात्मिक वृत्तियो को त्याग

कर दूसरे के शारीरिक सुखो के प्रति चिन्तित रहे तो हम स्वय दुर्गति को प्राप्त होगे।

नूनं ह्यार्याः साधव उपशमशीलाः कृपणसुहृद एवंविधार्थे स्वार्थानपि गुरुतरानुपेक्षन्ते ॥ १० ॥

नूनम्=निस्सदेह, **हि**=निश्चय ही, **आर्याः**=परम सभ्य; **साधवः**=साधुजन; **उपशम-शीलाः**=सन्यास लेने पर भी; **कृपण-सुहृदः**=असहायो के मित्र, **एवम्-विध-अर्थे**=ऐसे नियमो का पालन करने के लिए; **स्व-अर्थान्-अपि**=अपने स्वार्थो तक का, **गुरु-तरान्**=अत्यन्त महत्वपूर्ण, **उपेक्षन्ते**=उपेक्षा करते है।

अनुवाद

भले ही कोई संन्यास ले चुका हो, किन्तु जो महान है वह निश्चित रूप से दुखी जीवात्माओं के प्रति ममता का अनुभव करता है। मनुष्य को चाहिए कि शरणागत की रक्षा के हेतु अपने बड़े से बड़े स्वार्थ की परवाह न करे।

तात्पर्य

माया अत्यन्त प्रबल है। परोपकार, साम्यवाद तथा परमार्थ के वशीभूत होकर विश्व भर मे लोग दुखी मानवता के प्रति दया का अनुभव करते है। परोपकारी यह नही सोच पाते कि मनुष्यो की भौतिक स्थितियो को सुधार पाना असम्भव है। भौतिक स्थितियाँ तो कर्माधीन है और वह परमात्मा द्वारा नियन्त्रित है। उसे बदला नही जा सकता। दुखी प्राणियो को हम इतना ही लाभ पहुँचा सकते है कि उनमें आध्यात्मिक चेतना जागरित कर दे। भौतिक सुपास बढाये घटाये नही जा सकते। इसीलिए श्रीमद्भागवत मे (१.५.१८) कहा गया है—**तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखम्**—"जहाँ तक भौतिक सुख का प्रश्न है, वह बिना प्रयास प्राप्त होता है जिस प्रकार कि दुख बिना प्रयास के आते है।" भौतिक सुख तथा कष्ट बिना प्रयास के ही प्राप्त होते है। मनुष्य को चाहिए कि भौतिक कर्म की परवाह न करे। यदि कोई किसी के प्रति दयालु है या किसी की भलाई कर सकता है तो उसे चाहिए कि उस व्यक्ति को कृष्णभावना तक पहुँचावे। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी ऊपर उठेगा। भरत महाराज ने हमें उपदेश देने के लिए ऐसा ही किया। किन्तु हमे कभी भी शारीरिक सुख-सुविधाओ में बहना नही चाहिए। हमें किसी भी मूल्य पर भगवान् विष्णु का अनुग्रह प्राप्त करने मे अरुचि नही दिखानी चाहिए। सामान्य रूप से लोग या तो इसे जानते नही या फिर वे भूल जाते हैं। फलस्वरूप वे अपने मूल उद्देश्य, विष्णु के

अनुग्रह की प्राप्ति को भूल कर शारीरिक सुविधा दिलाने के लिए परोपकारी कार्यों में लग जाते है।

इति कृतानुषङ्ग आसनशयनाटनस्नानाशनादिषु सह मृगजहुना स्नेहानुबद्धहृदय आसीत् ॥ ११ ॥

इति = इस प्रकार, **कृत-अनुषङ्गः** = आसक्ति बढने से; **आसन** = बैठना, **शयन** = सोना (नीद); **अटन** = टहलना, **स्नान** = नहाना; **आशन-आदिषु** = खाना आदि मे; **सह मृग-जहुना** = मृगछौने के साथ-साथ; **स्नेह-अनुबद्ध** = स्नेह से बँधा हुआ; **हृदय.** = उसका हृदय, **आसीत्** = हो गया।

अनुवाद

मृग के प्रति आसक्ति बढ़ जाने से महाराज भरत उसी मृग के साथ लेटते, टहलते, स्नान करते यहाँ तक कि उसी के साथ खाते। इस प्रकार उनका हृदय मृग के स्नेह में बँध गया।

कुशकुसुमसमित्पलाशफलमूलोदकान्याहरिष्यमाणो वृकसालावृकादिभ्यो भयमाशंसमानो यदा सह हरिणकुणकेन वनं समाविशति ॥ १२ ॥

कुश = अनुष्ठानो मे प्रयुक्त एक प्रकार की घास, कुश; **कुसुम** = फूल; **समित्** = समिधा, जलाने की लकडी; **पलाश** = पत्ते, **फल-मूल** = फल तथा कन्द; **उदकानि** = (तथा) जल; **आहरिष्यमाणः** = एकत्र करने की इच्छा होने पर, **वृकसाला-वृक** = भेडियो तथा कुत्तो से; **आदिभ्यः** = तथा अन्य पशु—यथा बाघ आदि; **भयम्** = भय, डर, **आशंसमानः** = आशकित, **यदा** = जब, **सह** = साथ; **हरिण-कुणकेन** = मृगछौना, **वनम्** = जगल, **समाविशति** = प्रवेश करता है।

अनुवाद

जब महाराज भरत को कुश, फूल, लकड़ी, पत्ते, फल, मूल तथा जल लाने के लिए जंगल मे जाना होता तो उन्हे भय बना रहता कि कुत्ते, सियार, बाघ तथा अन्य हिंस्र पशु आकर मृग को मार न डालें। अतः वे जंगल में जाते समय उसे अपने साथ-साथ रखते।

तात्पर्य

यहाँ पर यह बताया गया है कि महाराज भरत ने मृग के प्रति अपने स्नेह को किस प्रकार बढ़ा लिया था। भरत महाराज जैसे महान व्यक्ति को जिन्हे श्रीभगवान्

का स्नेह प्राप्त था, एक पशु के स्नेह के कारण अपने पद से नीचे आना पड़ा। फलतः, जैसा कि आगे देखेंगे, उन्हे अगले जन्म में मृग का शरीर स्वीकार करना पड़ा। जब महाराज भरत का यह हाल हुआ तो भला जो आध्यात्मिक जीवन मे आगे बढ़े हुए नही है, किन्तु विल्लियो तथा कुत्तो मे आसक्त है उनका क्या होगा? जब तक ऐसे लोग श्रीभगवान् के प्रति अपने स्नेह तथा प्यार को बढाते नही, तव तक कुत्तो तथा बिल्लियो के प्रति स्नेह के कारण उन्हे अगले जन्म में वैसे ही शरीर धारण करने पड़ेगे। जब तक हम परमेश्वर के प्रति अपनी श्रद्धा नही वढाते तव तक हम अनेक वस्तुओ के प्रति आर्कर्षित होते रहेगे और भौतिक वन्धन का यही कारण है।

पथिषु च मुग्धभावेन तत्र तत्र विषक्तमतिप्रणयभरहृदयः कार्पण्यात्स्कन्धेनोद्वहति एवमुत्सङ्ग उरसि चाधायोपलालयन्मुदं परमामवाप ॥१३॥

पथिषु=वन मार्ग मे, **च**=भी, **मुग्ध-भावेन**=मृग के बचकाने आचरण से; **तत्र-तत्र**=वहाँ वहाँ, **विषक्त-मति**=अत्यधिक आकृष्ट मन वाला, **प्रणय**=प्रेम से; **भर**=पूरित, **हृदयः**=जिसका हृदय, **कार्पण्यात्**=स्नेह तथा प्रेम के कारण, **स्कन्धेन**=कधे से, **उद्वहति**=ले जाता है; **एवम्**=इस प्रकार, **उत्सङ्गे**=कभी-कभी गोद मे, **उरसि**=सोते समय वक्षस्थल के ऊपर, **च**=भी, **आधाय**=ले कर, **उपलालयन्**=दुलराते हुए, **मुदम्**=सुख, **परमाम्**=अत्यधिक, **अवाप**=अनुभव हुआ।

अनुवाद

जंगल के मार्ग में वह मृग अपने चपल स्वभाव के कारण महाराज भरत को अत्यन्त आकर्षक लगता। वे उसे अपने कंधों में चढ़ा कर स्नेहवश दूर तक ले जाते। उनका हृदय मृग-प्रेम से इतना पूरित था कि वे कभी उसे अपनी गोद में ले लेते तो कभी सोते समय उसे अपनी छाती पर चढ़ाए रखते। इस प्रकार उस पशु को दुलारते हुए उन्हें अत्यधिक सुख का अनुभव होता था।

तात्पर्य

महाराज भरत ने वन मे जाकर आध्यात्मिक जीवन बिताने के उद्देश्य से अपना घर, पत्नी, सन्तान, राज्य तथा अन्य सभी कुछ छोड दिया, किन्तु एक तुच्छ पालतू मृग के स्नेह-पाश मे बँध कर वे पुनः भौतिक आसक्ति के शिकार बन गये। तो भला उन्हे मृग त्याग से क्या लाभ हुआ? जो व्यक्ति अपने आध्यात्मिक जीवन को उन्नत करना चाहता है उसे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्यत्र आसक्त होने से सावधान रखना चाहिए। कभी-कभी मात्र उपदेश देने के लिए हमे अनेक भौतिक कार्य करने पड़ते

है, किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि ये सब कार्य श्रीकृष्ण के निमित्त है। यदि हम इसे स्मरण रखेंगे तो फिर हम भौतिक कर्मो के शिकार नही बनेंगे।

क्रियायां निर्वर्त्यमानायामन्तरालेऽप्युत्थायोत्थाय यदैनमभिचक्षीत तर्हि वाव स वर्षपतिः प्रकृतिस्थेन मनसा तस्मा आशिष आशास्ते स्वस्ति स्ताद्वत्स ते सर्वत इति ॥ १४ ॥

क्रियायाम्=ईश्वर की पूजा करने या नित्यनैमित्तिक कियाएँ करने मे; **निर्वर्त्यमानायाम्**=बिना समाप्त किये ही; **अन्तराले**=बीच-बीच मे, **अपि**=यद्यपि, **उत्थाय उत्थाय**=उठ उठ कर, **यदा**=जब, **एनम्**=मृगछौना, **अभिचक्षीत** देख लिया करते, **तर्हि वाव**=उस समय, **स.**=वह, **वर्ष-पति**=महाराज भरत; **प्रकृति-स्थेन**=प्रसन्न, **मनसा**=अपने मन मे; **तस्मै**=उसको, **आशिषः आशास्ते**=आशीर्वाद देते; **स्वस्ति**=कल्याण, **स्तात्**=होवे, **वत्स**=हे मेरे मृग-शावक !; **ते**=तुम्हारा, **सर्वतः**=सभी प्रकार से, **इति**=इस प्रकार।

अनुवाद

जब महाराज भरत ईश्वर की आराधना में या अन्य अनुष्ठान में व्यस्त रहते तो बीच-बीच में ही वे उठ उठ जाते और देखने लगते कि मृग कहाँ है। इस प्रकार जब वे यह देख लेते कि वह मृग सुखपूर्वक है तब कही उनके मन तथा हृदय को सन्तोष होता और तब वे उस मृग को यह कह कर आशीष देते, "हे वत्स ! तुम सभी प्रकार से सुखी रहो।"

तात्पर्य

मृग के लिए अत्यधिक आकर्षण होने के कारण महाराज भरत न तो ईश्वर में ठीक से ध्यान लगा पाते, न अपने नैत्यिक अनुष्ठान ही पूरा कर पाते थे। वे श्रीविग्रह की पूजा करते होते, किन्तु अत्यधिक स्नेह के कारण उनका चित्त अशान्त रहता। जब वे ध्यान के लिए बैठते तो केवल मृग ही उन्हे सूझता और उनको यह भय लगा रहता कि कही वह चला तो नही गया। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी का मन पूजा मे नही लगता तो पूजा का दिखावा करने से कोई लाभ नही होता। मृग को देखने के लिए भरत महाराज को बीच-बीच मे उठना पड़ता था, जो इस तथ्य का सूचक है कि वे आध्यात्मिक पद से नीचे आ चुके थे।

अन्यदा भृशमुद्विग्नमना नष्टद्रविण इव कृपणः सकरुणमतितर्षेण हरिणकुणकविरहविह्वलहृदयसन्तापस्तमेवानुशोचन् किल कश्मलं महदभिरम्भित इति होवाच ॥ १५ ॥

अन्यदा=कभी-कभी (मृग छौने को देखकर), **भृशम्**=अत्यधिक, **उद्विग्न-मनाः**=चिन्ताओ से युक्त मन, **नष्ट-द्रविणः**=जिसका धन लुट गया हो, **इव**=सदृश, **कृपणः**=कजूस व्यक्ति, **स-करुणम्**=करुणापूर्वक, **अति-तर्षेण**=अत्यन्त चिन्ता से, **हरिण-कुणक**=मृग-छौने से, **विरह**=वियोग से, **विह्वल**=व्याकुल, **हृदय**=मन या हृदय मे, **सन्तापः**=शोक, **तम्**=उस छौने को, **एव**=केवल, **अनुशोचन्**=निरन्तर ध्यान, **किल**=निश्चय ही, **कश्मलम्**=मोह, **महत्**=अत्यधिक, **अभिरम्भित**=प्राप्त किया, **इति**=इस प्रकार, **ह**=निश्चय ही; **उवाच**=कहा ।

अनुवाद

कभी यदि भरत महाराज उस मृग को न देखते तो उनका मन अत्यन्त व्याकुल हो उठता । उनकी स्थिति उस कंजूस व्यक्ति के समान हो जाती जिसे कुछ धन प्राप्त हुआ हो, किन्तु उसके खो जाने से वह अत्यन्त दुखी हो । जब मृग चला जाता, तो उन्हे चिन्ता होती और वियोग के कारण विलाप करते । इस प्रकार मोहग्रस्त होने पर वे निम्नलिखित प्रकार से कहते ।

तात्पर्य

यदि किसी निर्धन व्यक्ति का कुछ धन या सोना खो जाता है तो वह अत्यन्त क्षुब्ध रहता है । इसी प्रकार महाराज भरत का मन मृग को न देखने पर क्षुब्ध हो उठता । यह उदाहरण बताता है कि किस प्रकार हमारी आसक्ति बदलती है । यदि हमारी आसक्ति ईश्वर की सेवा मे लग जाय तो हम प्रगति करते है । श्रील रूप गोस्वामी ने ईश्वर से प्रार्थना की कि मै भगवान् की सेवा मे उसी प्रकार आकृष्ट होऊँ जिस प्रकार तरुण तथा तरुणियाँ परस्पर आकृष्ट होते है । श्रीचैतन्य महाप्रभु ने समुद्र मे कूदकर या रात्रि वियोगवश रो-रो करके ईश्वर के प्रति ऐसी आसक्ति प्रदर्शित की । किन्तु यदि हमारी आसक्ति ईश्वर से मुडकर भौतिक पदार्थो के प्रति हो जाय तो हम आध्यात्मिक पद से नीचे गिर जावेगे ।

अपि बत स वै कृपण एणबालको मृतहरिणीसुतोऽहो ममानार्यस्य शठकिरातमतेरकृतसुकृतस्य कृतविस्रम्भ आत्मप्रत्ययेन तदविगणयन् सुजन इवागमिष्यति ॥ १६ ॥

अपि = निस्सन्देह, **बत** = अहो !, **सः** = वह छौना; **वै** = निश्चय ही; **कृपणः** = दीन, **एण-बालक.** = मृगशावक, **मृत-हरिणी-सुतः** = मृत हरिणी का पुत्र, **अहो** = ओह !; **मम** = मुझ, **अनार्यस्य** = अनार्य का, असभ्य आदिवासी का, **शठ** = धोखेबाज का, **किरात** = अथवा असभ्य आदिवासी का, **मतेः** = मन वाले, **अकृत-सुकृतस्य** = पुण्यहीन, **कृत-विस्रम्भः** = विश्वास करते हुए, **आत्म-प्रत्ययेन** = मुझे अपने ही समान समझते हुए, **तत्-अविगणयन्** = इन सब बातो को सोचे बिना, **सु-जनः इव** = भद्र पुरुष की भाँति, **अगमिष्यति** = क्या वह फिर से लौटेगा ?

अनुवाद

भरत महाराज सोचते—ओह ! यह मृग अब असहाय है। मै अत्यन्त अभागा हूँ और मेरा मन चतुर शिकारी की भाँति है क्योंकि यह सदैव छल तथा निष्ठुरता से पूर्ण रहता है। इस मृग ने मुझ पर उसी प्रकार विश्वास किया है जिस प्रकार एक भद्र पुरुष धूर्त मित्र के दुराचार को भूलकर उस पर विश्वास प्रकट करता है। यद्यपि मै अविश्वासी सिद्ध हो चुका हूँ, किन्तु क्या यह मृग मुझ पर विश्वास करके पुनः लौट आवेगा ?

तात्पर्य

भरत महाराज अत्यन्त नेक और महान थे, अत. जब मृग उनसे दूर रहता तो वे शरणागत की रक्षा करने मे स्वय को अयोग्य समझते। पशु के प्रति आसक्ति के कारण वह सोचते कि यह पशु भी उन्ही के समान नेक तथा महान था। **आत्मवत् मन्यते जगत्** तर्क के अनुसार प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि अन्य प्राणियो को अपने समान समझे। अत. महाराज भरत को ऐसा लगता कि उस मृग ने उनका साथ उनकी उपेक्षा के कारण छोडा है और अपने नेक हृदय के कारण पुनः लौट आवेगा।

अपि क्षेमेणास्मिन्नाश्रमोपवने शष्पाणि चरन्तं देवगुप्तं द्रक्ष्यामि ॥ १७ ॥

अपि = हो सकता है कि, **क्षेमेण** = हिंस्र पशुओ के अभाव के कारण निर्भय होने से, **अस्मिन्** = इसमे, **आश्रम-उपवने** = आश्रम के उद्यान मे, **शष्पाणि चरन्तम्** = मुलायम घास चरते हुए, **देव-गुप्तम्** = देवताओ द्वारा रक्षित; **द्रक्ष्यामि** = क्या मै देखूँगा ?

अनुवाद

ओह, क्या ऐसा हो सकता है कि मै इस पशु को देवताओ से रक्षित तथा हिंस्र पशुओ से निर्भय रूप मे फिर देखूँ ? क्या मै उसे पुन उद्यान में मुलायम घास चरते हुए देख सकूँगा ?

तात्पर्य

महाराज भरत ने सोचा कि मृग उनकी रक्षा से निराश होकर उसे छोडकर किसी देवता की शरण मे चला गया है। फिर भी वे उस पशु को मुलायम घास चरते हुए तथा हिंस्र पशुओ से निर्भय होकर अपने आश्रम मे देखने के परम इच्छुक थे। उन्हे केवल मृग की तथा सभी प्रकार के पशुओ से उसकी रक्षा करने की चिन्ता थी। भौतिक दृष्टि से ऐसे विचार अत्यन्त प्रशसनीय कहे जावेगे, किन्तु सात्विक दृष्टि से राजा अपने आध्यात्मिक पद से नीचे गिर रहे थे और वृथा ही एक पशु से इतने आसक्त होते जा रहे थे। अपने को इस प्रकार पतित वना देने पर उन्हे पशु शरीर ग्रहण करना पड़ा।

अपि च न वृकः सालावृकोऽन्यतमो वा नैकचर एकचरो वा भक्षयति ॥ १८ ॥

अपि च=अथवा, **न**=नही, **वृकः**=भेडिया, **साला-वृक.**=कुत्ता, **अन्यतमः**=अनेक मे से कोई एक, **वा**=अथवा, **न-एक-चर.**=झुड के झुड विचरने वाले सूकर, **एक-चर:**=अकेला घूमने वाला व्याघ्र, **वा**=अथवा, **भक्षयति**=(वेचारे पशु को) खा रहा है।

अनुवाद

मुझे पता नही, किन्तु हो सकता है कि भेड़िया या कुत्ता अथवा झुंडो मे रहने वाले सुअर या फिर अकेले घूमने वाले बाघ ने उस मृग को खा लिया हो।

तात्पर्य

वाघ कभी भी जगल मे झुड मे नही घूमते। प्रत्येक वाघ अकेला घूमता है, किन्तु जगली सुअर एकसाथ रहते है। इसी प्रकार भेडिये, कुत्ते आदि भी एकसाथ रहते है। इस प्रकार महाराज भरत ने सोचा कि हो न हो वेचारा हिरन इनमे से किसी हिंस्र पशु द्वारा मार डाला गया होगा।

निम्लोचति ह भगवान् सकलजगत्क्षेमोदयस्त्रय्यात्माद्यापि मम न मृगवधून्यास आगच्छति ॥ १९ ॥

निम्लोचति=डूव रहा है, **ह**=ओह, **भगवान्**=सूर्य के रूप मे श्रीभगवान्; **सकल-जगत्**=समस्त ब्रह्माण्ड का, **क्षेम-उदयः**=कल्याण करने वाला, **त्रयी-आत्मा**

=तीन वेदो से युक्त; **अद्य-अपि**=अब भी; **मम**=मेरा, **न**=नही; **मृग-वधू-न्यासः**=मृगी की धरोहर; **आगच्छति**=वापस आ गया है ।

अनुवाद

ओह ! सूर्य के उदय होते ही सभी शुभ कार्य होने लगते है । दुर्भाग्यवश, मेरे लिए ऐसा नही हो रहा । सूर्यदेव साक्षात् वेद है, किन्तु मै समस्त वैदिक नियमो से शून्य हूँ । वे सूर्यदेव अब अस्त हो रहे है, तो भी वह बेचारा पशु, जिसने अपनी माता की मृत्यु के पश्चात् मुझ पर विश्वास किया था, अभी तक नही लौटा है ।

तात्पर्य

ब्रह्मसहिता मे (५.५२) सूर्य को श्रीभगवान् का नेत्र कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणाम्
राजा समस्तसूरमूर्तिरशेषतेजाः ।
यस्याज्ञयाभ्रमति संभृतकालचक्रो
गोविन्दमादिपुरुषं तमऽहं भजामि ॥

सूर्योदय होते ही मनुष्य को गायत्री मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए । सूर्य परमेश्वर के नेत्रो का प्रतीक है । महाराज भरत को पश्चाताप हो रहा था कि यद्यपि सूर्य अस्त होने को है, किन्तु बेचारे मृग की अनुपस्थिति के कारण उन्हे कुछ भी शुभ नही लगा । इसलिए भरत महाराज ने अपने को सर्वाधिक अभागा माना क्योकि सूर्य की उपस्थिति मे उनके लिए कुछ भी शुभ नही लग रहा था ।

अपिस्विदकृतसुकृतमागत्य मां सुखयिष्यति हरिणराजकुमारो विविधरुचिरदर्शनीयनिजमृगदारकविनोदैरसन्तोषं स्वानामपनुदन् ॥ २० ॥

अपि स्वित्=क्या वह करेगा ?; **अकृत-सुकृतम्**=जिसने कभी कोई पुण्य कार्य नही किया, **आगत्य**=वापस आकर, **माम्**=मुझको, **सुखयिष्यति**=आनन्दित करेगा, **हरिण-राजकुमाराः**=हिरण, जिसका पालन राजकुमार के समान हुआ; **विविध**=अनेक, **रुचिर**=मनोहर, **दर्शनीय**=देखने योग्य, **निज**=अपना, **मृग-दारक**=मृगशावक के उपयुक्त, **विनोदैः**=क्रीडाओ से, **असन्तोषम्**=असन्तोष, **स्वानाम्**=स्वजनो का, **अपनुदन्**=दूर करते हुए ।

अनुवाद

वह मृग राजकुमार के तुल्य है। क्या वह लौटेगा ? वह कब फिर अपनी मनोहर क्रीड़ाएँ दिखायेगा ? वह कब मेरे क्षत-हृदय को पुनः शान्त करेगा ? अवश्य ही मेरे पुण्य शेष नहीं है अन्यथा अब तक वह मृग अवश्य लौट आया होता।

तात्पर्य

अपने प्रबल स्नेह के कारण राजा छोटे से हिरण को राजकुमार मान बैठा। यह मोह कहलाता है। मृग की अनुपस्थिति के कारण चिन्तावश राजा ने पशु को इस प्रकार सम्बोधित किया मानो उसका पुत्र हो। स्नेहवश किसी को कुछ भी कह कर पुकारा जा सकता है।

क्ष्वेलिकायां मां मृषासमाधिनाऽऽमीलितदृशं प्रेमसंरम्भेण चकितचकित आगत्य पृषदपरुषविषाणाग्रेण लुठति ॥ २१ ॥

क्ष्वेलिकायाम्=खेल मे, **माम्**=मुझको, **मृषा**=झूठ मूठ, **समाधिना**=समाधि से, **आमीलित-दृशम्**=बन्द आँखो से, **प्रेम-सरम्भेण**=प्रेम के कारण उत्पन्न क्रोध से, **चकित-चकितः**=डर से, **आगत्य**=आकर, **पृषत्**=जल विन्दुओ के समान, **अपरुष**=अत्यन्त नम्र; **विषाण**=सीगो के, **अग्रेण**=अग्रभाग से, नोक से, **लुठति**=मेरा शरीर छूता है।

अनुवाद

ओह ! यह छोटा-सा हिरण, मेरे साथ खेलते हुए और मुझे आँखे बन्द करके झूठ-मूठ ध्यान करते देख कर प्रेम से उत्पन्न क्रोध के कारण मेरे चारों ओर चक्कर लगाता और नि.शंक होकर अपने मुलायम सीगों की नोकों से मुझे छूता था तो वे मुझे जल बिन्दुओ के समान प्रतीत होते।

तात्पर्य

अब महाराज भरत को लगा कि उनका ध्यान झूठा है। ध्यान धारण करते वे वास्तव मे मृग के विषय मे सोचते रहते और जब वह आकर अपनी पैनी सीगो से खुजलाता तो उन्हे अत्यधिक प्रसन्नता होती। ध्यान का बहाना करते हुए राजा वास्तव मे इसी मृग के विषय मे सोचते रहते और यही उनके पतन का सकेत था।

आसादितहविषि बर्हिषि दूषिते मयोपालब्धो भीतभीतः सपद्युपरतरास ऋषिकुमारवदवहितकरणकलाप आस्ते ॥ २२ ॥

आसादित=रख देता; **हविषि**=यज्ञ की सामग्री, हवि, **बर्हिषि**=कुश के ऊपर; **दूषिते**=अपवित्र होने पर, **मया उपालब्धः**=मेरे द्वारा डाटे जाने पर, **भीत-भीतः**=अत्यन्त डर से; **सपदि**=शीघ्र, तुरन्त, **उपरत-रासः**=अपना खेल बन्द करता हुआ, **ऋषि-कुमार-वत्**=ऋषि के पुत्र या शिष्य के समान; **अवहित**=पूर्णतया रोका जाकर, **करण-कलापः**=समस्त इन्द्रियाँ, **आस्ते**=बैठ जाता।

अनुवाद

जब मैं यज्ञ की समस्त सामग्री कुश पर रखता तो यह मृग खेल में कुश को अपने दाँतों से छूकर अपवित्र कर देता। जब मैं मृग को हटा कर डाँटता-डपटता तो वह तुरन्त डर जाता और बिना हिले डुले बैठ जाता मानो ऋषि का पुत्र हो। तब वह अपना खेल (क्रीड़ा) बन्द कर देता।

तात्पर्य

महाराज भरत मृग के क्रिया-कलापो का निरन्तर चिन्तन करते रहे और यह भूल गये कि ऐसे ध्यान तथा चित्त के हटने से उनकी उन्नति मारी जा रही है।

किं वा अरे आचरितं तपस्तपस्विन्यानया यदियमवनिः सविनयकृष्णसारतनयतनुतरसुभगशिवतमाखरखुरपदपङ्क्तिभिर्द्रविण विधुरातुरस्य कृपणस्य मम द्रविणपदवीं सूचयन्त्यात्मानं च सर्वतः कृतकौतुकं द्विजानां स्वर्गापवर्गकामानां देवयजनं करोति ॥ २३ ॥

किम् वा=क्या; **अरे**=ओह!, **आचरितम्**=साधते हुए, **तपः**=तपस्या; **तपस्विन्या**=अत्यन्त भाग्यशाली के द्वारा, **अनया**=इस भूलोक पर, **यत्**=चूंकि; **इयम्**=यह, **अवनिः**=पृथ्वी, **स-विनय**=विनयपूर्वक; **कृष्ण-सार-तनयः**=कृष्ण-मृग के शावक का, **तनुतर**=छोटे-छोटे, **सुभग**=सुन्दर; **शिव-तम**=अन्यन्त मंगलकारी; **अखर**=मुलायम; **खुर**=खुरो के, **पद-पङ्क्तिभिः**=पद चिह्नो की पक्तियो से; **द्रविण-विधुर-आतुरस्य**=धन की हानि से अत्यन्त दुखी व्यक्ति का; **कृपणस्य**=अत्यन्त दुखी प्राणी, **मम**=मेरे लिए; **द्रविण-पदवीम्**=उस धन को प्राप्त करने का मार्ग, **सूचयन्ति**=सूचित करते हुए, **आत्मानम्**=अपना शरीर, **च**=तथा, **सर्वतः**=चारो दिशाओ मे, **कृत-कौतुकम्**=अलकृत, **द्विजानाम्**=ब्राह्मणो का; **स्वर्ग-अपवर्ग-कामानाम्**=स्वर्ग या मुक्ति की आकाक्षा करने वाले; **देव-यजनम्**=देवताओं के लिए किया जाने वाला यज्ञ-स्थल; **करोति**=करता है।

अनुवाद

इस प्रकार विक्षिप्त की भाँति बोलते हुए महाराज भरत उठे और बाहर निकल आये। धरती पर मृग के पदचिह्नों को देखकर उनकी प्रशंसा में अत्यन्त प्रेम से कहा, "अरे अभागे भरत ! इस पृथ्वी की तुलना में तुम्हारे तप तुच्छ है। क्योंकि पृथ्वी की कठोर तपस्या से ही उस पर इस मृग के छोटे-छोटे, सुन्दर अत्यन्त कल्याणकारी तथा मुलायम पदचिह्न बने हुए है। पदचिह्नों की यह श्रेणी मुझ जैसे मृग विछोह से दुखी व्यक्ति को दिखा रही है कि वह पशु इस जंगल से होकर किस प्रकार आगे गया है और मै उस खोई हुई सम्पत्ति को किस तरह प्राप्त कर सकता हूँ। इन पदचिह्नों के कारण यह भूमि स्वर्ग या मुक्ति की इच्छा से देवताओं के हेतु यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों के लिए उत्तम स्थान बन गई है।

तात्पर्य

कहा जाता है कि जब कोई पुरुष प्रेम-व्यापार मे अत्यधिक फँस जाता है तो वह स्वय को तथा दूसरो को तो भूलता है ही, वह कर्म करना और बात करना तक भूलने लगता है। ऐसी किम्वदन्ती है कि एक मनुष्य के जन्मान्ध पुत्र हुआ, किन्तु पिता ने पुत्र के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण उसका नाम पद्मलोचन रख दिया। अन्ध-प्रेम की ऐसी ही दशा है। भरत महाराज मृग के प्रेम मे फँस कर धीरे-धीरे ऐसी ही दशा को प्राप्त हुए। **स्मृति-शास्त्र** का वचन है—**यस्मिन् देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन् धर्मान्निबोधत**—"जिस भूभाग मे श्याम मृग के पदचिह्न दिखे उसे धार्मिक कृत्यों के लिए उपयुक्त स्थान समझना चाहिए।"

अपिस्विदसौ भगवानुडुपतिरेनं मृगपतिभयान्मृतमातरं मृगबालकं स्वाश्रमपरिभ्रष्टमनुकम्पया कृपणजनवत्सलः परिपाति ॥ २४ ॥

अपि स्वित् = कही ऐसा तो नही है ?, **असौ** = वह; **भगवान्** = सर्वशक्तिमान्; **उडुपतिः** = चन्द्रमा; **एनम्** = यह; **मृग-पति-भयात्** = सिह के भय से; **मृत-मातरम्** = मातृविहीन, **मृग-बालकम्** = मृग छौना; **स्व-आश्रम-परिभ्रष्टम्** = अपने आश्रम से बिछुड कर, **अनुकम्पया** = दयावश; **कृपण-जन-वत्सलः** = (चन्द्रमा) जो दुखी प्राणियो पर अत्यन्त सदय है, **परिपाति** = सुरक्षा कर रहा है।

अनुवाद

भरत महाराज विक्षिप्त पुरुष की भाँति बोलते रहे। अपने सिर के ऊपर उदित चन्द्रमा में मृग के सदृश काले धब्बों को देखकर उन्होंने कहा—कहीं दुखी मनुष्य पर दया करने वाले इस चन्द्रमा ने यह जानते हुए कि मेरा मृग अपने घर से

बिछुड़ गया है और मातृविहीन है, उस पर भी दया की हो ? इस चन्द्रमा ने सिंह के आक्रमण से बचाने के लिए ही मृग को अपने निकट ही शरण दे दी है।

किं वाऽऽत्मजविश्लेपज्वरदवदहनशिखाभिरुपतप्यमानहृदयस्थलनलिनीकं मामुपसृतमृगीतनयं शिशिरशान्तानुरागगुणितनिजवदनसलिलामृतमयगभस्तिभिः स्वधयतीति च ॥२५॥

किम् वा=अथवा ऐसा हो कि, **आत्म-ज**=पुत्र से; **विश्लेष**=वियोग के कारण; **ज्वर**=ताप; **दव-दहन**=दावाग्नि की; **शिखाभिः**=लपटो से; **उपतप्यमान**=ज्वलित होकर; **हृदय**=हृदय; **स्थल-नलिनीकम्**=लाल कमल पुष्प के सदृश; **माम्**=मुझको; **उपसृत-मृगी-तनयम्**=जिससे मृगछौना अत्यन्त हिला-मिला हुआ था, **शिशिर-शान्त**=जो अत्यन्त शीतल एव शान्त; **अनुराग**=प्रेमवश; **गुणित**=प्रवहमान, **निज-वदन-सलिल**=अपने मुख का जल; **अमृत-मय**=अमृत के सदृश उत्तम; **गभस्तिभिः**=चन्द्रमा की किरणो से, **स्वधयति**=मुझे आनन्द दे रहा है; **इति**=इस प्रकार, **च**=तथा।

अनुवाद

चाँदनी को देखकर महाराज भरत विक्षिप्त पुरुष की भाँति बोलते रहे। उन्होंने कहा—यह मृगछौना मुझसे इतना घुलमिल गया था और मुझे इतना प्रिय था कि इसके वियोग से मुझे अपने पुत्र जैसा वियोग हो रहा है। इसके वियोग ताप से मुझे दावाग्नि जैसा कष्ट हो रहा है। मेरा हृदय-स्थल कुमुदनी जैसा जल रहा है। मुझे इतना दुखी देखकर चन्द्रमा मेरे ऊपर अमृत वर्षा कर रहा है मानो प्रखर ज्वर से पीड़ित व्यक्ति पर उसका मित्र जल डाल रहा है। इस प्रकार यह चन्द्रमा मुझे सुख देने वाला है।

तात्पर्य

आयुर्वेदिक चिकित्सा के अनुसार जिस व्यक्ति को तेज ज्वर हो उस पर मुख के गडगडे से जल का छिड़काव करना चाहिए। इससे ज्वर घट जाता है। भरत महाराज अपने पुत्रवत् मृग के वियोग से अत्यन्त दुखी थे, अत. वे सोच रहे थे कि यह चन्द्रमा अपने मुख मे जल भर कर गड़गडा करके उन पर छिड़क रहा है जिससे उनका तेज ज्वर शमित हो जाय।

एवमवटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधनलक्षणाच्च

कथमितरथा जात्यन्तर एणकुणक आसङ्गः साक्षान्निःश्रेयसप्रतिपक्षतया प्राक्परित्यक्तदुस्त्यजहृदयाभिजातस्य तस्यैवमन्तरायविहत योगारम्भणस्य राजर्षेर्भरतस्य तावन्मृगार्भकपोषणपालनप्रीणनलालनानुषङ्गेणाविगणयत आत्मानमहिरिवाखुबिलं दुरतिक्रमः कालः करालरभस आपद्यत ॥२६॥

एवम्=इस प्रकार, **अघटमान**=दुर्लभ, **मन -रथ**=इच्छाओ से जो मन के रथ के तुल्य है; **आकुल**=दुखी, **हृदयः**=जिसका हृदय, **मृग-दारक-आभासेन**=मृग छौने के समान, **स्व-आरब्ध-कर्मणा**=अपने प्रारब्ध के बुरे कर्म-फलो से, **योग-आरम्भणतः**=योगानुष्ठान से; **विभ्रंशितः**=च्युत, **सः**=वह (महाराज भरत), **योग-तापसः**=योग तथा तपस्या करता हुआ, **भगवत्-आराधन-लक्षणात्**=श्रीभगवान् की भक्ति सम्बन्धी क्रियाओ से, **च**=तथा, **कथम्**=किस प्रकार; **इतरथा**=अन्य, **जाति-अन्तरे**=अन्य जाति वाले, **एण-कुणके**=मृग छौने के शरीर के प्रति; **आसङ्गः**=अत्यधिक आसक्ति, **साक्षात्**=प्रत्यक्ष, **निःश्रेयस्**=जीवन-लक्ष्य प्राप्त करने के लिए, **प्रतिपक्षतया**=प्रतिरोध, **प्राक्**=पहले, **परित्यक्त**=छोडा हुआ, **दुःत्यज**=यद्यपि त्याग करने मे अत्यन्त कठिन, **हृदय-अभिजातस्य**=अपने हृदय से उत्पन्न; अपने पुत्रो, **तस्य**=उसका, **एवम्**=इस प्रकार, **अन्तराय**=उस प्रतिरोध (विघ्न) से, **विहत**=रोका जाकर, **योग-आरम्भणस्य**=जिसकी योग-साधना का पथ, **राज-ऋषेः**=राजर्षि, **भरतस्य**=महाराज भरत का; **तावत्**=तब तक, **मृग-अर्भक**=मृग छौना; **पोषण**=भरण मे (दूध पिलाने मे), **पालन**=सुरक्षा मे, **प्रीणन**=प्रसन्न रखने मे, **लालन**=दुलराने मे, **अनुसङ्गेन**=निरन्तर ध्यान करते रहने से; **अविगणयतः**=उपेक्षा करते हुए, **आत्मानम्**=अपनी आत्मा, **अहिः इव**=सर्प के तुल्य, **आखु-बिलम्**=चूहे का बिल, **दुरतिक्रमः**=दुर्लंघ्य, **काल**=मृत्यु; **कराल**=भयानक, **रभसः**=गतिमान, **आपद्यत**=आ गया।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन ! इस प्रकार महाराज भरत मृग की दुर्दमनीय आकांक्षा से अभिभूत हो गये। अपने पूर्व कर्मों के फल के कारण वे योग, तप तथा श्रीभगवान् की आराधना से च्युत हो गये। यदि यह पूर्व कर्मों के कारण नहीं हुआ तो वह क्योंकर अपने आध्यात्मिक जीवन के पथ पर अवरोध समझ कर अपने पुत्र तथा परिवार को त्याग देने के बाद भी मृग से इतना आकृष्ट होते ? वे मृग के लिए इतना दुर्दम्य स्नेह क्यों प्रकट करते ? यह निश्चय ही उनके पूर्व कर्म का फल था। राजा मृग को सहलाने तथा उसके लालन-पालन में इतने व्यस्त रहते कि वे सात्विक वृत्तियो से नीचे चले गये। कालान्तर में, दुर्लंघ्य मृत्यु उनके समक्ष

उपस्थित हो गई जिस प्रकार विषधर सर्प चूहे के द्वारा निर्मित छिद्र में चुपके से घुस जाता है।

तात्पर्य

अगले श्लोको मे देखा जायेगा कि मृत्यु के समय महाराज भरत को वाध्य होकर मृग का शरीर धारण करना पड़ा। इस सम्वन्ध मे एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि भक्त के पूर्व-दुष्कर्मो तथा पापों का उस पर किस प्रकार प्रभाव पड सकता है? **ब्रह्म-संहिता** मे (५ ५४) कहा गया है—**कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्**—जो भक्ति-भजन में लगे रहते है उनके पूर्व कर्मो के फल की क्षतिपूर्ति हो जाती है। इसके अनुसार भरत महाराज को उनके पूर्व कर्मो के लिए दण्डित नही किया जा सकता था। इसका निष्कर्प यह निकला कि वे जानबूझ कर मृग के प्रति अत्यधिक लिप्त हो गये और अपनी उन्नति की उपेक्षा की। उनकी इस त्रुटि को तुरन्त सुधारने के लिए ही उन्हे अल्प काल के लिए मृग का शरीर प्रदान किया गया। यह तो उनकी भक्ति को सुदृढ करने के लिए किया गया था। यद्यपि उन्हे पशु शरीर दिया गया, किन्तु वे यह नही भूल पाये कि जानबूझ कर की गई उनकी त्रुटि के कारण ही ऐसा हुआ। वे इस मृग शरीर से उद्धार पाने के लिए उत्सुक थे जिससे सूचित होता है वे भक्ति के प्रति अधिकाधिक स्नेहित हो उठे थे जिससे अगले जन्म मे उन्हे ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हो सका। इसी दृढ विश्वास के साथ ही हम अपनी पत्रिका "बैक टु गाडहेड" मे यह घोषित करते हैं कि वृन्दावन मे रहने वाले कुछ गोस्वामी, जो जानबूझ कर पाप करते है वे उस पवित्र भूमि मे कुत्ते, बन्दर तथा कछुवे का शरीर धारण करते है। इस प्रकार वे कुछ काल तक निम्न योनि मे रहते है और अपना पशु-शरीर त्यागने के बाद वे पुनः वैकुठ लोक जाते है। ऐसा अल्प-कालिक दड, विगत कर्मो का फल नही होता। भले ही यह विगत कर्म के कारण प्रतीत हो, किन्तु यह दण्ड भक्त को अपनी भूल सुधारने और भक्ति मे आने के लिए दिया जाता है।

तदानीमपि पार्श्ववर्तिनमात्मजमिवानुशोचन्तमभिवीक्षमाणो मृगएवाभिनिवेशित-मना विसृज्य लोकमिमं सह मृगेण कलेवरं मृतमनु न मृतजन्मानुस्मृति-रितरवन्मृगशरीरमवाप ॥२७॥

तदानीम्=उस समय; **अपि**=निस्सदेह, **पार्श्व-वर्तिनम्**=अपनी मृत्युशय्या के निकट, **आत्म-जम्**=अपने पुत्र, **इव**=सदृश, **अनुशोचन्तम्**=शोकातुर; **अभिवीक्ष-माणः**=देखते हुए; **मृगे**=मृग मे; **एव**=निश्चय ही, **अभिनिवेशित-मनाः**=उसका मन उसी मे लगा हुआ, **विसृज्य**=त्याग कर, **लोकम्**=ससार; **इमम्**=यह; **सह**=साथ; **मृगेण**=मृग के; **कलेवरम्**=उसका शरीर, **मृतम्**=मरा हुआ; **अनु**=

तत्पश्चात्; **न**=नही, **मृत**=विनष्ट; **जन्म-अनुस्मृतिः**=मृत्यु के पूर्व की घटना की याद, **इतर-वत्**=अन्यो की तरह, **मृग-शरीरम्**=मृग का शरीर, **अवाप**=प्राप्त किया।

अनुवाद

राजा ने देखा कि उनकी मृत्यु के समय वह मृग उनके पास बैठा था मानो उनका पुत्र हो और उनकी मृत्यु से शोकातुर था। वास्तव में राजा का चित्त मृग के शरीर में रमा हुआ था, फलतः श्रीकृष्णभावना से विरहित मनुष्यों की भाँति उन्होने यह संसार, मृग तथा अपना भौतिक शरीर त्याग दिया और मृग का शरीर प्राप्त किया। किन्तु इससे एक लाभ हुआ। यद्यपि उन्होंने मानव शरीर त्याग कर मृग का शरीर प्राप्त किया था, किन्तु उन्हें अपने पूर्व जीवन की घटनाएँ भूल नही पाई थी।

तात्पर्य

महाराज भरत द्वारा मृग शरीर ग्रहण करने तथा मृत्यु के समय अन्य व्यक्तियो की मानसिक दशा के अनुसार जो विभिन्न शरीर प्राप्त होते है उन्हे ग्रहण करने में अन्तर है। अन्य लोग मृत्यु के बाद भूल जाते है कि उनके पूर्व जीवनो मे क्या-क्या घटनाएँ हुई थी, किन्तु महाराज भरत को कुछ भी नही भूला था। भगवद्गीता के अनुसार (८.६)—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

"जिस जिस भाव का स्मरण करते हुए जीव देह त्यागता है, उस उसको ही निस्सन्देह प्राप्त होता है।"

शरीर त्यागने के बाद मनुष्य की मृत्यु के समय जैसी मानसिक स्थिति होती है उसी के अनुसार अन्य शरीर प्राप्त होता है। मृत्यु के समय कोई भी मनुष्य सदैव उसी विषय को सोचता रहता है जिसमे वह आजीवन उलझा रहता है। इस नियम के अनुसार चूँकि भरत महाराज भगवद्भक्ति भूलकर निरन्तर मृग के चिन्तन मे डूबे रहते थे इसलिए उन्हे मृग का शरीर प्राप्त हुआ। किन्तु भक्ति की सिद्धावस्था प्राप्त होने के कारण उन्हे पूर्व जीवन की घटनाएँ विस्मृत नही हुई थी। इस विशेष वरदान ने उन्हे आगे की अधोगति से बचा लिया। भक्ति सम्बन्धी पूर्व कर्मो के कारण वे मृग शरीर धारण करके भी अपनी भक्ति को पूरा करने में दृढ़सकल्प रहे। इसलिए इस श्लोक मे **मृतस्** कहा गया है यद्यपि वे मर चुके थे। **अनु**, तत्पश्चात्, **न मृत-जन्मानुस्मृतिर् इतरवत्**—वह अन्यो की तरह पूर्व जन्म की घटनाओ को भूले नही। जैसा कि "ब्रह्मसहिता" मे (५.५४) कहा गया है—**कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति-भाजाम्**। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि श्रीभगवान् के अनुग्रह से भक्त

कभी परास्त नही होता। जानबूझ कर भक्ति की उपेक्षा के लिए भक्त को कुछ काल के लिए दण्डित किया जा सकता है, किन्तु उसे पुनः भक्ति प्राप्त होती है और वह परमधाम को प्राप्त होता है।

तत्रापि ह वा आत्मनो मृगत्वकारणं भगवदाराधनसमीहानुभावेनानुस्मृत्य भृशमनुतप्यमान आह ॥२८॥

तत्र-अपि=उस जन्म मे; **ह वा**=निस्सदेह; **आत्मनः**=स्वय का; **मृगत्व-कारणम्**=मृग शरीर स्वीकार करने का कारण; **भगवत्-आराधन-समीहा**=भक्ति मे पूर्व कर्मो के; **अनुभावेन**=परिणामस्वरूप; **अनुस्मृत्य**=स्मरण करके, **भृशम्**=सर्वदा; **अनुतप्यमानः**=पश्चाताप करते हुए; **आह**=कहा।

अनुवाद

मृग शरीर प्राप्त करने पर भी भरत महाराज अपने पूर्व जन्म की कठिन भक्ति के कारण इस शरीर को धारण करने के कारण को जान गये थे। अपने विगत तथा वर्तमान शरीर पर विचार करते हुए वे अपने कृत्यो पर पश्चाताप करते हुए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य

भक्त के लिए यह विशेष छूट है। यदि उसे अ-मानव शरीर प्राप्त होता है तो श्रीभगवान् के अनुग्रह से उसे अपनी भक्ति को आगे बढाने का अवसर अपने गत जीवन का स्मरण करके या अन्य प्राकृतिक कारणों से प्राप्त होता है। जन सामान्य के लिए गत जीवन के कार्यो को स्मरण रखना कोई सरल काम नही, किन्तु भरत महाराज को अपने यज्ञो तथा भक्ति के कारण अपने पूर्व कर्मो की स्मृति बनी रही।

अहो कष्टं भ्रष्टोऽहमात्मवतामनुपथाद्यद्विमुक्तसमस्तसङ्गस्य विविक्तपुण्यारण्य-शरणस्यात्मवत आत्मनि सर्वेषामात्मनां भगवति वासुदेवे तदनुश्रवणमनन-सङ्कीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेनाशून्यसकलयामेन कालेन समावेशितं समाहितं कार्त्स्न्येन मनस्तत्तु पुनर्ममाबुधस्यारान्मृगसुतमनु परिसुस्राव ॥२९॥

अहो कष्टम्=ओह, कितना कष्टमय जीवन है; **भ्रष्टः**=पतित; **अहम्**=मैं (हूँ); **आत्म-वताम्**=सिद्धि प्राप्त महान भक्तों के, **अनुपथात्**=जीवन शैली से; **यत्**=जिससे; **विमुक्त-समस्त-सङ्गस्य**=यद्यपि अपने सगे पुत्रो तथा घर का साथ

त्यागे हुए, **विविक्त**=एकान्त, **पुण्य-अरण्य**=पवित्र वन की, **शरणस्य**=शरण लिए हुए का, **आत्म-वतः**=दिव्य पद को प्राप्त, **आत्मनि**=परमात्मा मे, **सर्वेषाम्**=समस्त; **आत्मनाम्**=जीवात्माओ का, **भगवति**=श्रीभगवान् मे, **वासुदेवे**=भगवान् वासुदेव, **तत्**=उसका, **अनुश्रवण**=निरन्तर सुनना, **मनन**=चिन्तन, **सङ्कीर्तन**=जप, **आराधन**=पूजा, उपासना, **अनुस्मरण**=निरन्तर स्मरण करना; **अभियोगेन**=लीन रह कर, **अशून्य**=पूरित, **सकल-यामेन**=जिसमे समस्त घटे, **कालेन**=काल से, **समावेशितम्**=पूर्णतया प्रतिष्ठित, **समाहितम्**=स्थिर, **कार्त्स्न्येन**=पूर्णत.; **मन.**=चित्त, **तत्**=वह मन, **तु**=लेकिन, **पुन**=फिर, **मम**=मुझ, **अबुधस्य**=अज्ञानी का, **आरात्**=दूरी से, **मृग-सुतम्**=मृगछौना, **अनु**=के पीछे, के वश मे, **परिसुस्राव**=च्युत हो गया ।

अनुवाद

मृग शरीर में भरत महाराज पश्चात्ताप करने लगे—कैसा दुर्भाग्य है कि मै स्वरूप-सिद्धि के पथ से च्युत हो गया हूँ ! आध्यात्मिक जीवन बिताने के लिए मैने अपने पुत्र, पत्नी तथा घर का परित्याग किया और वन के एकान्त पवित्र स्थान का आश्रय लिया । मै आत्मसंयमी तथा स्वरूप-सिद्ध बना और श्रीभगवान् की भक्ति, श्रवण, चिन्तन, कीर्तन, पूजन तथा स्मरण में निरन्तर लगा रहा । मै अपने प्रयत्न में सफल रहा क्योंकि मेरा मन सर्वदा भक्ति में डूबा रहता । किन्तु, अपनी मूर्खता के कारण मेरा मन पुनः इस बार मृग में आसक्त हो गया । अब मुझे मृग शरीर प्राप्त हुआ और मै अपनी भक्ति-साधना से बहुत नीचे गिर चुका हूँ ।

तात्पर्य

अपनी कठोर भक्ति साधना के कारण महाराज भरत को अपने विगत जन्म के कर्मो का और इसका कि वे किस प्रकार सिद्ध हुए थे, स्मरण था । अपनी ही मूर्खता से वे एक तुच्छ मृग पर आसक्त होकर च्युत हुए जिससे उन्हे मृग का शरीर धारण करना पड़ा । यह प्रत्येक भक्त के लिए अत्यन्त महत्व की बात है । यदि हम अपने पद का दुरुपयोग करते है और सोचते है कि हम तो भक्ति मे पूर्णतया समर्पित है, अतः चाहे जैसा भी आचरण करे, तो हमे भरत महाराज की भाँति भोगना पड़ेगा और जिस प्रकार के शरीर से भक्ति को बाधा पहुँचती है वही शरीर धारण करना पड़ेगा । केवल मनुष्य रूप मे भक्ति की जा सकती है, किन्तु यदि हम जानबूझ कर इन्द्रिय-तृप्ति के कारण भक्ति का परित्याग करते है तो हमे निश्चय ही दण्ड मिलेगा । यह दण्ड सामान्य भौतिकवादी पुरुष का सा नही होता । श्रीभगवान् भक्त को इस प्रकार दण्डित करते है कि श्रीवासुदेव के चरणकमलो के प्रति उसकी उत्सुकता बढ़ती है और इस उत्कट इच्छा के कारण अगले जन्म में अपने धाम वापस चला जाता है ।

भक्ति का सम्यक वर्णन इस प्रकार है—**तद्-अनुश्रवण-मनन-संकीर्तनाराधनानुस्मरणाभियोगेन**। भगवद्गीता मे ईश्वर के यश का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन करने को कहा गया है—**सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः**। जिन्होने श्रीकृष्णभावना को अंगीकार किया है उन्हे चाहिए कि एक भी क्षण वृथा न जाने दे और कोई भी क्षण श्रीभगवान् के सकीर्तन स्मरण के बिना न बीतने पावे। अपने स्वय के कार्यो से तथा अपने भक्तो के कार्यो से श्रीकृष्ण हमे शिक्षा देते है कि भक्ति मे किस प्रकार सतर्क रहा जाय। भरत महाराज के माध्यम से श्रीकृष्ण हमे शिक्षा देते है कि हम भक्ति करने मे सावधान रहे। यदि हम चाहते है कि हमारे मन तनिक भी विचलित न हो तो हमे चाहिए कि हम उन्हे भक्ति मे लगाये रखे। जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय श्रीकृष्णभावनामृत सघ के सदस्यो का प्रश्न है उन्होने श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन को आगे वढाने के लिये सव कुछ त्याग दिया है। तो भी उन्हे भरत महाराज के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए और उन्हे एक भी क्षण अनर्गल वात, निद्रा या अधिक खाने मे नही गँवाना चाहिए। भोजन करना मना नही है, किन्तु अधिक खाने से अधिक नीद आयेगी। इससे इन्द्रियतृप्ति की अभिलाषा होगी और हमे निम्न योनि मे जाना पड़ेगा। इस प्रकार हमारी प्रगति, भले ही कुछ काल के लिए क्यो न हो रुक जायेगी। अत: सवसे उत्तम मार्ग है कि हम श्रील रूप गोस्वामी का उपदेश ग्रहण करे—**अव्यर्थ-कालत्वम्**। हमे चाहिए कि हमारा प्रत्येक क्षण भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य मे न लगे। परमधाम जाने के इच्छुक भक्तो के लिए यह सर्वश्रेष्ठ साधन है।

इत्येवं निगूढनिर्वेदो विसृज्य मृगीं मातरं पुनर्भगवत्क्षेत्रमुपशमशीलमुनिगणदयितं शालग्रामं पुलस्त्यपुलहाश्रमं कालञ्जरात्प्रत्याजगाम ॥३०॥

इति=इस प्रकार, **एवम्**=इस विधि से; **निगूढ**=छिपी, **निर्वेदः**=वैराग्य भावना, **विसृज्य**=त्याग कर, **मृगीम्**=मृगी को, **मातरम्**=अपनी माता, **पुनः**=फिर, **भगवत्-क्षेत्रम्**=वह क्षेत्र जहाँ परमेश्वर पूजित है, **उपशम-शील**=सासारिक आसक्तियो से सर्वथा विरक्त, **मुनि-गण-दयितम्**=जो मुनियो को अत्यधिक प्रिय है; **शालग्रामम्**=शालग्राम नामक ग्राम, **पुलस्त्य-पुलह-आश्रमम्**=पुलत्स्य तथा पुलह जैसे ऋषियो के आश्रम को, **कालञ्जरात्**=कालजर पर्वत से, जहाँ उसने मृगी के गर्भ से जन्म लिया था, **प्रत्याजगाम्**=चला आया।

अनुवाद

यद्यपि भरत महाराज को मृग शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु निरन्तर पश्चात्ताप करते रहने से वे सांसारिक वस्तुओ से पूर्णत: विरक्त हो गये थे। उन्होने ये बातें

किसी को प्रकट नहीं होने दीं। उन्होंने अपनी मृगी माता को अपने जन्म स्थान कालंजर पर्वत पर ही छोड़ दिया और स्वयं शालग्राम बन मे पुलस्त्य तथा पुलह के आश्रम में पुनः चले आये।

तात्पर्य

यह महत्वपूर्ण बात है कि वासुदेव के अनुग्रह से महाराज भरत को अपना पूर्व जीवन स्मरण रहा आया। उन्होने एक क्षण भी नष्ट नही किया। वे पुलह-आश्रम मे, जिसे शालग्राम कहते है, लौट आये। सगति अत्यन्त सार्थक होती है इसोलिए **इस्कान** इस सघ मे प्रविष्ट करने वाले प्रत्येक सदस्य को पूर्ण बनाना चाहता है। इस संघ के सदस्यो को स्मरण रखना होगा कि यह सघ कोई मुफ्त का होटल नही है। समस्त सदस्यो को अपने कर्त्तव्यो का सावधानी के साथ पालन करना चाहिए जिससे नवागत सदस्य स्वत. भक्त बनकर परमधाम को प्राप्त हो। यद्यपि भरत महाराज को मृग का शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु उन्होने अपनी जन्मभूमि, कालजर पर्वत का परित्याग कर दिया। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी जन्मभूमि तथा परिवार से बँधा न रहे; उसे चाहिए कि भक्तो की सगति प्राप्त कर श्रीकृष्णभावना का अनुशीलन करे।

तस्मिन्नपि कालं प्रतीक्षमाणः सङ्गाच्च भृशमुद्विग्न आत्मसहचरः शुष्कपर्ण-तृणवीरुधा वर्तमानो मृगत्वनिमित्तावसानमेव गणयन्मृगशरीरं तीर्थोदकक्लिन्नमुत्ससर्ज ॥ ३१ ॥

तस्मिन् अपि=उस आश्रम (पुलह आश्रम) मे, **कालम्**=मृग शरीर मे जीवन का अन्त, **प्रतीक्षमाणः**=सदैव प्रतीक्षा मे रत, **सगात्**=सगति से, **च**=तथा, **भृशम्**=लगातार, **उद्विग्न.**=चिन्तापूर्ण, **आत्म-सहचर.**=परमात्मा को ही एकमात्र सगी मानकर, (किसी को अकेले नही रहना चाहिए), **शुष्क-पर्ण-तृण-वीरुधा**=केवल सूखी पत्तियाँ तथा झाडियाँ खाकर, **वर्तमानः**=(जीवित) रहते हुए, **मृगत्व-निमित्त**=मृग शरीर धारण करने के कारण, **अवसानम्**=अन्त, **एव**=केवल, **गणयन्**=विचार करते हुए, **मृग-शरीरम्**=मृग का शरीर, **तीर्थ-उदक्-क्लिन्नम्**=उस तीर्थ स्थान के जल मे डुबाते हुए, **उत्ससर्ज**=त्याग दिया।

अनुवाद

उस आश्रम में रहते हुए महाराज भरत अब कुसंगति मे न पड़ने के प्रति सतर्क रहने लगे। किसी को भी अपना विगत जीवन बताये बिना वे उस आश्रम में मात्र सूखी पत्तियाँ खाकर रहते थे। वास्तव में वे अकेले न थे क्योकि उनके साथ पर-

मात्मा जो थे। इस प्रकार वे इस मृग शरीर के अन्तकाल की प्रतीक्षा करते रहे। अन्त में उस तीर्थस्थल में स्नान करते हुए उन्होने शरीर छोड़ दिया।

तात्पर्य

वृन्दावन, हरद्वार, प्रयाग तथा जगन्नाथ पुरी जैसे तीर्थ विशेष रूप से भक्ति साधना के लिए है, विशेषत: वृन्दावन श्रीकृष्ण के वैष्णव भक्तो के लिए जो वैकुठ लोक को प्राप्त करना चाहते है अत्युत्तम तीर्थस्थान है। वृन्दावन में ऐसे अनेक भक्त है जो नित्य यमुना मे स्नान करते है जिससे उनके सारे कलमष धुल जाते है। परमेश्वर के पवित्र नामो तथा लीलाओ का निरन्तर सकीर्तन तथा श्रवण करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है—मुक्ति का पात्र वन जाता है। किन्तु यदि कोई जानबूझ कर इन्द्रियतृप्ति का शिकार होता है तो उसे कम से कम एक वार महाराज भरत की भाँति दण्ड भोगना पडता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भक्तिवेदान्त भाष्ये भरतचरितेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पचम स्कन्ध के अन्तर्गत, "भरत महाराज के चरित्र का वर्णन" शीर्षक नामक आठवे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय नौ

जड भरत का परम चरित्र

इस अध्याय मे भरत महाराज द्वारा ब्राह्मण शरीर धारण करने का वर्णन किया गया है। वे इस शरीर मे जड, मूक तथा वधिर की भाँति वने रहे, यहाँ तक कि जव उन्हे देवी काली के समक्ष वलि चढाने के लिए प्रस्तुत किया गया तो वे कुछ वोले नही, शान्त वने रहे। मृग शरीर त्यागने के वाद उन्होने एक ब्राह्मण की सबसे छोटी पत्नी के गर्भ से जन्म लिया। इस जन्म मे उन्हे अपने पूर्व जन्म का स्मरण वना रहा और समाज के प्रभाव से बचने के उद्देश्य से वे गूँगे तथा बहरे बन गये। इस वार वे च्युत होने से सतर्क रहे। वे किसी अभक्त के साथ मेल-जोल नही रखते थे। प्रत्येक भक्त को इस विधि का पालन करना चाहिए। जैसा कि श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उपदेश किया है—**असत्संग-त्याग—एइ वैष्णव-आचार**। मनुष्य को चाहिए कि अभक्तों के सग से दूर रहे, चाहे वे अपने स्वजन ही क्यो न हो। जब भरत महाराज ब्राह्मण शरीर मे थे तो उनके पडोस के लोग उन्हे विक्षिप्त, जड व्यक्ति समझते थे, किन्तु वे अपने अन्त करण मे श्रीभगवान् वासुदेव का निरन्तर जप तथा स्मरण करते रहते। यद्यपि उनके पिता उन्हे शिक्षा देकर तथा उनका उपनयन सस्कार करके पवित्र वनाना चाहते थे, किन्तु वे इस प्रकार वने रहे कि उनके माता पिता उन्हे विक्षिप्त समझे और उन्हे सुधारने का कोई कार्य न करे। इतने पर भी वे किसी प्रकार का अनुष्ठान किये बिना कृष्ण के भक्त बने रहे। उनके मूक रहने से कुछ पशु तुल्य मनुष्यो ने उन्हे अनेक प्रकार से तग करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु वे सव कुछ सहते रहे। माता पिता की मृत्यु के पश्चात् उनकी विमाता तथा सौतेले भाई उनके साथ दुर्व्यवहार करने लगे। वे उन्हे सबसे निकृष्ट भोजन देते, किन्तु वे इसकी तनिक भी परवाह न करते, वे श्रीकृष्णभावना मे डूबे रहते। एक रात्रि उन्हे धान के खेत की रखवाली करने का कार्य सौपा गया। उस समय डाकुओ के एक दल ने उनका अपहरण कर लिया और भद्रकाली पर उनकी वलि देनी चाही। किन्तु जव डाकुओ ने देवी काली के समक्ष भरत महाराज को मारने के लिए कटार उठाई तो देवी काली उन भक्त के प्रति इस दुर्व्यवहार से सशकित हो उठी। वे मूर्ति मे से प्रकट हुई और कटार अपने हाथो मे लेकर उन डाकुओ का वध कर दिया। इस प्रकार श्रीभगवान् का शुद्ध भक्त अभक्तो के दुर्व्यवहार के प्रति मूक वना रहता है। जो दुष्ट तथा डाकू भक्त के साथ दुर्व्यवहार करते है उन्हे श्रीभगवान् दण्ड देते है।

श्रीशुक उवाच

अथ कस्यचिद् द्विजवरस्याङ्गिरः प्रवरस्य शमदमतपःस्वाध्यायाध्ययनत्याग-सन्तोषतितिक्षाप्रश्रयविद्यानसूयात्मज्ञानानन्दयुक्तस्यात्मसदृशश्रुतशीलाचाररूपौ-दार्यगुणा नव सोदर्या अङ्गजा बभूवुर्मिथुनं च यवीयस्यां भार्यायाम् ॥ १ ॥ यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृग-शरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः ॥ २ ॥

श्री-शुक-उवाच=शुकदेव गोस्वामी ने आगे कहा, **अथ**=तत्पश्चात्, **कस्यचित्**=किसी, **द्विज-वरस्य**=ब्राह्मण के, **अङ्गिरः प्रवरस्य**=आगिरस गोत्र के, **शम**=मन का नियन्त्रण, **दम**=इन्द्रियो का नियन्त्रण (दमन), **तपः**=तपस्या, **स्वाध्याय**=वैदिक साहित्य का पठन, **अध्ययन**=अध्ययन, **त्याग**=त्याग; **सन्तोष**=सन्तोष **तितिक्षा**=सहिष्णुता; **प्रश्रय**=विनय, **विद्या**=ज्ञान, **अनसूया**=ईर्ष्या रहित, **आत्म-ज्ञान-आनन्द**=आत्म-साक्षात्कार मे प्रसन्न; **युक्तस्य**=गुण सम्पन्न, **आत्म-सदृश**=तथा अपने ही समान; **श्रुत**=विद्या मे, **शील**=चरित्र मे, **आचार**=आचरण मे; **रूप**=सुन्दरता मे, **औदार्य**=उदारता मे, **गुणाः**=समस्त गुणो वाला; **नव स-उदर्याः**=एक ही गर्भ से उत्पन्न नौ भ्राता, नौ सहोदर, **अङ्ग-जा**=पुत्र; **बभूवुः**=उत्पन्न हुए, **मिथुनम्**=जुडवाँ भाई तथा बहन; **च**=तथा, **यवीयस्याम्**=सबसे छोटी, **भार्यायाम्**=स्त्री से, **यः**=जो, **तु**=लेकिन, **तत्र**=वहाँ, **पुमान्**=पुरुष (लडका), **तम्**=उसको, **परम-भागवतम्**=परम भक्त, **राज-ऋषि**=राजर्षि; **प्रवरम्**=अत्यन्त सम्मानित; **भरतम्**=महाराज भरत, **उत्सृष्ट**=त्याग कर; **मृग-शरीरम्**=मृग का शरीर, **चरम-शरीरेण**=अन्तिम शरीर से, **विप्रत्वम्**=ब्राह्मणत्व, **गतम्**=प्राप्त किया, **आहुः**=उनका कथन है।

अनुवाद

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन ! मृग शरीर त्याग कर भरत महाराज ने एक विशुद्ध ब्राह्मण के कुल मे जन्म लिया। वह ब्राह्मण अगिरा गोत्र से सम्बन्धित था और ब्राह्मण के समस्त गुणो से सम्पन्न था। वह अपने मन तथा इन्द्रियो को वश मे करने वाला तथा वैदिक एवं अन्य पूरक साहित्यो का ज्ञाता था। वह दानी, सतुष्ट, सहनशील, विनम्र, पडित तथा किसी से न ईर्ष्या करने वाला था। वह स्वरूपसिद्ध एवं ईश्वर की सेवा मे तत्पर रहने वाला था। वह सदैव समाधि में रहता था। उसकी पहली पत्नी से उसी के समान योग्य नौ पुत्र हुए और दूसरी पत्नी से जुड़वाँ भाई-बहन पैदा हुए जिनमे से लड़का सर्वोच्च भक्त तथा राजर्षियों

में अग्रणी भरत महाराज के नाम से विख्यात हुआ। तो यह कथा है उसके मृग शरीर को त्याग कर पुन: जन्म लेने की।

तात्पर्य

भरत महाराज महान भक्त थे, किन्तु उन्हे एक जन्म मे सफलता नही प्राप्त हुई। भगवद्गीता मे कहा गया है कि जो भक्त एक जन्म मे भक्ति-कार्य पूरे नही कर पाता उसे किसी योग्य ब्राह्मण कुल मे या सम्पन्न क्षत्रिय अथवा वैश्य कुल मे जन्म लेने का सुअवसर प्रदान किया जाता है —**शुचीनां श्रीमन्तां गेहे**—(भगवद्गीता ६ ४१)। भरत महाराज अपने प्रथम जन्म मे क्षत्रिय कुल मे महाराज ऋषभ के पुत्र थे, किन्तु अपने कार्यो की उपेक्षा करने तथा तुच्छ हिरण में अत्यधिक आसक्ति के कारण मृग के पुत्र के रूप मे जन्म लेना पड़ा। किन्तु भक्त होने के कारण उन्हे पूर्व जन्म की स्मृति बनी रही। पश्चात्ताप के कारण वे एकान्त जगल मे रह कर श्रीकृष्ण का ध्यान धरते रहे। तब उन्हे एक उत्तम ब्राह्मण कुल मे जन्म धारण करने का अवसर मिला।

तत्रापि स्वजनसङ्गाच्च भृशमुद्विजमानो भगवतः कर्मबन्धविध्वंसनश्रवणस्मरण-गुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य ॥ ३ ॥

तत्र अपि=उस ब्राह्मण जन्म मे भी, **स्व-जन-सङ्गात्**=अपने मित्रो तथा परिजनो की सगति से, **च**=तथा, **भृशम्**=अत्यधिक, **उद्विजमानः**=सदैव भयभीत रहते हुए कि कही पुन भ्रष्ट न हो; **भगवतः**=श्रीभगवान् का, **कर्म-बन्ध**=कर्म-फलो का बन्धन, **विध्वसन**=विनष्ट करने वाले, **श्रवण**=सुनना, **स्मरण**=याद करना; **गुण-विवरण**=ईश्वर के गुणो का विवरण सुनना, **चरण-अरविन्द**=चरण-कमल; **युगलम्**=दोनो, **मनसा**=मन से, **विदधात्**=सदैव ध्यान धरते हुए, **आत्मनः**= अपनी आत्मा का, **प्रतिघातम्**=भक्ति मार्ग मे बाधा; **आशङ्कमानः**=सदैव सशकित, **भगवत्-अनुग्रहेण**=श्रीभगवान् के अनुग्रह से, **अनुस्मृत**=स्मरण करते हुए, **स्व-पूर्व**=अपने पहिले, **जन्म-आवलिः**=जन्मो की शृखला, **आत्मानम्**=स्वय, **उन्मत्त**= पागल, **जड**=कुन्द, पत्थर तुल्य, **अन्ध**=अधा, **बधिर**=(तथा) बहरा, **स्वरूपेण**=स्वरूप के कारण, **दर्शयाम् आस**=प्रदर्शित किया, प्रकट किया, **लोकस्य**= सामान्य जनता को।

अनुवाद

भगवत्कृपा से भरत महाराज को अपने पूर्व जन्म की घटनाएँ स्मरण थीं। यद्यपि उन्हें ब्राह्मण का शरीर प्राप्त हुआ था, किन्तु वे अपने स्वजनों तथा मित्रों से, जो भक्त नही थे, अत्यन्त भयभीत थे। वे ऐसी संगति से सदैव सतर्क रहते क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं पुनः च्युत न हो जायँ। फलत: वे जनता के समक्ष उन्मत्त (पागल), जड़, अंधे तथा बहरे के रूप मे प्रकट होते रहते। इस प्रकार उन्होंने कुसंगति से अपने को बचा रखा। वे अपने अन्तःकरण में ईश्वर के चरणकमल का ध्यान धरते और ईश्वर के गुणों का जप करते रहते जो मनुष्य को कर्म-बन्धन से बचाने वाला है। इस प्रकार उन्होने अपने को अभक्त संगियो के आक्रमण से बचा रखा।

तात्पर्य

गुणो के ससर्ग से प्रत्येक जीव विभिन्न कर्मो से बँधा हुआ है। जैसा कि भगवद्गीता मे (१३ २१) कथन है—**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योयोनिजन्मसु**—"यह प्रकृति के सग के कारण है। इस तरह वह विभिन्न योनियो मे उत्तम-अधम योनियाँ प्राप्त करता है।"

हम अपने कर्मो के अनुसार चौरासी लाख योनियो मे से विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करते है। **कर्मणा-दैव-नेत्रेण**—हम तीन गुणो से दूषित प्रकृति के वश मे रह कर कार्य करते है और इस प्रकार से हमे ईश्वर की आज्ञा से एक विशेष प्रकार का शरीर प्राप्त होता है। यही **कर्म-बन्ध** कहलाता है। इस कर्म-बन्ध से बाहर निकलने के लिए भक्ति में सलग्न होने को आवश्यकता होती है। तब मनुष्य पर प्रकृति के गुणो का प्रभाव नही पडता। भगवद्गीता के अनुसार (१४.२६)—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

"जो पूर्णरूप से भक्तियोग के परायण है, जो किसी भी स्थिति मे उससे गिरता नही वह अविलम्व त्रिगुणमयी माया का उल्लघन करके ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।" भौतिक गुणो के प्रति निश्चेष्ट बनने का उपाय है अपने को भक्ति मे लगाना—**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः**। यही जीवन की सिद्धि है। महाराज भरत ब्राह्मण रूप मे जन्म लेकर ब्राह्मण कर्तव्यो मे रुचि नही दिखाते थे, परन्तु वे भीतर ही भीतर शुद्ध वैष्णव रहकर ईश्वर के चरणकमल का निरन्तर चिन्तन करते रहे। भगवद्गीता का उपदेश है—**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु**। यही एकमात्र विधि है जिसके द्वारा वारम्वार जन्म-मरण के भय से वचा जा सकता है।

तस्यापि ह वा आत्मजस्य विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमनाआसमावर्तनात्संस्कारान् यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन् कर्मनियमाननभिप्रेतानपि समशिक्षयदनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति ॥ ४ ॥

तस्य=उस, **अपि ह वा**=निश्चय ही, **आत्म-जयस्य**=अपने पुत्र का; **विप्रः**=जड भरत के ब्राह्मण पिता (विक्षिप्त भरत), **पुत्र-स्नेह-अनुबद्ध-मना**=पुत्र प्रेम के कारण मन बँध जाने से, **आ-सम-आवर्तनात्**=ब्रह्मचर्य आश्रम के समाप्त होने तक; **संस्काराम्**=सस्कारो को, **यथा-उपदेशम्**=शास्त्रो मे वर्णित विधि के अनुसार; **विदधानः**=करते हुए; **उपनीतस्य**=जिसका उपनयन सस्कार हो, उसका; **च**=तथा, **पुनः**=फिर, **शौच-आचमन-आदीन्**=स्वच्छता, मुख, हाथ, पाँव धोने इत्यादि का अभ्यास; **कर्म-नियमान्**=कर्म के विधि-विधान, **अनभिप्रेतान् अपि**=जड भरत के न चाहने पर भी, **समशिक्षयत्**=शिक्षा दी, **अनुशिष्टेन**=विधि-विधानो का पालन करना सिखाया; **हि**=निश्चय ही; **भाव्यम्**=हो; **पितुः**=पिता से; **पुत्रेण**=पुत्र, **इति**=इस प्रकार।

अनुवाद

ब्राह्मण पिता का मन अपने पुत्र जड भरत के प्रति स्नेह से पूरित होने के कारण उससे अत्यधिक अनुरक्त था। जड भरत गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए अयोग्य थे और ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति तक वह शौचादि कर्म ही कर पाते। यद्यपि जड भरत अपने पिता की शिक्षाओं को मानने मे आनाकानी करते तो भी उस ब्राह्मण ने यह सोचकर कि पिता का कर्तव्य है कि अपने पुत्र को शिक्षा दे, जड भरत को स्वच्छ रहने तथा प्रक्षालन करने की शिक्षा दी।

तात्पर्य

जड भरत ब्राह्मण शरीर मे महाराज भरत ही थे। वे ऊपर ऊपर ऐसा आचरण कर रहे थे मानो जड़, बहरे, गूँगे तथा अन्धे हो। किन्तु वास्तव में भीतर से वे अत्यन्त जागरूक थे। उन्हे कर्म फल तथा भक्ति फल का पूर्ण ज्ञान था। ब्राह्मण शरीर मे महाराज भरत अन्त.करण से भक्ति मे डूबे रहते, फलत. उन्हे सकाम कर्म के विधि-विधानो के करने की कोई आवश्यकता नही थी जैसा कि श्रीमद्भागवत मे (१ २.१३) पुष्टि की गई है—**स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्**। मनुष्य को श्रीभगवान् हरि को प्रसन्न करना चाहिए। सकाम कर्म की यही सिद्धि है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत मे (१.२.८) यह भी कहा गया है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

"वृत्ति का विचार किये विना मनुष्यो द्वारा किया गया धर्म वृथा श्रम के समान है यदि उससे परमेश्वर के सदेश के प्रति आकर्षण उत्पन्न नही होता।" इन कर्मकाण्डों की तभी तक आवश्यकता पड़ती है जब तक कृष्णभक्ति जागृत नही होती। यदि कृष्ण भक्ति प्राप्त हो जाय तो फिर इन कर्मकाण्डो के करने की कोई आवश्यकता नही रह जाती। श्रील माधवेन्द्र पुरी ने कहा, "हे कर्मकाण्ड के विधि-विधान, मुझे क्षमा करो। मै इनका पालन नही कर सकता क्योकि मै भक्ति मे सलग्न हूँ।" वे चाहते थे कि किसी वृक्ष के नीचे बैठकर "हरे कृष्ण महामन्त्र" का जप करते रहे। फलतः वे कोई विधि-विधान नही करते थे। इसी प्रकार हरिदास ठाकुर एक मुसलमान परिवार मे उत्पन्न होने के कारण कर्म-काण्ड पद्धति की शिक्षा नही प्राप्त कर पाये थे, किन्तु वे ईश्वर के पवित्र नाम का निरन्तर जप करते थे। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभु ने उन्हे **नामाचार्य** के नाम से ग्रहण किया। जड भरत के रूप मे महाराज भरत अपने मन मे निरन्तर भक्ति मे तल्लीन रहते थे। चूँकि पूर्व के तीन जन्मो में उन्होने विधि-विधानो का पालन किया था, अतः अब वे उन्हें करने मे कोई रुचि नही दिखाते थे, यद्यपि उनके ब्राह्मण पिता उनसे ऐसा किये जाने की आशा करते थे।

स चापि तदु ह पितृसंनिधावेवासध्रीचीनमिव स्म करोति छन्दांस्यध्यापयिष्यन् सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान्मासानधीयानमप्यसवेतरूपं ग्राहयामास ॥ ५ ॥

सः=वह (जड भरत); **च**=भी, **अपि**=निस्संदेह, **तत् उ ह**=जो कुछ उसका पिता शिक्षा देता, **पितृ-सन्निद्धौ**=अपने पिता की उपस्थिति मे, पिता के सामने; **एव**=ही; **असध्रीचीनम् इव**=मानो उसने कुछ नही समझा, असत्य; **स्म करोति**=करता था; **छन्दांसि अध्यापयिष्यन्**=चातुर्मास मे अथवा श्रावण मास से वेद मन्त्रो की शिक्षा देने का इच्छुक, **सह**=साथ-साथ; **व्याहृतिभिः**=स्वर्गलोक (भूः भुव. स्व.) के नामो का उच्चारण, **स-प्रणव-शिरः**=ओंकार से प्रारम्भ करके; **त्रि-पदीम्**=तीन पदो वाले, **सावित्रीम्**=गायत्री मन्त्र, **ग्रैष्म-वासन्तिकान्-मासान्**=चैत्र से (१५ मई से) प्रारम्भ होने वाले चार मास, **अधीयानम् अपि**=अध्ययन करते रहने पर भी; **असमवेत-रूपम्**=अपूर्ण रूप मे; **ग्राहयाम् आस**=जो सिखला दिया, अभ्यास करा दिया।

अनुवाद

अपने पिता द्वारा वैदिक ज्ञान की समुचित शिक्षा दिये जाने पर भी जड भरत उनके समक्ष मूर्ख (जड) की भाँति आचरण करते। वे ऐसा आचरण इसलिए करते जिससे उनके पिता यह समझें कि वे शिक्षा के अयोग्य हैं और इस प्रकार उसे आगे

शिक्षा देना बन्द कर दे। वे सर्वथा विपरीत आचरण करते। यद्यपि शौच के बाद हाथ धोने को कहा जाता, किन्तु वे उन्हें उसके पहले ही धो लेते। तो भी उनके पिता उन्हे वसन्त तथा ग्रीष्म काल में वैदिक शिक्षा देना चाहते थे। उन्होंने उसे ॐकार तथा व्याहृति के साथ-साथ गायत्री मंत्र सिखाने का यत्न किया, किन्तु चार मास बीत जाने पर भी वे उसे सिखाने मे सफल न हो सके।

एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः शौचाध्ययनव्रतनियमगुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावद् अनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्तेन स्वयं गृह एव प्रमत्त उपसंहृतः ॥ ६ ॥

एवम्=इस प्रकार, **स्व**=निज, **तनु-जे**=पुत्र जड भरत मे; **आत्मनि**=जिसे वे आत्मवत् मानते थे, **अनुराग-आवेशित-चित्तः**=अपने पुत्र के प्रेम मे अनुरक्त ब्राह्मण, **शौच**=पवित्रता, सफाई; **अध्ययन**=वैदिक साहित्य का अध्ययन; **व्रत**=समस्त व्रतो का पालन, **नियम**=विधि-विधान; **गुरु**=गुरु का; **अनल**=अग्नि का, **शुश्रूषण-आदि**=सेवा इत्यादि; **औपकुर्वाणक**=ब्रह्मचर्य आश्रम के; **कर्माणि**=समस्त कर्म; **अनभियुक्तानि अपि**=पुत्र के न चाहने पर भी, **समनुशिष्टेन**—पूर्णतया शिक्षित होकर, **भाव्यम्**=होवे, **इति**=इस प्रकार; **असत्-आग्रहः**=अग्राह्य मूर्खता वाले, **पुत्रम्**=पुत्र, **अनुशास्य**=शिक्षा देकर, **स्वयम्**=स्वय; **तावत्**=उस तरह; **अनधिगत-मनोरथः**=अपनी आकाक्षाएँ पूरी न होने से; **कालेन**=काल के प्रभाव से, **अप्रमत्तेन**=जो भुलक्कड़ नही है; **स्वयम्**=साक्षात्; **गृहे**=अपने घर मे; **एव**=निश्चय ही; **प्रमत्तः**=बुरी तरह से आसक्त; **उपसंहृतः**=मृत्यु हो गई, मर गया।

अनुवाद

जड भरत का ब्राह्मण पिता अपने पुत्र को अपनी आत्मा तथा हृदय के समान मानता, अतः वह उससे अत्यधिक अनुरक्त था। उसने अपने पुत्र को सुशिक्षित बनाना चाहा और अपने इस असफल प्रयास में उसने अपने पुत्र को ब्रह्मचर्य के विधि-विधान सिखाने प्रारम्भ किये, जिनमें शौच, वेदाध्ययन, कर्मकाण्ड, गुरु की सेवा, अग्नि यज्ञ करने की विधि सम्मिलित थी। उसने इस प्रकार से अपने पुत्र को शिक्षा देने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा। उसने अपने अन्तःकरण में यह आशा बाँध रखी थी कि उसका पुत्र विद्वान होगा, किन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल रहे। प्रत्येक प्राणी की भाँति यह ब्राह्मण भी अपने घर के प्रति आसक्त था और वह यह भूल ही गया कि एक दिन उसे मरना है। किन्तु मृत्यु कभी भूलती नहीं। वह उचित समय पर प्रकट हुई और उसे उठा ले गई।

तात्पर्य

जो लोग गृहस्थ जीवन मे अत्यधिक आसक्त होते है वे यह भूल जाते है कि भविष्य मे मृत्यु आकर उन्हे उठा ले जायेगी। मनुष्य का कर्तव्य है कि जीवन की समस्त समस्याओ को सुलझावे, किन्तु मनुष्य पारिवारिक झमेलो तथा कार्यो मे अत्यधिक व्यस्त हो जाते है। वे भले ही मृत्यु को भूले रहे, किन्तु मृत्यु उन्हे नही भूलती। वह एकाएक उन्हे पारिवारिक जीवन से वाहर कर देती है। कोई यह भले भूल जाये कि उसे मरना है, किन्तु मृत्यु को तो यह स्मरण रहता है। मृत्यु अपने समय से उपस्थित होती है। जड भरत का ब्राह्मण पिता पुत्र को ब्रह्मचर्य की विधि बताना चाहता था, किन्तु उसका पुत्र इसके लिए तैयार न था। जड भरत तो **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः** के द्वारा भक्ति करते हुए परमधाम लौटने के लिए ही आकुल रहता। उसे अपने पिता के वैदिक उपदेशों की कोई परवाह न थी। जव कोई व्यक्ति ईश्वर की भक्ति मे पूर्णतया अनुरक्त रहना चाहता है तो वेदवर्णित विधि-विधानो के पालन मे उसकी अभिरुचि नही रह जाती। निस्संदेह, सामान्य व्यक्ति के लिए वैदिक नियम शिरोधार्य है। कोई उनकी उपेक्षा नही कर पाता। किन्तु जिसे भक्ति मे सिद्धि प्राप्त हो जाती है तो उसके लिए वैदिक-नियमो का अनुपालन अनिवार्य नही होता। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यह उपदेश दिया कि वह वैदिक नियमो से ऊपर दिव्य स्थिति अर्थात् **निस्त्रैगुण्य** पद तक उठे। भगवद्गीता मे (२.४५) यह प्रसंग इस प्रकार है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

"वेद मुख्यत प्रकृति के तीन गुणो की व्याख्या करते है। हे अर्जुन ! तू इन गुणो का उल्लघन करके इनसे ऊपर उठ। सम्पूर्ण द्वन्द्वो तथा योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर स्वरूपनिष्ठ बन।"

अथ यवीयसी द्विजसती स्वगर्भजातं मिथुनं सपत्न्या उपन्यस्य स्वयमनुसंस्थया पतिलोकमगात् ॥ ७ ॥

अथ=तत्पश्चात्; **यवीयसी**=सबसे छोटी; **द्विज-सती**=ब्राह्मण की पत्नी, **स्व-गर्भ-जातम्**=अपने गर्भ से उत्पन्न, **मिथुनम्**=जुडवॉ बच्चे, **सपत्न्यै**=अपनी सौत को, **उपन्यस्य**=सौप कर, **स्वयम्**=स्वय, **अनुसंस्थया**=अपने पति का अनुगमन करती हुई, **पति-लोकम्**=पतिलोक को, **अगात**=चली गई।

अनुवाद

तत्पश्चात् ब्राह्मण की छोटी पत्नी अपने जुड़वा बच्चों—एक लड़का तथा एक लड़की—को अपनी बड़ी सौत को सौंप कर अपनी इच्छा से अपने पति के साथ मर कर पतिलोक चली गई ।

पितर्युपरते भ्रातर एनमतत्प्रभावविदस्त्रय्यां विद्यायामेव पर्यवसितमतयो न परविद्यायां जडमतिरिति भ्रातुरनुशासननिर्बन्धान्न्यवृत्सन्त ॥ ८ ॥

पितरि उपरते=पिता की मृत्यु के पश्चात्, **भ्रातर**=सौतेले भाई, **एनम्**=इस जड भरत को, **अ-तत्-प्रभाव-विद.**=उसकी महानता को समझे विना, **त्रय्याम्**=तीनो वेदो का, **विद्यायाम्**=कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान मे; **एव**=निस्सन्देह, **पर्यवसित**=स्थिर, **मतयः**=जिनके मन, **न**=नही, **पर-विद्यायाम्**=भक्ति के दिव्य ज्ञान मे, **जड-मतिः**=अत्यन्त मन्द बुद्धि, **इति**=इस प्रकार, **भ्रातुः**=उनका भाई (जड भरत), **अनुशासन निर्बन्धात्**=पढाने के प्रयत्न से, **न्यवृत्सन्त**=छोड़ दिया ।

अनुवाद

पिता की मृत्यु के बाद जड भरत के नौ सौतेले भाइयो ने उसे जड तथा बुद्धि-हीन समझकर उसको पूर्ण शिक्षा प्रदान करने का प्रयत्न छोड़ दिया । जड भरत के ये भाई तीनों वेदों—ऋग्, साम तथा यजुर्वेद में पारंगत थे । किन्तु वे ईश्वर की सेवा से तनिक भी परिचित न थे । फलस्वरूप वे जड भरत की सिद्ध अवस्था को नही समझ सके ।

स च प्राकृतैर्द्विपदपशुभिरुन्मत्तजडबधिरमूकेत्यभिभाष्यमाणो यदा तदनुरूपाणि प्रभाषते कर्माणि च कार्यमाणः परेच्छया करोति विष्टितो वेतनतो वा याच्ञया यदृच्छया वोपसादितमल्पं बहु मृष्टं कदन्नं वाभ्यवहरति परं नेन्द्रियप्रीतिनिमित्तम् । नित्यनिवृत्तनिमित्तस्वसिद्धविशुद्धानुभवानन्दस्वात्म-लाभाधिगमः सुखदुःखयोर्द्वन्द्वनिमित्तयोरसम्भावितदेहाभिमानः ॥ ९ ॥

शीतोष्णवातवर्षेषु वृष इवानावृताङ्गः पीनः संहननाङ्गः स्थण्डिलसंवेशना-नुन्मर्दनामज्जनरजसा महामणिरिवानभिव्यक्तब्रह्मवर्चसः कुपटावृतकटिरु-पवीतेनोरुमषिणा द्विजातिरिति ब्रह्मबन्धुरिति संज्ञयातज्ज्ञजनावमतो विचचार ॥ १० ॥

सः च=वह भी, **प्राकृतैः**=सामान्य जनो द्वारा जिनकी पहुँच आत्मतत्व तक नही है, **द्वि-पद-पशुभिः**=जो दो पैरो वाले पशुओ से कम नही है, **उन्मत्त**=पागल; **जड**=मन्द, **बधिर**=बहरा, **मूक**=गूँगा, **इति**=इस प्रकार, **अभिभाष्यमाणः**= सम्बोधित किये जाने पर, **यदा**=जब, **तत्-अनुरूपाणि**=उनका उत्तर देने के लिए उपयुक्त शब्द, **प्रभाषते**=बोलते थे, **कर्माणि**=कर्म, **च**=भी, **कार्यमाण.**=कराते हुए, **पर-इच्छया**=अन्यो की आज्ञा से, **करोति**=किया करता था, **विष्टितः**= बल प्रयोग से, बेगार, **वेतनतः**=अथवा मजदूरी से, **वा**=अथवा, **याच्ञ्या**=भीख माँगने से, **यदृच्छया**=अपनी इच्छानुसार, **वा**=अथवा, **उपसादितम्**=प्राप्त, **अल्पम्**=अत्यल्प मात्रा, **बहु**=बहुत सा, **मृष्टम्**=सुस्वादु, **कत्-अन्नम्**=वासी, स्वादहीन भोजन, **वा**=अथवा, **अभ्यवहरति**=खा लेता था, **परम्**=केवल, **न**= नही, **इन्द्रिय-प्रीति-निमित्तम्**=इन्द्रियो की तृप्ति हेतु, **नित्य**=शाश्वत, **निवृत्त**= त्याग हुआ, **निमित्त**=सकाम कर्म, **स्व-सिद्ध**=स्वत सिद्ध, **विशुद्ध**=दिव्य, **अनुभव-आनन्द**=आनन्दपूर्ण अनुभव, **स्व-आत्म-लाभ-अधिगमः**=जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया हो, **सुख-दुःखयोः**=सुख तथा दुख दोनो मे, **द्वन्द्व-निमित्तयोः**=द्वैत के कारणो मे, **असम्भावित-देह-अभिमानः**=देह मे भिन्न, **शीत**=जाडे मे, **उष्ण**= ग्रीष्म मे, **वात**=हवा मे, **वर्षेषु**=वर्षा मे, **वृषः**=साँड, **इव**=सदृश, **अनावृत-अङ्गः**=नगी देह, **पीनः**=हृष्ट पुष्ट, **संहनन-अङ्गः**=गठित अग, **स्थण्डिल-संवेशन**=पृथ्वी पर पड़े रहने से; **अनुन्मर्दन**=विना मालिश के, **अमज्जन**=विना नहाये, **रजसा**=धूलि से, **महा-मणिः**=बहुमूल्य मणि, **इव**=सदृश, **अनभिव्यक्त**=अप्रकट, **ब्रह्म-वर्चसः**=ब्रह्म-तेज, **कु-पट-आवृत**=गन्दे वस्त्र से ढका, **कटिः**=जिसकी कमर, **उपवीतेन**=यज्ञोपवीत से, **उरु-मषिणा**=धूल के कारण अत्यन्त मलिन (काला), **द्वि-जातिः**=ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न, **इति**=इस प्रकार, (घृणा के कारण कहते हुए), **ब्रह्म-बन्धु.**=ब्राह्मण का मित्र, **इति**=इस प्रकार, **संज्ञया**=ऐसे नामो से, **अ-तत्-ज्ञ-जन**=उन व्यक्तियो द्वारा जो उसकी स्थिति से अपरिचित थे, **अवमत.**=अनादृत होकर, **विचचार**=विचरण करता है।

अनुवाद

नीच पुरुष पशुओं के तुल्य होते है। अन्तर इतना ही है कि पशुओ के चार पैर होते है और ऐसे मनुष्यों के केवल दो। ऐसे दो पैर वाले पाशविक पुरुष जड भरत को पागल, मन्द, बहरा तथा गूंगा कहते थे। वे उसके साथ दुर्व्यवहार करते और जड भरत बहरे, अंधे या जड पागल की भाँति आचरण करता। वह कभी न तो प्रतिवाद करता, न ही उन्हे आश्वस्त करने का प्रयत्न करता कि वह ऐसा नही है। यदि कोई उससे कुछ कराना चाहता तो वह उनकी इच्छा पूरी करता। उसे भिक्षा या मजदूरी से अथवा अपने आप जो भी भोजन मिलता, उसे ग्रहण करता और खाता। वह इन्द्रिय-तृप्ति के लिए कभी कुछ नही खाता था क्योंकि वह पहले से उस

देहात्म-बुद्धि से मुक्त था, जिसके वशीभूत होकर स्वादिष्ट या कुस्वादिष्ट भोजन किया जाता है। वह भक्ति की दिव्य भावना से पूर्ण था, फलतः देहात्म-बुद्धि से उठने वाले द्वन्द्वों से सर्वथा अप्रभावित था। उसका शरीर साँड़ के समान बलिष्ठ था और उसके अंग-प्रत्यंग हृष्ट-पुष्ट थे। उसे न तो सर्दी-गर्मी या बयार-वर्षा की परवाह थी और न कभी वह अपने शरीर को ढकता था। वह जमीन में लेटा रहता। वह अपने शरीर में न तो कभी तेल लगाता, न ही कभी स्नान करता। शरीर मलिन होने के कारण उसका ब्रह्मतेज तथा ज्ञान उसी प्रकार अप्रकट था जिस प्रकार धूल जमने से किसी मूल्यवान मणि का तेज छिप जाता है। उसने केवल एक गन्दा लँगोट और एक काला सा यज्ञोपवीत पहन रखा था। यह जानते हुए कि वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न है, लोग उसे ब्रह्मबन्धु तथा अन्य नामो से पुकारते थे। इस प्रकार भौतिकवादी लोगो द्वारा तिरस्कृत एवं उपेक्षित होकर वह इधर-उधर घूमा करता।

तात्पर्य

श्रील नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है—**देह-स्मृति नाहि यार, संसार-बंधन काहाँ तार**। जिसे अपने शरीर पालन की इच्छा न रहे अथवा जो अपने शरीर को ढग से रखने का इच्छुक न हो और जो किसी भी परिस्थिति मे सतुष्ट रहे वह या तो पागल होगा या मुक्त। वास्तव मे जड भरत के रूप मे जन्म लेकर भरत महाराज भौतिक द्वद्वो से सर्वथा मुक्त थे। वे परमहस थे अतः उन्हे शारीरिक सुख की चिन्ता न थी।

यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत ईहमानः स्वभ्रातृभिरपि केदारकर्मणि निरूपितस्तदपि करोति किन्तु न समं विषमं न्यूनमधिकमिति वेद कणपिण्याकफलीकरणकुल्माषस्थालीपुरीषादीन्यप्यमृतवदभ्यवहरति ॥ ११ ॥

यदा=जब, **तु**=लेकिन, **परत**=अन्यो से, **आहारम्**=भोजन, **कर्म-वेतनतः**=काम करने के बदले मजूरी; **ईहमानः**=पालते देखकर, **स्व-भ्रातृभिः अपि**=अपने सौतेले भाइयो तक से, **केदार-कर्मणि**=खेत मे काम करने मे तथा कृषिकार्य देखने मे, **निरूपितः**=लगा हुआ, **तत् अपि**=उस समय भी, **करोति**=वह करता था, **किन्तु**=लेकिन, **न**=नही; **समम्**=समतल, **विषमम्**=विपम, ऊवड-खावड, **न्यूनम्**=कम, **अधिकम्**=अधिक उठी हुई, **इति**=इस प्रकार, **वेद**=जानता था; **कण**=धान के टूटे दाने, कना, **पिण्याक**=खली, **फली-करण**=धान की भूसी, **कुल्माष**=घुन-लगा अन्न, **स्थाली-पुरीष-आदीनि**=वर्तन मे लगा जला चावल आदि, **अपि**=भी, **अमृत-वत्**=अमृत के समान, **अभ्यवहरति**=खा लेता था।

अनुवाद

जड भरत केवल भोजन के लिए काम करते थे। उसके सौतेले भाइयों ने इसका लाभ उठाकर उसे कुछ भोजन के बदले खेत में काम करने में लगा दिया, किन्तु उसे खेत में ठीक से काम करने की विधि ज्ञात न थी। उसे यह ज्ञात न था कि कहाँ मिट्टी डाली जाय अथवा कहाँ की भूमि को समतल किया या ऊँचा-नीचा रखा जाय। उसके भाई उसे टूटे चावल (कना), खली, धान की भूसी, घुना अनाज तथा रसोई के बर्तनों की खुरचन दिया करते थे, किन्तु वह इन सबको अमृत के समान स्वीकार कर लेता था। उसे किसी प्रकार की शिकायत न रहती और वह इन सब चीजों को प्रसन्नतापूर्वक खा लेता था।

तात्पर्य

भगवद्गीता मे (२ १५) परमहस पद का वर्णन इस प्रकार हुआ है—**समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते**। जव किसी मनुष्य को इस ससार के सुख-दुख नही व्यापते तो वह अमृतत्व अर्थात् शाश्वत जीवन के योग्य होता है। भरत महाराज इस संसार के अपने कार्य को समाप्त करने के लिए दृढ प्रतिज्ञ थे, अत: उन्होने ससार के द्वैत की परवाह नही की। वे श्रीकृष्णभावना मे पूर्ण थे और अच्छे-बुरे तथा सुख-दुख के प्रति विरक्त थे। जैसा कि **श्रीचैतन्यचरितामृत** मे (अन्त्य ४ १७६) कहा गया है—

'द्वैते' भद्राभद्र-ज्ञान' सब—'मनोधर्म'।
'एइ भाल, एइ मन्द',—सब 'भ्रम' ॥

"इस ससार मे अच्छे तथा बुरे का विचार मानसिक कल्पना है। अत यह कहना कि 'यह अच्छा है और यह बुरा है', एक भूल है।" मनुष्य को यह समझना चाहिए कि इस द्वैत-भाव के ससार मे यह सोचना कि यह अच्छा है अथवा यह बुरा है मात्र मनगढ़त कल्पना है। अत किसी को इस भावना का अनुकरण न करके समभाव की स्थिति प्राप्त करना चाहिए।

अथ कदाचित्कश्चिद् वृषलपतिर्भद्रकाल्यै पुरुषपशुमालभतापत्यकामः ॥१२॥

अथ=तत्पश्चात्, **कदाचित्**=किसी समय, **कश्चित्**=कोई, **वृषल-पतिः**=अन्यो की सम्पत्ति लूटने वाले शूद्रो का सरदार, **भद्र-काल्यै**=भद्रकाली नामक देवी को; **पुरुष-पशुम्**=मनुष्य के रूप मे पशु; **आलभत**=बलि देने लगा, **अपत्य-काम.**=पुत्र का इच्छुक।

अनुवाद

उस समय, पुत्र की कामना से, डाकुओं का सरदार जो शूद्र कुल का था, पशु तुल्य जड मनुष्य की भद्रकाली पर बलि चढ़ाकर उपासना करना चाहता था।

तात्पर्य

निम्न श्रेणी के लोग, यथा शूद्र, अपनी कामनाओ की पूर्ति के लिए देवी काली या भद्रकाली जैसे देवताओ की उपासना करते है। इस उद्देश्य से वे कभी-कभी मूर्ति (श्रीविग्रह) के समक्ष मनुष्य का बध करते है। वे सामान्यत· ऐसा व्यक्ति चुनते है तो मन्द बुद्धि हो अर्थात् मनुष्य के रूप मे पशु हो।

तस्य ह दैवमुक्तस्य पशोः पदवीं तदनुचराः परिधावन्तो निशि निशीथसमये तमसाऽऽवृतायामनधिगतपशव आकस्मिकेन विधिना केदारान् वीरासनेन मृगवराहादिभ्यः संरक्षमाणमङ्गिरः प्रवर सुतमपश्यन् ॥१३॥

तस्य=उस सरदार का; **ह**=निश्चय ही, **द्वैव-मुक्तस्य**=संयोग्यवश वच जाने से, **पशोः**=नर-पशु का; **पदवीम्**=मार्ग, **तत्-अनुचराः**=उसके अनुयायी; **परिधावन्त:**=इधर-उधर ढँढने के लिए दौडते हुए; **निशि**=रात्रि मे, **निशीथ-समये**=अर्द्धरात्रि में, **तमसा-आवृतायाम्**=अधेरे से ढका हुआ, **अनधिगत-पशवः**=नर पशु न पकड सकने से, **आकस्मिकेन-विधिना**=दैवयोग से अकस्मात, **केदारान्**=खेतो; **वीर-आसनेन**=ऊँचे स्थान पर बने आसन से; **मृग-वराह-आदिभ्यः**=मृग, जगली सुअर आदि से, **संरक्षमाणम्**=रक्षा करता हुआ; **अङ्गिरः-प्रवर-सुतम्**=अगिरा गोत्र वाले ब्राह्मण का पुत्र, **अपश्यन्**=देखा।

अनुवाद

डाकुओं के सरदार ने बलि के लिए एक नर-पशु पकड़ा, किन्तु वह बचकर निकल भागा और सरदार ने अपने सेवकों को ढूँढ़ने के लिए आज्ञा दी। अर्द्धरात्रि के गहन अन्धकार में इधर-उधर घूमते हुए, वे एक धान के खेत मे पहुँचे जहाँ उन्होने अंगिरा वंश के एक ब्राह्मणकुमार (जडभरत) को देखा जो एक ऊँचे स्थान पर बैठ कर मृग तथा जंगली सुअरों से खेत की रखवाली कर रहा था।

अथ त एनमनवद्यलक्षणमवमृश्य भर्तृकर्मनिष्पत्तिं मन्यमाना बद्ध्वा रशनया चण्डिकागृहमुपनिन्युर्मुदा विकसितवदनाः ॥ १४ ॥

अथ=तत्पश्चात्; **ते**=वे (सरदार के सेवक), **एनम्**=इस (जड भरत), **अनवद्य-लक्षणम्**=मन्द पशु के से लक्षणो वाला क्योकि उसका शरीर साड जैसा मोटा था और वह बहरा तथा गूँगा था, **अवमृश्य**=पहचान कर; **भर्तृ-कर्म-निष्पत्तिम्** =अपने स्वामी के कार्य की सिद्धि, **मन्यमानाः**=मानते हुए, समझकर, **बद्ध्वा**= बॉधकर, **रशनया**=रस्सियो से, **चण्डिका-गृहम्**=देवी काली के मन्दिर मे, **उपनिन्युः** =ले आये, **मुदा**=परम प्रसन्नतापूर्वक; **विकसित-वदनाः**=प्रसन्न मुख सहित ।

अनुवाद

डाकू सरदार के सेवकों तथा अनुचरों ने नर-पशु के लक्षणों मे युक्त जड भरत को अत्यन्त उपयुक्त समझकर उसे बलि के लिए अत्युत्तम पाया । अतः प्रसन्नता के मारे उनके मुख चमकने लगे, उन्होंने उसे रस्सियों से बॉध लिया और देवी काली के मन्दिर में ले आये ।

तात्पर्य

भारत के कुछ भागो मे आज भी देवी काली के समक्ष पशु-तुल्य मनुष्यो की बलि चढाई जाती है । तो भी ऐसी बलि केवल शूद्रो तथा डाकुओ द्वारा चढाई जाती है । उनका कार्य धनी व्यक्ति को लूटना है और इसमे सफल होने के लिए वे देवी-काली के समक्ष नर-पशु की बलि देते है । यह ध्यान देने की बात है कि वे देवी पर कभी भी किसी बुद्धिमान मनुष्य की बलि नही देते । ब्राह्मण शरीर मे भरत महाराज गूँगे तथा बहरे प्रतीत होते थे, किन्तु तो भी वे ससार के सर्वाधिक बुद्धिमान पुरुष थे । इतने पर भी, श्रीभगवान् के प्रति सर्वथा समर्पित होने के कारण वे उसी स्थिति मे रहते आये और बध के लिए लाये जाने पर किसी प्रकार का प्रतिवाद नही किया । जैसा कि पिछले श्लोको से हमे ज्ञात है, वे इतने बली थे कि चाहते तो रस्सियो से बॉधे जाने से अपने को बचा लेते, किन्तु उन्होने कुछ भी नही किया । वे अपनी सिद्धि के लिए श्रीभगवान् पर पूरी तरह आश्रित थे । श्रील भक्ति विनोद ठाकुर परमेश्वर के प्रति समर्पण का वर्णन इस प्रकार करते है—

मारबि राखबि—यो इच्छा तोहारा
नित्य-दास-प्रति तुया अधिकारा

"हे ईश्वर ! मैने आपको आत्मसमर्पण कर दिया है । मै आपका शाश्वत सेवक हूँ और यदि आप चाहे तो मुझे मारे या मेरी रक्षा करे । प्रत्येक दशा मे मुझ पर आपका अधिकार है ।"

अथ पणयस्तं स्वविधिनाभिषिच्याहतेन वाससाऽऽच्छाद्य भूषणालेपस्रक्तिलकादिभिरुपस्कृतं भुक्तवन्तं धूपदीपमाल्यलाजकिसलयाङ्कुरफलोपहारोपेतया वैशससंस्थया महता गीतस्तुतिमृदङ्गपणवघोषेण च पुरुषपशुं भद्रकाल्याः पुरत उपवेशयामासुः ॥ १५ ॥

अथ=तदनन्तर; **पणयः**=डाकू के समस्त अनुचरो ने, **तम्**=उसको (जड भरत को); **स्व-विधिना**=अपने विधि-विधानो के अनुसार; **अभिषिच्य**=नहलाकर, **अहतेन**=नये, **वाससा**=वस्त्र से, **आच्छाद्य**=ढक कर, **भूषण**=गहने, **आलेप**=चन्दन से लेपकर, **स्रक्**=पुष्प माला; **तिलक-आदिभिः**=तिलक आदि से, **उपस्कृतम्**=पूर्णतया सजाकर; **भुक्तवन्तम्**=भोजन करा कर; **धूप**=सुगधित द्रव्य, **दीप**=दीपक; **माल्य**=माला; **लाज**=लावा, **किसलय-अङ्कुर**=नये पत्ते तथा अंकुर, **फल**=फल, **उपहार**=अन्य सामग्री, **उपेतया**=पूर्णतया सज्जित, **वैशस-सस्थया**=वलि के लिए पूरी तैयारी, **महता**=अत्यधिक, **गीत-स्तुति**=गाना तथा प्रार्थना का; **मृदङ्ग**=विशेष प्रकार का वाद्य यत्र, **पणव**=तुरही का, **घोषेण**=ध्वनि से, **च**=भी, **पुरुष-पशुम्**=नर-पशु को; **भद्र-काल्याः**=देवी काली के; **पुरतः**=ठीक सामने, **उपवेशयाम् आसुः**=बैठा दिया।

अनुवाद

इसके पश्चात् चोरों ने नर-पशु बलि की पद्धति के अनुसार जड भरत को नहलाया, नये वस्त्र पहनाए, पशु के अनुकूल आभूषणो से अलंकृत किया, उसके शरीर पर सुगन्धित लेप किया तथा तिलक, चन्दन एवं हार से सुसज्जित किया। उसे अच्छी तरह भोजन कराने के बाद वे देवी काली के समक्ष ले आये, और देवी को धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर, फल तथा फूल की भेंट चढ़ाई। इस प्रकार उन्होने नर-पशु का बध करने के पूर्व गीत, स्तुति द्वारा एवं मृदंग तथा तुरही आदि बजाकर देवी की पूजा की। इसके पश्चात् जड भरत को मूर्ति के समक्ष बैठा दिया।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **स्वविधिना** शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वैदिक शास्त्रो के अनुसार कोई भी कृत्य विधि विधानो के अनुसार किया जाता है किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि चोरो तथा उचक्को ने नर पशु को मारने की अपनी विधि निकाली थी। तामसी शास्त्रो मे देवी काली के समक्ष बकरे या भैसे की वलि देने का विधान है, किन्तु उसमे मनुष्य की वलि का, चाहे वह कितना ही मूर्ख क्यो न हो, कोई उल्लेख नही है। यह विधान डाकुओ द्वारा कल्पित किया गया था इसीलिए स्व-विधिना

शब्द प्रयुक्त हुआ है । यहाँ तक कि आज भी अनेक यज्ञ वैदिक शास्त्रो का उल्लेख किये बिना किये जाते है । उदाहरणार्थ हाल ही मे कलकत्ता मे एक बूचडखाने का विज्ञापन देवी काली के मन्दिर के रूप मे किया गया । माँस खाने वाले लोग ऐसी दूकानो से यह सोच कर माँस खरीदते है कि यह देवी काली का प्रसाद है । देवी काली के समक्ष बकरे या इसी प्रकार के पशु की बलि का उल्लेख शास्त्रो मे इस दृष्टि से हुआ है कि लोग बूचडखानो से मास न खरीदे और इस प्रकार पशुओ के वध के लिए उत्तरदायी न हो । बद्धजीवो मे माँस खाने तथा सभोग करने की सहज प्रवृत्ति होती है, फलत शास्त्र उन्हे कुछ छूट देते है । वास्तव मे शास्त्रो का उद्देश्य ऐसी जघन्य प्रवृत्तियो को रोकना है, किन्तु साथ ही वे उनके लिए कुछ विधि-विधान भी प्रदान करते है ।

अथ वृषलराजपणिः पुरुषपशोरसृगासवेन देवीं भद्रकालीं यक्ष्यमाण-स्तदभिमन्त्रितमसिमतिकरालनिशितमुपाददे ॥ १६ ॥

अथ=तदनन्तर, **वृषल-राज-पणिः**=डाकुओ के सरदार का पुरोहित, **पुरुष-पशोः**=बलि के लिए लाया गया पशु तुल्य नर (जड भरत) का, **असृक्-आसवेन**=रक्त के आसव से, **देवीम्**=श्रीविग्रह को, **भद्र-कालीम्**=देवी काली, **यक्षमाणः**=बलि देने का इच्छुक, **तत्-अभिमन्त्रितम्**=भद्रकाली के मन्त्र से पवित्र की गयी, **असिम्**=तलवार, खड्ग, **अति-कराल**=अत्यन्त भयानक, **निशितम्**=अत्यन्त पैनी, **उपाददे**=हाथ मे ली ।

अनुवाद

उस समय, चोरों का प्रमुख पुरोहित भद्रकाली को पीने के लिए नर-पशु जड भरत का रक्त-आसव चढ़ाने के लिए तत्पर था । अत. उसने अत्यन्त भयावनी तथा पैनी तलवार निकाली और भद्रकाली के मन्त्र से पवित्र करके जड भरत को मारने के लिए उठाया ।

इति तेषां वृषलानां रजस्तमःप्रकृतीनां धनमदरजउत्सिक्तमनसां भगवत्कलावीर-कुलं कदर्थीकृत्योत्पथेन स्वैरं विहरतां हिंसाविहाराणां कर्मातिदारुणं यद्ब्रह्म-भूतस्य साक्षाद्ब्रह्मर्षिसुतस्य निर्वैरस्य सर्वभूतसुहृदः सूनायामप्यननुमतमालम्भनं तदुपलभ्य ब्रह्मतेजसातिदुर्विषहेण दन्दह्यमानेन वपुषा सहसोच्चचाट सैव देवी भद्रकाली ॥ १७ ॥

इति=इस प्रकार, **तेषाम्**=उनका, **वृषलानाम्**=शूद्रों का; जिनसे समस्त धार्मिक नियम नष्ट होते है, **रजः**=रजोगुण; **तमः**=तमोगुण; **प्रकृतीनाम्**=गुणों वाले, **धन-मद**=सम्पत्ति के कारण उत्पन्न गर्व, **रजः**=काम द्वारा; **उत्सिक्त**=फूला हुआ, उन्मत्त; **मनसाम्**=जिनके मन, **भगवत् कला**=श्रीभगवान् के अंश का विस्तार, अंशस्वरूप; **वीर-कुलम्**=महान पुरुषो (ब्राह्मणों) का कुल (समूह), **कत्-अर्थी-कृत्य**=अनादर करके, **उत्पथेन**=कुमार्ग से, **स्वैरम्**=स्वेच्छा से, **विहरताम्**=आगे बढ रहे, **हिंसा-विहाराणाम्**=जिनका कार्य अन्यो पर हिंसा करना है; **कर्म**=कर्म, कार्य, **अति-दारुणम्**=अत्यन्त भयावह, **यत्**=जो, **ब्रह्म-भूतस्य**=ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न स्वरूपसिद्ध व्यक्ति, **साक्षात्**=प्रत्यक्ष; **ब्रह्म-ऋषि-सुतस्य**=सात्विक ब्राह्मण के पुत्र का; **निर्वैरस्य**=वैरविहीन का, **सर्वभूत-सुहृद**=सबों का शुभचिन्तक, **सूनायाम**=अन्तिम क्षण मे; **अपि**=यद्यपि, **अननुमतम्**=अविहित; **आलम्भनम्**=ईश्वर की इच्छा के विपरीत, **तत्**=वह, **उपलभ्य**=देखकर, **ब्रह्म-तेजसा**=सात्विक आनन्द के तेज से, **अति-दुर्विषहेण**=अत्यन्त प्रखर अत. असह्य; **दन्दह्यमानेन**=ज्वलित; **वपुषा**=शरीर से, **सहसा**=एकाएक, **उच्चचाट**=मूर्ति को विदीर्ण करके, **सा**=वह (देवी); **एव**=निस्सदेह, **देवी**=देवी, **भद्रकाली**=भद्रकाली ।

अनुवाद

जिन चोर-उचक्कों ने देवी काली के पूजन का प्रबन्ध कर रखा था वे अत्यन्त नीच थे और रजो तथा तमो गुण से बँधे थे । वे धनवान बनने की अजेय कामना से ओतप्रोत थे, अत: उन्होंने वेदों की आज्ञाओं का तिरस्कार किया । यहाँ तक कि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न स्वरूपसिद्ध जीवात्मा जड भरत का बध करने के लिए उद्यत थे। द्वेषवश वे उन्हें देवी काली के समक्ष बलि करने के लिए लाये थे । ऐसे व्यक्ति सदैव ईर्ष्यालु कार्यों में रत रहते है इसीलिए वे जड भरत को मारने का दुस्साहस कर सके । किन्तु जड भरत समस्त जीवो के परम मित्र थे। वे किसी के भी शत्रु न थे और सदैव श्रीभगवान् के ध्यान में मग्न रहते । उनका जन्म उत्तम ब्राह्मण कुल में हुआ था, अत: यदि वे किसी के शत्रु होते अथवा आक्रामक होते तो भी उनका बध वर्जित था । किसी भी दशा में जड भरत को बध किये जाने का कोई औचित्य न था, अतः यह भद्रकाली से सहन नहीं हो सका। वह तुरन्त समझ गई कि ये पापी डाकू ईश्वर के एक परम भक्त का वध करने वाले हैं । अतः सहसा मूर्ति को विदीर्ण करके साक्षात् देवी काली प्रकट हुई । उनका शरीर प्रखर तथा असह्य तेज से जल रहा था ।

तात्पर्य

वैदिक आज्ञानुसार केवल आक्रामक का वध किया जा सकता है। यदि कोई मारने के उद्देश्य से आवे तो आत्मरक्षा हेतु उसका तुरन्त वध किया जा सकता है।

यह भी कहा गया है कि यदि कोई घर में आग लगाने या किसी की स्त्री को अपवित्र करने या हरने के उद्देश्य से आवे तो उसका वध किया जा सकता है। भगवान् रामचन्द्र ने रावण के समस्त परिवार का वध कर दिया क्योकि रावण ने उनकी पत्नी सीता देवी का अपहरण किया था। किन्तु शास्त्रों मे अन्य किसी कार्य के लिए बध की आज्ञा नही है। देवताओ पर पशुओ की वलि की अनुमति उन लोगो को है जो मास खाते है। मासाहार पर यह एक प्रकार का प्रतिवन्ध है। दूसरे शब्दो मे, वेदो मे कुछ नियमों के द्वारा पशुओ के बध पर प्रतिवन्ध हैं। इन बातो पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि उच्च ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न जड भरत को मारने का कोई औचित्य नही है। वह ब्राह्मणस्वरूप थे और सभी जीवो के शुभचिन्तक थे। वेदो के अनुसार चोरो-उचक्को द्वारा जड भरत के वध की आज्ञा नही प्राप्त होती। फलत. देवी भद्रकाली ईश्वर के भक्त की रक्षा हेतु मूर्ति मे से प्रकट हुई। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर इस प्रकार व्याख्या करते है कि जड भरत का ब्रह्म तेज ऐसा था कि मूर्ति विदीर्ण हो गई। रजो तथा तमोगुणी चोर-उचक्के तथा ऐश्वर्य से प्रमत्त व्यक्ति ही देवी काली के समक्ष मनुष्य की वलि करते है। वेदो द्वारा इसकी अनुमति नही है। इस समय पूरे विश्व मे हजारो कसाईघर है जो ऐश्वर्य के पीछे दीवाने लोगो द्वारा सचालित किये जाते है। भागवत सम्प्रदाय द्वारा ऐसे कृत्यो का कभी भी अनुमोदन नही होता।

भृशममर्षरोषावेशरभसविलसितभ्रुकुटिविटपकुटिलदंष्ट्रारुणेक्षणाटोपातिभयानक-वदना हन्तुकामेवेदं महाट्टहासमतिसंरम्भेण विमुञ्चन्ती तत उत्पत्य पापीयसां दुष्टानां तेनैवासिना विवृक्णशीर्ष्णां गलात्स्रवन्तमसृगासव-मत्युष्णं सह गणेन निपीयातिपानमदविह्वलोच्चैस्तरां स्वपार्षदैः सह जगौ ननर्त च विजहार च शिरःकन्दुकलीलया ॥ १८ ॥

भृशम्=अत्यधिक, **अमर्ष**=पापों के कारण अत्यन्त असहनशीलता, **रोष**=क्रोध, **आवेश**=डूबे रहने से, **रभस-विलसित**=चढी हुई, **भ्रु-कुटि**=भौहे, **विटप**=शाखाएँ, **कुटिल**=टेढी, **दंष्ट्रा**=बड़े दाँत (दाढे), **अरुण-ईक्षण**=लाल लाल नेत्र, **आटोप**=विक्षोभ से, **अति**=अत्यधिक, **भयानक**=डरावना, **वदना**=मुख वाली, **हन्तु-काम**=सहार करने की इच्छुक, **इव**=मानो, **इदम्**=यह ब्रह्माण्ड, **महा-अट्ट-हासम्**=अत्यन्त डरावनी हँसी, **अति**=अत्यधिक, **संरम्भेण**=क्रोध के कारण, **विमुञ्चन्ती**=छोडती हुई, **ततः**=उस बलि वेदी से; **उत्पत्य**=उछल कर, **पापीयसाम्**=समस्त पापी, **दुष्टानाम्**=दुष्टो का, **तेन एव असिना**=उसी तलवार से, **विवृक्ण**=छिन्न, **शीर्ष्णाम्**=सिर, **गलात्**=गर्दन से; **स्रवन्तम्**=बहते हुए,

असृक्-आसवम् = रक्त रूपी मादक द्रव (आसव), **अति-उष्णं** = अत्यन्त गरम; **सह** = समेत; **गणेन** = अपने गणो के, **निपीय** = पीते हुए; **अति-पान** = अत्यधिक पीने से, **मद** = नशे से, **विह्वल** = वश मे आये हुए, **उच्चैः-तराम्** = अत्यन्त उच्च स्वर से, **स्व-पार्षदैः** = अपने गणो के; **सह** = साथ; **जगौ** = गाया, **ननर्त** = नाचा, **च** = भी; **विजहार** = खेल किया, **च** = भी, **शिरः-कंदुक** = सिरो को गेद के समान प्रयुक्त करते हुए; **लीलया** = खेल में ।

अनुवाद

होने वाले अत्याचारों को न सहन कर सकने के कारण क्रुद्ध देवी काली की आँखें चमकने लगीं और उनके कराल वक्र दाँत (दाढें) दिखने लगे। उनकी लाल-लाल आँखें चमकने लगी और उनकी आकृति डरावनी हो गई। उन्होंने अत्यन्त भयावना शरीर धारण कर लिया मानो समस्त सृष्टि का संहार करने को उद्यत हों। वे बलिवेदी से कूदी और तुरन्त ही उन चोर-उचक्कों के सिर उसी तलवार से उतार लिये जिससे वे जड भरत का बध करने जा रहे थे। फिर छिन्न सिरों वाले उन चोरों के गले से निकलने वाले तप्त रक्त को पीने लगी मानो मदिरा (आसव) पान कर रही हों। उन्होंने अपने गणों के सहित, जिनमें डाइने तथा असुर पत्नियाँ थीं, उस आसव का छक कर पान किया और फिर प्रमत्त होकर उच्च स्वर से गाने तथा नाचने लगी मानो समस्त ब्रह्माण्ड का संहार कर डालेगी। उसी समय वे उनके सिरों को गेंद के समान उछाल कर खेलने लगी।

तात्पर्य

इस श्लोक से स्पष्ट है कि देवी काली अपने सभी भक्तो का पक्ष नही लेती। देवी काली का कार्य है असुरो को दण्ड देना और बध करना। देवी काली (दुर्गा) अनेक असुरो, डाकुओ तथा समाज के बुरे तत्वो का शिरोच्छेद करने मे लगी रहती है। मूर्ख लोग श्रीकृष्णभावना की उपेक्षा करके देवी को प्रसन्न करने के लिए अनेक निकृष्ट वस्तुये भेट चढाते है, किन्तु अन्त में थोडी सी भी त्रुटि रह जाने पर वे इन उपासको का प्राण लेकर दण्डित करती है। आसुरी लोग धन लाभ के लिए देवी काली की उपासना करते है, किन्तु पूजा के नाम पर किये गये पापो के लिए उन्हे क्षमा नही किया जाता। मूर्ति पर मनुष्य या पशु की बलि विशेष रूप से वर्जित है।

एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कार्त्स्न्येनात्मने फलति ॥ १६ ॥

एवम् एव = इस प्रकार, **खलु** = निस्सदेह, **महत्** = महापुरुषो को, **अभिचार** = ईर्ष्या के रूप मे, **अति-क्रमः** = पाप की सीमा, **कार्त्स्न्येन** = सदैव, **आत्मने** = अपने ही ऊपर, **फलति** = प्रतिफलित होता है, पड़ता है।

अनुवाद

जब कोई ईर्ष्यालु व्यक्ति किसी महापुरुष के समक्ष कोई अत्याचार (पाप कर्म) करता है तो उसे सदैव उपर्युक्त विधि से दंडित किया जाता है।

न वा एतद्विष्णुदत्त महदद्भुतं यदसम्भ्रमः स्वशिरश्छेदन आपतितेऽपि विमुक्तदेहाद्यात्मभावसुदृढहृदयग्रन्थीनां सर्वसत्त्वसुहृदात्मनां निर्वैराणां साक्षाद्भगवतानिमिषारिवरायुधेनाप्रमत्तेन तैस्तैर्भावैः परिरक्ष्यमाणानां तत्पादमूलमकुतश्चिद्भयमुपसृतानां भागवतपरमहंसानाम् ॥ २० ॥

न=नही, **वा**=अथवा, **एतत्**=यह, **विष्णु-दत्त**=हे भगवान् विष्णु द्वारा रक्षित, महाराज परीक्षित, **महत्**=महान, **अद्भुतम्**=आश्चर्य, **यत्**=जो, **असम्भ्रमः**=व्याकुलता का अभाव; **स्व-शिरः-छेदने**=अपना सिर काटे जाते समय, **आपतिते**=आ पडने पर; **अपि**=यद्यपि, **विमुक्तः**=पूर्णतया मुक्त, **देह-आदि-आत्म-भाव**=जीवन का झूठा देहात्म-बोध, **सु-दृढ**=अत्यन्त पुष्ट, **हृदय-ग्रन्थीनाम्**=हृदय-ग्रन्थि वालो का, **सर्व-सत्त्व-सुहृत्-आत्मनाम्**=अपने मन मे सबो का कल्याण चाहने वाले व्यक्तियो का, **निर्वैराणाम्**=जिनके एक भी शत्रु नही है, उनका, **साक्षात्**=प्रत्यक्ष, **भगवता**=श्रीभगवान् द्वारा, **अनिमिष**=तत्काल; **अरि-वर**=शस्त्रो मे श्रेष्ठ सुदर्शन चक्र, **आयुधेन**=आयुधधारी द्वारा, **अप्रमत्तेन**=कभी क्षुब्ध न होने वाला, **तैः तैः**=उन-उनसे, **भावैः**=श्रीभगवान् के रूप, **परिरक्ष्यमाणानाम्**=रक्षित पुरुषो का, **तत्-पाद-मूलम्**=श्रीभगवान् के चरणकमल मे, **अकुतश्चित्**=कही से भी नही, **भयम्**=डर, भय, **उपसृतानाम्**=शरणागतो का, **भागवत**=ईश्वर के भक्तो का, **परम-हंसानाम्**=परमहसो का, मुक्त पुरुषो का।

अनुवाद

तब शुकदेव गोस्वामी ने महाराज परीक्षित से कहा—हे विष्णुदत्त! आत्मा को शरीर से पृथक मानने वाले, हृदय-ग्रंथि से मुक्त, समस्त जीवों के कल्याण कार्य में निरन्तर अनुरक्त तथा दूसरो का अनभला न सोचने वाले व्यक्ति सदैव चक्रधारी तथा असुरो के लिए परम काल एवं भक्तों के रक्षक श्रीभगवान् द्वारा सदैव रक्षित होते है। भक्त सदैव ईश्वर के चरणकमल की शरण ग्रहण करते है। फलतः सिर कटने का अवसर आने पर भी वे सदैव अक्षुब्ध रहे आते है। यह उनके लिए तनिक भी आश्चर्यजनक नही है।

तात्पर्य

ये श्रीभगवान् के कुछ महान गुण है। पहले तो भक्त अपनी आध्यात्मिक पहचान

के प्रति आश्वस्त होता है। वह अपने को शरीर नही मानता, उसे दृढ विश्वास हो जाता है कि उसकी आत्मा देह से भिन्न है। अत. उसे किसी का भय नही रह जाता। यहाँ तक कि जीवन का सकट उत्पन्न होने पर भी वह भयभीत नहीं होता। वह शत्रु को भी शत्रु नही मानता। भक्तो के ऐसे-ऐसे गुण है। वे श्रीभगवान् पर सभी प्रकार से आश्रित रहते है और ईश्वर भी समस्त परिस्थितियो मे उनकी रक्षा करने के लिए उत्सुक रहता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भक्तिवेदान्त भाष्ये जडभरत चरिते नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पचम स्कन्ध के अन्तर्गत, "जड भरत का परम चरित्र" शीर्षक नामक नौवे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय दस

जड भरत तथा महाराज रहूगण की वार्ता

इस अध्याय मे भरत महाराज अर्थात् जड भरत को सिधु तथा सौवीर राज्यो के शासक राजा रहूगण ने अगीकार कर लिया। उस राजा ने जड भरत को अपनी पालकी ढोने के लिए विवश किया और ठीक से न उठाने के कारण उसकी भर्त्सना की। राजा रहूगण को पालकी ढोने वाले (कहार) की आवश्यकता थी जिसके लिए जड भरत को अत्यन्त उपयुक्त पाया गया। अत. उसे पालकी ढोने के लिए वाध्य किया गया। किन्तु जड भरत ने इस आज्ञा का प्रतिवाद नही किया, उल्टे इसे स्वीकार करके पालकी ढोने लगे। जब वे पालकी उठाये रहते तो वे सतर्क होकर देखते चलते कि उनके पॉव के नीचे एक चीटी तक न आये, अत. जव कोई चीटी दिखती तो वे उसके निकल जाने के समय तक रुके रहते। फलतः वे अन्य कहारो के साथ कदम मिलाकर नही चल पाते थे। इससे पालकी मे वैठा राजा अत्यन्त विचलित हुआ और उसने जड भरत को फूहड गाली दी, किन्तु जड भरत ने कोई प्रतिवाद नही किया क्योकि वे देहात्म-बुद्धि से सर्वथा मुक्त थे, वे पालकी उठाये चलते रहे। जब उन्होने फिर वैसा किया तो राजा ने दण्डित करने की धमकी दी। प्रतिक्रियास्वरूप जड भरत वोलने लगे। उन्होने राजा द्वारा प्रयुक्त गन्दी भाषा का प्रतिवाद किया। जड भरत के उपदेशो को सुनकर राजा को आत्मज्ञान हुआ। ज्ञान आने पर उसने समझा कि उसने एक महान तथा साधु पुरुष का अपमान किया है। उस समय उसने विनीत भाव से आदरपूर्वक जड भरत की प्रार्थना की। अब उसे जड भरत द्वारा प्रयुक्त गूढ शब्दो के अर्थ जानने की इच्छा हुई और उसने क्षमा-याचना की। उसने स्वीकार किया कि यदि कोई शुद्ध भक्त के चरण-कमल की उपेक्षा करता है तो वह भगवान् शिव के त्रिशूल द्वारा दण्डित होता है।

श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिविकावाहपुरुषान्वेषण समये दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा

युवा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह शिविकां स महानुभावः ॥ १ ॥

श्री-शुकः उवाच=शुकदेव गोस्वामी बोले, **अथ**=इस प्रकार, **सिन्धु-सौवीर पतेः**=सिधु तथा सौवीर राज्यो के शासक का, **रहू-गणस्य** रहूगण नामक राजा का, **व्रजतः**=(कपिल के आश्रम) जाते हुए, **इक्षु-मत्याः तटे**=इक्षुमती के तट पर, **तत्-कुल-पतिना**=पालकी ढोने वालो के सरदार द्वारा, **शिबिका-वाह्**=पालकीवाहक बनने के लिए, **पुरुष-अन्वेषण-समये**=आदमी की खोज करते हुए, **दैवेन**=भाग्य से, **उपसादितः**=पास गये हुए, **स.**=वह, **द्विज-वर.**=ब्राह्मण पुत्र, जड भरत, **उपलब्ध**=प्राप्त, **एषः**=यह पुरुष, **पीवा**=अत्यधिक बलिष्ठ, **युवा**=तरुण, **संहनन-अङ्गः**=सुगठित अगो वाला, **गो-खर-वत्**=बैल या गधे के समान; **धुरम्** भार, बोझा, **वोढुम**=ले जाने के लिए, **अलम्**=समर्थ, **इति**=इस प्रकार सोचते हुए, **पूर्व-विष्टि-गृहीतैः**=बलपूर्वक काम कराये जाने वाले, बेगारी मे पकड़े गये, **सह**=साथ, **गृहीत**=पकडा जाकर, **प्रसभम्**=बलपूर्वक, **अ-तत्-अर्हः**=पालकी ढोने के अयोग्य होते हुए भी, **उवाह**=ढोता था, **शिबिकाम्**=पालकी, **सः**=वह, **महा-अनुभावः**=महापुरुष।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी बोले, हे राजन! इसके बाद सिधु तथा सौवीर प्रदेशो के शासक रहूगण कपिलाश्रम जा रहे थे। जब राजा के मुख्य कहार (पालकीवाहक) इक्षुमती के तट पर पहुँचे तो उन्हे अन्य कहार की आवश्यकता हुई। अतः वे किसी व्यक्ति की खोज करने लगे और दैववश उन्हे जड भरत मिल गया। उन्होने सोचा कि यह तरुण और बलिष्ठ है और इसके अंग प्रत्यंग सुदृढ हैं। वह बैलो तथा गधो के तुल्य बोझा ढोने के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। यद्यपि महात्मा जड भरत ऐसे कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थे तो भी बिना हिचक के उन्होने पालकी ढोने के लिए उन्हें बाध्य कर दिया।

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत किमित विषममुह्यते यानमिति ॥ २ ॥

यदा=जब, **हि**=निश्चय ही, **द्विज-वरस्य**=जड भरत का, **इषु-मात्र**=एक बाण आगे तक (३ फुट), **अवलोक-अनुगतेः**=देखकर ही चलने से, **न समाहिता**=मेल न खाता हुआ, **पुरुष-गतिः**=कहारो की चाल, **तदा**=उस समय, **विषम-गताम्**=असन्तुलित होने पर, **स्व-शिबिकाम्**=अपनी पालकी, **रहूगणः**=राजा

रहूगण, **उपधार्य**=समझ कर; **पुरुषान्**=पुरुषो को, **अधिवहतः**=पालकी ले जाने वाले, कहार, **आह**=कहा, **हे**=अरे!, **वोढारः**=कहारो, **साधु अतिक्रमत**=बराबर चलो जिससे उछाल न हो, **किम् इति**=किस कारण?, **विषमम्**=असतुलित, ऊँची-नीची, **उह्यते**=ले जाई जा रही है; **यानम्**=पालकी, **इति**=इस प्रकार।

अनुवाद

किन्तु अपने अहिंसक भाव के कारण जड भरत पालकी को ठीक से नही ले जा रहे थे। जैसे ही वे आगे बढ़ते, हर तीन फुट पहले वे यह देखने के लिए रुक जाते कि कही कोई चीटी तो नही है। फलतः वे अन्य कहारो से ताल-मेल नही बैठा पाते थे। इसके कारण पालकी हिल रही थी। अत. राजा रहूगण ने तुरन्त कहारो से पूछा, "तुम लोग इस पालकी को ऊँची-नीची करके क्यो ले चल रहे हो? अच्छा हो यदि इसे ठीक से ले चलो।"

तात्पर्य

यद्यपि जड भरत को पालकी ढोने के लिए बाध्य किया गया था, किन्तु उनके मन मे मार्ग से रेगने वाली चीटियो के प्रति दयाभाव बना हुआ था। ईश्वर का भक्त अत्यन्त कष्टदायक परिस्थितियो मे रहने पर भी भक्ति तथा अन्य उपयुक्त कार्यो को नही भूलता। यद्यपि जड भरत योग्य ब्राह्मण थे, किन्तु उनसे पालकी ढोने का कार्य लिया जा रहा था। उन्हे इसकी परवाह नही थी। फिर भी मार्ग पर चलते हुए उन्हे अपना यह कर्तव्य नही भूला कि एक भी चीटी नही मरनी चाहिए। वैष्णव न तो ईर्ष्या करता है, न ही वृथा उग्र बनता है। मार्ग मे अनेक चीटियाँ थी, किन्तु जड भरत तीन फुट पहले ही इन के प्रति सचेत हो जाते। जब चीटियाँ निकल जाती तभी वे आगे कदम रखते। वैष्णव समस्त जीवो के प्रति अत्यन्त दयालु होता है। भगवान् कपिलदेव **सांख्य योग** मे बताते है—**सुहृद. सर्वदेहिनाम्**। जीव विभिन्न रूप धारण करते है। जो अ-वैष्णव है वे मात्र मनुष्य समाज को अपनी दया के योग्य समझते है, किन्तु श्रीकृष्ण अपने को समस्त जीव रूपो का पिता कहते है। फलत. वैष्णव किसी भी प्राणी को असमय या वृथा ही विनष्ट नही होने देता। समस्त जीवो को विशेष देहरूप मे बँधकर कुछ कार्य करने होते है। उन्हे स्वय ही अन्य देह धारण करने के पूर्व इस शरीर के लिए निर्दिष्ट अवधि को पूरा करना होता है। इस प्रकार किसी पशु या अन्य जीव का वध उसे उस देह कार्य को पूरा करने मे बाधक बनता है। अतः किसी को भी अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के हेतु देहियो का वध नही करना चाहिए क्योकि इससे वह पाप कर्म मे फँस जायेगा।

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायतुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयांबभूवुः ॥ ३ ॥

अथ=इस प्रकार, **ते**=वे (कहार), **ईश्वर-वचः**=अपने स्वामी के शब्द, राजा रहूगण, **स-उपालम्भम्**=उलाहनापूर्वक, **उपाकर्ण्य**=सुनकर, **उपाय**=साधन, **तुरीयात्**=चौथे से, **शङ्कित-मनसः**=सशकित मन से; **तम्**=उसको (राजा को); **विज्ञापयाम् बभूवुः**=सूचित किया।

अनुवाद

जब कहारों ने राजा रहूगण की धमकी सुनी तो वे उसके दण्ड से अत्यन्त भयभीत हो गये और उनसे इस प्रकार कहने लगे।

तात्पर्य

राजनीति शास्त्र के अनुसार राजा अपने अधीनस्थ लोगो को कभी डराता है, कभी धिक्कारता है और कभी पुरस्कृत करता है। इस प्रकार वह उन पर शासन करता है। कहार समझ गये कि राजा क्रुद्ध है, अत वह उन्हे दण्डित करेगा।

न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः। अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमु ह वयं पारयाम इति ॥ ४ ॥

न=नही, **वयम्**=हम सब, **नर-देव**=हे मनुष्यो मे ईश्वर तुल्य! (राजा को देव अर्थात् श्रीभगवान् का प्रतिनिधि माना जाता है), **प्रमत्तः**=कार्य के प्रति असावधान, **भवत्-नियम-अनुपथाः**=सदैव आपके आज्ञाकारी है, **साधु**=ठीक से, **एव**=निश्चय ही, **वहामः**=ले जा रहे है, **अयम्**=यह मनुष्य, **अधुना**=नया, **एव**=निस्सदेह, **नियुक्तः**=लगाया गया, **अपि**=यद्यपि, **न**=नही, **द्रुतम्**=शीघ्रता से, **व्रजति**=चलता है, काम करता है, **न**=नही, **अनेन**=इसके, **सह**=साथ, **वोढुम्**=ढोने मे; **उ ह**=ओह!, **वयम्**=हम सभी, **पारयाम**=समर्थ है, **इति**=इस प्रकार।

अनुवाद

हे स्वामी! कृपया ध्यान दे कि हम अपना कार्य करने मे तनिक भी असावधान नही है। हम इस पालकी को आपकी इच्छानुसार ही निष्ठा से ले जा रहे है, किन्तु यह व्यक्ति, जिसे हाल ही में काम मे लगाया गया है, तेजी से नही चल पा रहा। अतः हम उसके साथ पालकी ले जाने मे असमर्थ है।

तात्पर्य

पालकी के अन्य वाहक शूद्र थे, जबकि जड भरत न केवल उच्च-कुलीन ब्राह्मण थे वरन परम भक्त भी थे। शद्रो को किसी अन्य जीव पर दया नही आती, किन्तु

वैष्णव कभी शूद्र के समान आचरण नही करता। अतः जब भी शूद्रों एवं वैष्णवो को एकसाथ किया जाता है तो कर्तव्य पालन मे असतुलन आता है। शूद्र चीटियो की परवाह किये बिना पालकी ले जा रहे थे, जब कि जड भरत शूद्रो के समान व्यवहार नही कर सकते थे इसीलिए यह कठिनाई उत्पन्न हुई।

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासित-वृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युरविस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसाऽऽवृत मतिराह ॥ ५ ॥

सांसर्गिकः=ससर्ग से उत्पन्न, **दोषः**=अवगुण, त्रुटि, **एव**=निस्सदेह, **नूनम्**=निश्चय ही; **एकस्य**=एक व्यक्ति का, **अपि**=यद्यपि, **सर्वेषाम्**=अन्य सब, **सांसर्गिकाणाम्**=उसके ससर्ग मे आने वाले व्यक्तियो का, **भवितुम्**=होना, **अर्हति**=सम्भव है, **इति**=इस प्रकार. **निश्चित्य**=निश्चय करके, **निशम्य**=सुनकर, **कृपण-वचः**=दण्ड भय से भयभीत दीन सेवको के वचन, **राजा**=राजा, **रहूगणः**=रहूगण, **उपासित-वृद्धः**=अनेक महापुरुषो का उपदेश सुना तथा उनकी सेवा किया हुआ, **अपि**=तो भी, **निसर्गेण**=अपने स्वभाव से, जो क्षत्रिय का था, **बलात्**=बलपूर्वक, **कृतः**=किया हुआ, **ईषत्**=कुछ-कुछ, **उत्थित**=जागृत, **मन्यु.**=क्रोध, **अविस्पष्ट**=ठीक से दृष्टिगोचर न होने वाला, अस्पष्ट, **ब्रह्म-तेजसम्**=उस (जड भरत) का ब्रह्म तेज, **जात-वेदसम्**=वैदिक अनुष्ठानो मे भस्म से ढकी हुई अग्नि, **इव**=के समान, **रजसा आवृत**=रजोगुण से ढकी हुई, **मतिः**=जिसकी बुद्धि, **आह**=कहा।

अनुवाद

राजा रहूगण दण्ड से भयभीत कहारो के वचन का अभिप्राय समझ रहा था। उसकी समझ में यह भी आ गया कि मात्र एक व्यक्ति के दोष के कारण पालकी ठीक से नहीं चल रही। यह सब जानते हुए तथा उनकी विनती सुनकर वह कुछ-कुछ क्रुद्ध हुआ यद्यपि वह राजनीति मे निपुण एव अत्यन्त अनुभवी था। उसका यह क्रोध राजा के जन्मजात स्वभाव से उत्पन्न हुआ था। वस्तुतः राजा रहूगण का मन रजोगुण से आवृत था, अत. वह जड भरत से, जिनका ब्रह्मतेज राख से ढकी अग्नि के समान सुस्पष्ट नही था, इस प्रकार बोला।

तात्पर्य

इस श्लोक मे रजोगुण तथा सत्वगुण का अन्तर बताया गया है। यद्यपि राजा

राजनीति और राज्य संचालन मे निपुण था तो भी रजोगुणी होने के कारण थोडा विचलित होने पर क्रुद्ध हो गया। अपने गूँगे तथा वहरे वनावे के कारण जड भरत को सभी प्रकार का अन्याय सहना पडा था तो भी वे अपने आत्मज्ञान के कारण चुप रहते आये। इतने पर भी उनका ब्रह्मतेज, उनके शरीर से अस्पष्ट रूप से झलक रहा था।

अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरु परिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान् सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान् सखे नो एवापर एते सङ्घट्टिन इति बहु विप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहं ममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह ॥ ६ ॥

अहो=ओह!, **कष्टम्**=कितना कष्टप्रद है यह, **भ्रात.**=मेरे भाई, **व्यक्तम्**=स्पष्ट, **उरु**=अत्यन्त, **परिश्रान्तः**=थके हुए, **दीर्घम्**=लम्वा, **अध्वानम्**=मार्ग, **एक.**=अकेले, **एव**=ही, **ऊहिवान्**=ढोते हुए, **सु-चिरम्**=दीर्घ काल तक, **न**=नही, **अति-पीवा**=अत्यन्त हट्टा कट्टा, **न**=नही, **संहनन-अङ्गः**=सुगठित शरीर, **जरसा**=बुढापे से, **च**=भी, **उपद्रुतः**=विचलित, दवाया हुआ, **भवान्**=आप, **सखे**=मेरे मित्र!, **नो एव**=निश्चय ही नही, **अपरे**- दूसरे, **एते**=ये सव, **सङ्घट्टिन.**=सह-कर्मी, **इति**=इस प्रकार, **बहु**=अत्यधिक, **विप्रलब्धः**=ताना मारे जाने पर, **अपि**=यद्यपि, **अविद्यया**=अज्ञान से, **रचित**=रचा हुआ, **द्रव्य-गुण-कर्म-आशय**=भौतिक तत्वो, गुणो तथा कर्मफल एव आकाक्षाओ के मिश्रण मे, **स्व-चरम-कलेवरे**=शरीर मे, जो सूक्ष्म तत्वो (मन, बुद्धि तथा अह) से चालित है; **अवस्तुनि**=ऐसी भौतिक वस्तुओ मे, **संस्थान-विशेषे**=विशेष मनोवृत्ति वाला, **अहम् मम**=मै तथा मेरा, **इति**=इस प्रकार, **अनध्यारोपित**=ऊपर से थोपा नही, **मिथ्या**=झूठा, **प्रत्ययः**=विश्वास, **ब्रह्म-भूतः**=स्वरूप-सिद्ध, ब्रह्म पद को प्राप्त, **तूष्णीम्**=चुप रहकर, **शिबिकाम्**=पालकी, **पूर्ववत्**=पहले की तरह, **उवाह**=ले गया।

अनुवाद

राजा रहूगण ने जड भरत से कहा, मेरे भाई! यह कितना कष्टप्रद है। तुम अत्यन्त थके लग रहे हो क्योकि तुम बहुत समय से और लम्बी दूरी से अकेले ही पालकी ला रहे हो। इसके अतिरिक्त, बुढ़ापे के कारण तुम अत्यधिक परेशान हो। हे मित्र! मै देख रहा हूँ कि तुम न तो मोटे-ताजे हो, न ही हट्टे-कट्टे हो। क्या तुम्हारे साथ के कहार तुम्हे सहयोग नही दे रहे?

इस प्रकार राजा ने जड भरत को ताना मारा, किन्तु इतने पर भी जड भरत

को शरीर की सुधि नहीं थी। उसे ज्ञान था कि वह शरीर नहीं है क्योंकि वह स्वरूपसिद्ध था। वह न तो मोटा था, न पतला, न ही उसे पंचभूतों तथा त्रितत्वों के इस स्थूल पदार्थ से कुछ लेना-देना था। उसे भौतिक शरीर तथा इसके दो हाथों तथा दो पैरों से कोई सरोकार न था। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते है कि वह 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् ब्रह्मरूप को प्राप्त हो चुका था। अतः राजा के व्यंग्य वचनों का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ा। वह बिना कुछ कहे पूर्ववत् पालकी को उठाये चलता रहा।

तात्पर्य

जड भरत पूर्णतया मुक्त थे। जव डाकुओ ने उनके शरीर की बलि देनी चाही थी तब भी उन्हे कोई परवाह नही थी क्योकि उन्हे ज्ञात था कि वे शरीर नही है। यदि उनका शरीर नष्ट कर दिया जाता तो भी वे परवाह नही करते क्योकि उन्हे भगवद्गीता की इस उक्ति (२.२०)—**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**—पर पूर्ण विश्वास था। उन्हे पता था कि शरीर के नष्ट होने पर भी उन्हे नही मारा जा सकता। यद्यपि उन्होने कोई प्रतिवाद नही किया, किन्तु श्रीभगवान् अपने भक्त के प्रति डाकुओं के इस अन्याय को नही सहन कर सके, अतः डाकू मारे गये और श्रीकृष्ण के अनुग्रह से वे बच गये। इस प्रसंग मे भी पालकी ढोते समय उन्हे पता था कि वे शरीर नही है। यह शरीर पालकी ले जाने मे पूर्ण सक्षम है क्योकि हृष्ट पुष्ट तथा सुगठित है। देहात्म-बोध से युक्त होने के कारण राजा के व्यग्य वचनो का उन पर कोई प्रभाव नही था। शरीर की उत्पत्ति कर्म के अनुसार होती है और प्रकृति शरीर के विकास के के लिए सारी सामग्री जुटाती है। शरीर के भीतर का आत्मा शरीर रचना से पृथक है, अतः शरीर के प्रति किया गया कोई उपकार या अपकार आत्मा को प्रभावित नही करता। वैदिक आदेश है—**असंगो ह्य अयं पुरुषः**—आत्मा कभी भी भौतिक विधानो से प्रभावित नही होता।

अथ पुनः स्वशिबिकायां विपमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति ॥ ७ ॥

अथ=तदनन्तर, **पुन.**=फिर से, **स्व-शिबिकायाम्**=अपनी पालकी मे, **विषम-गतायाम्**=जड भरत के ठीक से न चलने के कारण ऊँची-नीची होने से, **प्रकुपितः**=अत्यन्त क्रुद्ध होकर, **उवाच**=कहा, **रहूगण**=राजा रहूगण, **किम् इदम्**=यह क्या हो रहा है ?, **अरे**=हे मूर्ख !, **त्वम्**=तुम (तू), **जीवित**=जिन्दा, **मृत.**=

मरा हुआ, **माम्**=मुझको, **कत्-अर्थी-कृत्य**=उपेक्षा करके, **भर्तृ-शासनम्**=स्वामी का निरादर, **अतिचरसि**=उल्लघन कर रहे हो, **प्रमत्तस्य**=पागल का, **च**=भी, **ते**=तुम्हारा, **करोमि**=करूँगा, **चिकित्सा**=समुचित उपचार, **दड-पाणिः इव**=यमराज के समान; **प्रकृतिम्**=स्वाभाविक स्थिति, **स्वाम्**=स्वत., **भजिष्यस**=ग्रहण करोगे, **इति**=इस प्रकार।

अनुवाद

तत्पश्चात्, जब राजा ने देखा कि पालकी अब भी पूर्ववत् हिल रही है तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और कहने लगा—अरे दुष्ट ! तू क्या कर रहा है ? क्या तू जीवित ही मर गया है ? क्या तू नही जानता कि मै तेरा स्वामी हूँ ? तू मेरा अनादर कर रहा है और मेरी आज्ञा का उल्लंघन भी। इस अवज्ञा के लिए मैं तुझे मृत्यु के अधीक्षक यमराज के ही समान दण्ड दूँगा। मै तेरा सही उपचार किये देता हूँ, जिससे तू होश में आ जायेगा और ठीक से काम करेगा।

एवं बह्वबद्धमपि भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान् ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः सर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह ॥ ८ ॥

एवम्=इस प्रकार, **बहुः**=अधिक, **अबद्धम्**=अनाप-शनाप, **अपि**=यद्यपि, **भाषमाणम्**=बोलता हुआ, **नर-देव-अभिमानम्**=राजा रहूगण, जो अपने को शासक मानता था, **रजसा**=रजोगुण से, **तमसा**=तथा तमोगुण से, **अनुविद्धेन**=बढ़ते हुए, **मदेन**=घमड (पागलपन) से, **तिरस्कृत**=डाटा जाकर, **अशेष**=असख्य; **भगवत्-प्रिय-निकेतम्**=ईश्वर के भक्त, **पण्डित-मानिनम्**=अपने को अत्यन्त पडित मानते हुए, **सः**=वह; **भगवान्**=अत्यन्त शक्तिमान (जड भरत), **ब्राह्मणः**=परम योग ब्राह्मण, **ब्रह्म-भूतः**=स्वरूपसिद्ध, **सर्व-भूत-सुहृत्-आत्मा**=जो समस्त प्राणियो का मित्र है, **योग-ईश्वर**=सिद्ध योगियो का, **चर्यायाम्**=आचरण मे; **न अति-व्युत्पन्न-मतिम्**=राजा रहूगण को, जो वस्तुत. अनुभवी न था, **स्मयमान.**=कुछ-कुछ मुस्काते हुए, **इव**=सदृश, **विगत-स्मय.**=समस्त अभिमान से रहित, **इदम्**=यह, **आह**=कहा।

अनुवाद

राजा रहूगण अपने को राजा समझने के कारण देहात्म बुद्धि से ग्रस्त था और प्राकृत रजो तथा तमोगुणों से प्रभावित था। प्रमत्तता के कारण उसने जड भरत को अशोभनीय वचनो से दुत्कारा। जड भरत महान भक्त और श्रीभगवान् के

प्रिय धाम थे। यद्यपि राजा अपने आप को बड़ा पण्डित मानता था, किन्तु वह न तो महान भक्त की स्थिति से और न उसके गुणों से परिचित था। जड भरत तो साक्षात् परम धाम थे और अपने हृदय मे ईश्वर के स्वरूप को धारण करने वाले थे। वे समस्त प्राणियो के प्रिय मित्र थे और किसी प्रकार की देहात्म बुद्धि को नहीं मानते थे। अतः वे मुस्काये और इस प्रकार बोले।

तात्पर्य

इस श्लोक मे देहात्म बुद्धिमय तथा उससे परे (दिव्य) व्यक्ति का अन्तर बताया गया है। देहात्म वुद्धि के कारण राजा रहूगण अपने को राजा मानता था और जड भरत का तिरस्कार कर रहा था। किन्तु जड भरत दिव्य पद प्राप्त होने के कारण तनिक भी क्रुद्ध नही हुए, वल्कि वे मुस्कराये और राजा को उपदेश देने लगे। परम वैष्णव सभी प्राणियो का सखा होता है, अत. वह शत्रुओ का भी मित्र रहता है। वास्तव मे वह किसी को शत्रु नही समझता—**सुहृदः सर्वदेहिनाम्**। कभी-कभी वैष्णव ऊपर से अभक्त पर रोष प्रकट करता है, किन्तु यह अभक्त के लिए लाभप्रद होता है। वैदिक साहित्य मे ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े है। एक वार नारद कुबेर के दो पुत्रो—नलकूवर तथा मणिग्रीव पर क्रुद्ध हो गये तो उन्हे वृक्ष वना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद मे श्रीकृष्ण ने उनका उद्धार किया। भक्त तो परम पद पर आसीन रहता है, अत. चाहे वह प्रसन्न हो या क्रुद्ध इसमे कोई अन्तर नही पडता क्योकि प्रत्येक दशा मे वह अपना आशीर्वाद देता है।

ब्राह्मण उवाच

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः॥ ९॥

ब्राह्मणः उवाच=योग्य ब्राह्मण (जड भरत) बोला, **त्वया**=तुम्हारे द्वारा; **उदितम्**=कहा गया, **व्यक्तम्**=अत्यन्त स्पष्ट, **अविप्रलब्धम्**=विरोधाभास रहित, **भर्तुः**=ढोने वाले का, शरीर, **सः**=वह, **मे**=मेरा, **स्यात्**=ऐसा होता, **यदि**=यदि, **वीर**=हे वीर पुरुष (महाराज रहूगण), **भारः**=भार, वोझा, **गन्तुः**=चलने वाले का, अथवा शरीर, **यदि**=अगर, **स्यात्**=होना था, **अधिगम्यम्**=लक्ष्य; **अध्वा**=पथ, **पीवा**=अत्यन्त हृष्ट पुष्ट, **इति**=इस प्रकार, **राशौ**=शरीर मे, **न**=नही, **विदाम्**=स्वरूपसिद्ध पुरुषो का, **प्रवाद.**=वाद-विवाद का विषय।

अनुवाद

महान ब्राह्मण जड भरत ने कहा—हे राजन तथा वीर ! आपने जो कुछ व्यंग्य में कहा है वह सचमुच ठीक है। ये मात्र उलाहनापूर्ण शब्द नही है क्योकि शरीर तो वाहक (ढोने वाला) है। शरीर द्वारा ढोया जाने वाला भार मेरा नही है क्योकि मै तो आत्मा हूँ। आपके कथनो में तनिक भी विरोधाभास नही है क्योकि मै शरीर से भिन्न हूँ। मै पालकी का ढोने वाला नही हूँ, वह तो शरीर है। निस्सन्देह जैसा आपने संकेत किया है, पालकी ढोने मे मैने कोई श्रम नही किया क्योकि मै तो शरीर से पृथक हूँ। आपने कहा कि मै हृष्ट पुष्ट नही हूँ। ये शब्द उस व्यक्ति के सर्वथा अनुरूप है जो शरीर तथा आत्मा का अन्तर नही जानता। शरीर मोटा या दुबला हो सकता है, किन्तु कोई भी बुद्धिमान यह बात आत्मा के लिए नही कहेगा। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है मै न तो मोटा हूँ न दुबला। अतः जब आप कहते है कि मै हृष्ट पुष्ट नहीं हूँ तो आप सही है और यदि इस यात्रा का उद्देश्य तथा वहाँ तक जाने का मार्ग मेरे अपने होते तो मेरे लिए अनेक कठिनाइयाँ होती, किन्तु उनका सम्बन्ध मुझसे नही मेरे शरीर से है अत मुझे कोई कष्ट नही है।

तात्पर्य

भगवद्गीता में कहा गया है कि आत्मज्ञानी कभी शरीर के सुख तथा दुख से विचलित नही होता। यह भौतिक शरीर आत्मा से सर्वथा पृथक है और शरीर के सुख तथा दु ख व्यर्थ है। तप-साधना का उद्देश्य शरीर तथा आत्मा के अन्तर एव शरीर के सुख-दुख से आत्मा किस तरह अप्रभावित रहता है, पहचानना तथा समझना है। जड भरत आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त थे। वे देहात्म बुद्धि से सर्वथा परे थे, अतः उन्होने राजा को विश्वास दिलाया कि उनके सम्बन्ध मे कही गई उसकी विरोधी बातें आत्मस्वरूप उन पर लागू नही होती है।

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च
क्षुत्तृड् भयं कलिरिच्छा जरा च।
निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति ॥१०॥

स्थौल्यम् = स्थूलता, मोटापा, **कार्श्यम्**=कृशता, दुवलापन, **व्याधयः**=शरीर के कष्ट यथा रोग, **आधयः**=मानसिक कष्ट, **च**=तथा, **क्षुत् तृट् भयम्**=भूख, प्यास तथा भय, **कलिः**=कलह, दो व्यक्तियो के बीच झगडा, **इच्छा**=कामनाएँ, **जरा**=वृद्धावस्था, **च**=तथा, **निद्रा**=नीद, **रतिः**=प्रेम, इन्द्रियतृप्ति के लिए

आसक्ति; **मन्युः**=क्रोध, **अहम्**=झूठी पहचान (देहात्म बोध); **मदः**=मोह, **शुचः**=शोक, **देहेन**=इस शरीर से, **जातस्य**=उत्पन्न हुए का, **हि**=निश्चय ही, **मे**=मुझमे, **न**=नही; **सन्ति**=है।

अनुवाद

स्थूलता, कृशता, शारीरिक तथा मानसिक कष्ट, भूख, प्यास, भय, कलह, सुख की कामना, बुढ़ापा, निद्रा, आसक्ति, क्रोध, शोक, मोह तथा देहाभिमान—ये सभी आत्मा के भौतिक आवरण के रूपान्तर है। जो व्यक्ति देहात्म बुद्धि में लीन रहता है, वही इनसे प्रभावित होता है किन्तु मै तो समस्त प्रकार की देहात्म बुद्धि से मुक्त हूँ। फलतः मै न तो मोटा हूँ, न पतला, न ही वह सब जो आपने मेरे सम्बन्ध मे कहा है।

तात्पर्य

श्रील नरोत्तम दास ठाकुर ने गाया है—**देह-स्मृति नाहि यार, संसार-बंधन काहाँ तार।** जो सिद्ध है उसका इस शरीर से या कर्मो से कोई सम्वन्ध नही रह जाता। जव मनुष्य यह समझ जाता है कि वह शरीर नही है, अतः वह न तो मोटा है, न पतला तो उसे आत्मसाक्षात्कार होता है। किन्तु जव वह स्वरूपसिद्ध नही होता तो देहात्म बुद्धि उसे ससार मे उलझा देती है। इस समय समूचा मानव समाज देहात्म-बुद्धि के अधीन कार्यशील है, अत· शास्त्रो मे इस युग के व्यक्तियो को **द्विपद पशु** कहा गया है। जो सभ्यता ऐसे पशुओ द्वारा सचालित हो उसमे भला कोई कैसे सुखी रह सकता है? हमारा श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन पतित समाज को आत्म ज्ञान के धरातल तक उठाने के लिए प्रयत्नशील है। प्रत्येक प्राणी के लिए जड भरत की ही तरह तुरन्त स्वरूपसिद्ध हो सकना सम्भव नही है। फिर भी श्रीमद्भागवत मे (१.२.१८) कहा गया है—**नष्ट प्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।** भागवत नियमो का प्रचार करके हम मानव समाज को पूर्ण वना सकते है। जब मनुष्य देहात्म बुद्धि से प्रभावित नही रहता तो वह ईश्वर की भक्ति कर सकता है—

नष्टप्रायेष्वऽभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥

जितना ही हम देहात्मबुद्धि से दूर रहेगे उतने ही हम भक्ति मे स्थिर होगे और उतने ही अधिक शान्त एव सुखी हो सकेगे। इस सम्वन्ध मे श्रील मध्वाचार्य का कथन है कि जो जितने भौतिकता से प्रभावित होते है उनमे उतनी ही अधिक देहात्म बुद्धि होती है। ऐसे व्यक्ति ही विभिन्न शारीरिक लक्षणो के प्रति चिन्तित रहते है, किन्तु जो इनसे मुक्त होता है वह शरीर के बिना भी जीवित रहता है।

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्
आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम् ।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः ॥११॥

जीवत्-मृतत्वम्=जीवित रहकर भी मृत होने का गुण, **नियमेन**=प्रकृति के नियमो द्वारा, **राजन्**=हे राजा, **आदि-अन्त-वत्**=प्रत्येक पदार्थ का आदि और अन्त होता है, **यत्**=क्योकि; **विकृतस्य**=विकारी वस्तु का, यथा शरीर का, **दृष्टम्**=देखी जाती है, **स्व-स्वाम्य-भाव.**=सेवक तथा स्वामी का भाव; **ध्रुवः**=अपरिवर्तनीय, स्थिर; **ईड्य**=हे पूज्य, **यत्र**=जहाँ, **तर्हि**=तभी, **उच्यते**=यह कहा जाता है, **असौ**=वह, **विधि-कृत्य-योगः**=आज्ञा तथा कर्तव्य का सयोग ।

अनुवाद

हे राजन ! आपने वृथा ही मुझ पर जीवित होने पर भी मृततुल्य होने का आरोप लगाया है । इस सम्बन्ध में मै इतना ही कहना चाहूँगा कि ऐसा सर्वत्र है क्योंकि प्रत्येक वस्तु का अपना आदि तथा अन्त होता है । आपका यह सोचना कि "मै राजा तथा स्वामी हूँ" और इस प्रकार आप मुझे आज्ञा देना चाह रहे है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ये पद भी अस्थायी है । आज आप राजा है और मै आपका दास हूँ, किन्तु कल स्थिति बदल सकती है और आप मेरे दास हो सकते है, मै आपका स्वामी । ये विधाता द्वारा उत्पन्न अस्थायी परिस्थितियाँ है ।

तात्पर्य

इस ससार मे देहात्म बुद्धि ही सारे कष्टो का मूल कारण है । विशेष रूप से कलियुग मे लोग इतने अशिक्षित है कि उनकी समझ मे यह भी नही आता कि यह शरीर प्रत्येक क्षण बदल रहा है और अन्तिम परिवर्तन ही मृत्यु है । जो इस जन्म मे राजा है वही कर्मवश अगले जीवन मे कुत्ता बन सकता है । आत्मा तो प्रकृति की शक्ति से उत्पन्न निद्रा मे मग्न रहता है । वह एक प्रकार की अवस्था से दूसरे प्रकार की अवस्था मे रख दिया जाता है । बिना आत्मसाक्षात्कार तथा ज्ञान के बद्ध जीवन चलता रहता है और मनुष्य अपने को झूठे ही राजा, दास, कुत्ता या बिल्ली कहता है । ये परम व्यवस्था द्वारा लाये जाने वाले विभिन्न रूपान्तरण है । मनुष्य को इनसे गुमराह नही होना चाहिए । वस्तुत. इस ससार मे कोई भी स्वामी नही है क्योकि प्रत्येक प्राणी प्रकृति के नियन्त्रण मे है और स्वय प्रकृति श्रीभगवान् के अधीन । अतः श्रीभगवान् कृष्ण ही परम स्वामी है । जैसा कि "चैतन्यचरितामृत" मे कहा गया है

—एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य—एकमात्र स्वामी तो श्रीकृष्ण है तथा अन्य सब उनके दास है। परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूलने के कारण ही ससार के सारे कष्ट उत्पन्न होते है।

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत्।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं
तथापि राजन् करवाम किं ते ॥१२॥

विशेष-बुद्धेः=स्वामी तथा सेवक के भेद की बुद्धि का, **विवरम्**=क्षेत्र, प्रसार; **मनाक्**=किंचित, **च**=भी, **पश्यामः**=मै देखता हूँ, **यत्**=जो, **न**=नही; **व्यवहारतः**=व्यवहार के सिवा, **अन्यत्**=अन्य, **कः**=कौन, **ईश्वर.**=स्वामी; **तत्र**=इसमे, **किम्**=कौन, **ईशितव्यम्**=वश मे किया जाय; **तथापि**=तो भी; **राजन्**=हे राजा, **करवाम**=मै करूँ, **किम्**=क्या, **ते**=तुम्हारे लिए।

अनुवाद

हे राजन्! यदि आप अब भी यह सोचते है कि आप राजा हैं और मै आपका दास, तो आप आज्ञा दें और मुझे आपकी आज्ञा का पालन करना होगा। किन्तु मै यह कह सकता हूँ कि यह अन्तर क्षणिक है और व्यवहार या परम्परावश बढ़ता जाता है। मुझे इसका अन्य कारण नहीं दिखाई पड़ता। उस दशा में कौन स्वामी है और कौन दास? प्रत्येक प्राणी प्रकृति के नियमो द्वारा प्रेरित होता है। अतः न तो कोई स्वामी है, न कोई दास। इतने पर भी यदि आप सोचते है कि मै आपका दास हूँ और आप मेरे स्वामी है तो मै इसे अंगीकार करूँगा। कृपया आज्ञा दे। मै आपकी क्या सेवा करूँ?

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत मे कहा गया है—**अहं मामेति**—"मै यह शरीर हूं, और इस शारीरिक सम्बन्ध से ही वह मेरा स्वामी है, मेरा दास है, मेरी पत्नी है या मेरा पुत्र है।" ये सारे भाव शरीर के परिवर्तन तथा प्रकृति की व्यवस्था के कारण अस्थिर है। हम समुद्र की तरगो मे तिरने वाले तिनको के समान एकत्र हुए है, किन्तु सारे तिनके लहरो के नियमो के द्वारा अवश्य परस्पर पृथक होगे। इस ससार मे प्रत्येक व्यक्ति संसार सागर की लहरो मे उतरा रहा है। भक्ति विनोद ठाकुर ने ठीक ही कहा है—

(मिछे) मायार वशे, याच्छ भेसे'
खाच्छा हावुडुबु, भाइ
(जीव) कृष्ण-दास ए विश्वास,
कर्ले तऽआर दुःख नाइ

"सभी स्त्री तथा पुरुष प्रकृति की तरंगो में तिनकों के समान उतरा रहे है। यदि वे समझ ले कि वे श्रीकृष्ण के शाश्वत सेवक है तो उनका उतराना वन्द हो जाय।" जैसा कि भगवद्गीता मे (३.३७) कहा गया है—**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।** रजोगुण के कारण हमे अनेक वस्तुओ की इच्छा होती है और हमारी इच्छा या चिन्ता तथा परमेश्वर की आज्ञा के अनुसार प्रकृति कोई एक शरीर प्रदान करती है। कुछ काल तक हम पात्रो की भाँति रंगमच मे किसी अन्य के नियन्त्रण में स्वामी या सेवक की तरह कार्य (अभिनय) करते है। हमे चाहिए कि मनुष्य के रूप मे इस प्रकार का अभिनय करना बन्द कर दे। हमे चाहिए कि हम अपनी मूल वैधानिक स्थिति, श्रीकृष्णभावना, को प्राप्त करे। इस समय हमारा वास्तविक स्वामी तो प्रकृति है। **दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया** (भगवद्गीता ७.१४)। प्रकृति के सम्मोहन से हम सेवक तथा स्वामी बन रहे है, किन्तु यदि हम श्रीभगवान् तथा उनके शाश्वत सेवको द्वारा अनुशासित होना स्वीकार कर ले तो यह क्षणिक अवस्था समाप्त हो जाय।

उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन।
अर्थः कियान् भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः ॥१३॥

उन्मत्त=पागलपन, **मत्त**=शराबी, **जड-वत्**=गधे की भाँति, **स्व-संस्थाम्**=अपनी मूल वैधानिक स्थिति की, **गतस्य**=प्राप्त किया हुआ, **मे**=मुझको, **वीर**=हे राजा!, **चिकित्सितेन**=अपनी भर्त्सना से, **अर्थः**=प्रयोजन, **कियान्**=कौन सा; **भवता**=आपके द्वारा, **शिक्षितेन**=शिक्षा दिये गए, **स्तब्ध**=जड; **प्रमत्तस्य**=पागल मनुष्य का, **च**=भी, **पिष्ट-पेषः**=आटा पीसने जैसा।

अनुवाद

हे राजन! आपने कहा "रे मत्त, जड तथा पागल! मै तुम्हारा इलाज करने जा रहा हूँ और तब तुम होश में आ जाओगे।" इस सम्बन्ध में मुझे कहना है कि

यद्यपि मै जड, गूँगे तथा बहरे मनुष्य की भाँति रहता हूँ किन्तु मै सचमुच एक स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति हूँ। आप मुझे दण्डित करके क्या पायेगे ? यदि आपका अनुमान ठीक है और मै पागल हूँ तो आपका यह दंड रस्सी को पीटने जैसा होगा। उससे कोई लाभ नही होगा। जब पागल को दंडित करना होता है तो उसके पागलपन का इलाज नही किया जाता।

तात्पर्य

इस ससार मे प्रत्येक व्यक्ति पागल के समान आचरण करता है। उदाहरणार्थ, चोर यह जानता है कि चोरी अच्छा कार्य नही है, यह भी जानता है कि इसके बाद राजा या ईश्वर से दण्ड मिलता है, चोर पकडे जाते है और पुलिस उन्हे दण्ड देती है तो भी वह बारम्बार चोरी करता है। उसके मन मे यह विचार घर किये रहता है कि चोरी करने से वह सुखी रहेगा। यही तो पागलपन का लक्षण है। बारम्बार दण्डित होकर भी चोर अपनी आदत नही छोड पाता, अत: दण्ड वृथा है।

श्रीशुक उवाच

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर उपशमशील उपरतानात्म्य-
निमित्त उपभोगेन कर्मारब्धं व्यपनयन् राजयानमपि तथोवाह ॥१४॥

श्री-शुकः उवाच=शुकदेव गोस्वामी आगे बोले, **एतावत्**=इतना, **अनुवाद-परिभाषया**=राजा द्वारा कहे गये शब्दो के दोहराने से, **प्रत्युदीर्य**=एक के बाद एक उत्तर देते हुए; **मुनि-वर.**=मुनिश्रेष्ठ जड भरत, **उपशम-शीलः**=परम शान्त, **उपरत**=चुप हो गया, **अनात्म्य**=आत्मा से सम्बन्ध न रखने वाली वस्तुएँ, **निमित्तः**=कारण (अज्ञान), **उपभोगेन**=कर्मफल को अगीकार करने से, **कर्म-आरब्धम्**=इस समय मिलने वाला कर्म फल, **व्यपनयन्**=पूरा करते हुए, **राज-यानम्**=राजा की पालकी, **अपि**=पुन, **तथा**=पूर्ववत्, **उवाह**=लेकर चलने लगे।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने कहा—हे महाराज परीक्षित ! जब राजा रहूगण ने परम भक्त जड भरत को कटु बचनो से मर्माहत किया तो उस शान्त मुनिवर ने सब कुछ सहन कर लिया और इस प्रकार उत्तर दिया, "अज्ञानता का कारण देहात्म बुद्धि है किन्तु जड भरत उससे प्रभावित नही है।" अपनी उदारता के कारण उन्होने अपने को कभी भी महान भक्त नही माना और अपने पूर्व कर्म फल को भोगना स्वीकार किया। सामान्य पुरुष की भाँति उन्होने सोचा कि पालकी ढोकर अपने पूर्व

कुकृत्यों के फल को विनष्ट कर रहे हैं। ऐसा सोचकर वे पूर्ववत् पालकी लेकर चलने लगे।

तात्पर्य

ईश्वर का भक्त कभी यह नही सोचता कि वह परमहस अथवा मुक्त पुरुप है। वह तो सदैव ईश्वर का विनीत दास बना रहता है। विपरीत परिस्थितियो मे भी वह अपने पूर्व जन्म के कर्म-फलो को भोगना स्वीकार करता है। वह ईश्वर पर कभी दोषारोपण नही करता कि उनके कारण कष्ट उठाने पड रहे है। ये परम भक्त के लक्षण है—**तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाण.**। जब परिस्थितियाँ पलट जाती है तो भक्त यही सोचता है कि ये तो ईश्वर द्वारा प्रदत्त रियायते है। वह कभी अपने स्वामी पर क्रुद्ध नही होता और उसे जो भी पद प्रदान किया जाता है उससे वह सदैव सन्तुष्ट रहता है। प्रत्येक दशा मे वह अपनी भक्ति चालू रखता है। ऐसे पुरुप को निश्चित रूप से परमधाम की प्राप्ति होती है। जैसा कि श्रीमद्भागवत मे (१० १४ ८) कहा गया है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृत विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधान्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

"हे ईश्वर! जो आपकी अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रतीक्षा करता है और आपको हृदय से नमस्कार करता हुआ पूर्व-दुष्कर्मो के फलो को भोगता रहता है वह अवश्य ही मुक्ति का भागी है क्योकि यह उसका अधिकार बन जाता है।"

स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक् श्रद्धयाधिकृताधिकार स्तद्धृदयग्रन्थिमोचनं द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः क्षमापयन् विगतनृपदेवस्मय उवाच ॥१५॥

सः=वह (महाराज रहूगण), **च**=भी, **अपि**=निस्सदेह, **पाण्डवेय**=हे पाडुवश के श्रेष्ठ (महाराज परीक्षित), **सिन्धु-सौवीर-पतिः**=सिधु तथा सौवीर नामक राज्यो का राजा, **तत्व-जिज्ञासायाम्**=परम सत्य के सम्बन्ध मे जानने की इच्छा, **सम्यक्-श्रद्धया**=इन्द्रियो तथा मन पर पूर्ण नियन्त्रण रखने वाली श्रद्धा से, **अधिकृत अधिकारः**=समुचित योग्यता प्राप्त, **तत्**=उस, **हृदय-ग्रन्थि**=हृदय के भीतर झूठे विचारो की गाठ, **मोचनम्**=निकालने वाले, **द्विज-वच.**=ब्राह्मण के (जड भरत) के शब्द, **आश्रुत्य**=सुनकर, **बहु-योग-ग्रन्थ-सम्मतम्**=समस्त योग तथा उनके ग्रन्थो

द्वारा सम्मत (समर्थित), **त्वरया**=शीघ्रतापूर्वक, **अवरुह्य**=उतर कर (पालकी से); **शिरसा**=अपने सिर से, **पाद-मूलम्**=चरणकमल पर, **उपसृतः**=दण्ड प्रणाम करके, **क्षमापयन्**=अपने अपराध के लिए क्षमा प्राप्त करके, **विगत-नृप-देव-स्मयः**=राजा होने का झूठा अभिमान त्याग कर, अतः पूज्य बन कर, **उवाच**=कहा ।

अनुवाद

शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे श्रेष्ठ पाण्डुवशी (महाराज परीक्षित) ! सिंधु तथा सौवीर के राजा (रहूगण) की श्रद्धा परम सत्य की चर्चा में थी । अधिकारी होने के कारण, उसने जड भरत से वह दार्शनिक उपदेश सुना जिसकी संस्तुति सभी योग साधना के ग्रन्थ करते है और जिससे हृदय-ग्रन्थि ढीली पड़ती है । इस प्रकार उसका राज-मद नष्ट हो गया । वह तुरन्त पालकी से नीचे उतर आया और जड भरत के चरण कमल में अपना सिर रखकर पृथ्वी पर दण्डवत गिर गया जिससे वह इस ब्राह्मण-श्रेष्ठ को कहे गये अपमानपूर्ण शब्दो के लिए क्षमा प्राप्त कर सके । तब उसने इस प्रकार प्रार्थना की ।

तात्पर्य

भगवद्गीता मे (४ २) भगवान् श्रीकृष्ण का कथन है—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥

"इस प्रकार यह परम विज्ञान गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त किया गया और राजर्षियो ने इसे विधि से जाना । किन्तु कालक्रम से वह परम्परा टूट गई जिससे यह विज्ञान लुप्तप्राय हो गया ।"

गुरु-परम्परा से राजा भी ऋषियो के तुल्य थे । पूर्व काल मे राजर्षि जीवन दर्शन समझते थे और नागरिको को उसी स्तर तक ऊपर उठने की शिक्षा देते थे । अर्थात् वे नागरिको को जन्म तथा मृत्यु के बन्धन से छुटकारा दिलाना जानते थे । जब महाराज दशरथ अयोध्या मे राज्य कर रहे थे तो महर्षि विश्वामित्र असुर वध के लिए उनसे रामचन्द्र तथा लक्ष्मण को जगल ले जाने के लिए माँगने आये । महाराज दशरथ ने विश्वामित्र जैसे महर्षि को अपने दरबार मे आया हुआ जानकर उनसे पूछा—**ऐहिष्टं यत् तत् पुनर्जन्म-जयाय**—अर्थात् जन्म तथा मृत्यु के चक्र को जीतने के उनके प्रयत्न ठीक से चल रहे है न ? वैदिक सभ्यता की सम्पूर्ण प्रक्रिया इसी तथ्य पर आधारित है । हमे ज्ञात होना चाहिए कि जन्म-मृत्यु के चक्र को किस प्रकार जीता जा सकता है । महाराज रहूगण को भी जीवन का लक्ष्य ज्ञात था, अत जब जड भरत ने उनके समक्ष जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया तो उन्होने उसकी भूरि-भूरि

प्रशसा की । वैदिक समाज की यही आधार-शिला है । विद्वान, ब्राह्मण, सन्त तथा ऋषि वैदिक प्रयोजन से परिचित थे, अत वे राजाओ को आम जनसमूह के कल्याण के लिए उपदेश देते थे । इस प्रकार उनके सहयोग से जनसमूह को लाभ पहुँचता था । इसीलिए प्रत्येक वस्तु मे सफलता प्राप्त होती थी । महाराज राहूगण को मनुष्य जीवन की महत्ता ज्ञात थी, अत अपने द्वारा जड भरत को कहे गये अपशब्दो का खेद था । वे तुरन्त पालकी से उतर कर जड भरत के पॉवो पर गिर पडे, क्षमा मॉगी और जीवन के महत्व के विषय मे, जिसे ब्रह्म जिज्ञासा कहते है, अधिक जानने की प्रार्थना की । इस समय के उच्च राज्याधिकारी जीवन मूल्यो के विपय मे सर्वथा अनभिज्ञ है, अत. जब साधु-सन्त लोग वैदिकज्ञान का प्रसार करना चाहते है तो वे उनको नमस्कार नही करते है और ज्ञान के प्रचार मे अवराध उत्पन्न करते है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन राज-शासन स्वर्ग तुल्य था और वर्तमान शासन नरक तुल्य है ।

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः ।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः ॥१६॥

कः त्वम् = आप कौन है ?, **निगूढः** = प्रच्छन्न, **चरसि** = इस ससार मे विचरण कर रहे है, **द्विजानाम्** = ब्राह्मणो अथवा साधु पुरुपो मे, **बिभर्षि** = आपने धारण कर रखा है, **सूत्रम्** = उपवीत, ब्राह्मणो द्वारा धारण किया जाने वाला जनेऊ, **कतमः** = कौन से, **अवधूतः** = अत्यन्त महान पुरुष, **कस्य असि** = आप किसके है (किसके पुत्र या शिष्य है), **कुत्रत्यः** = कहॉ से, **इह अपि** = यहॉ इस स्थान पर, **कस्मात्** = किस लिए, **क्षेमाय** = लाभार्थ, **नः** = हम सबो के, **चेत्** = यदि, **असि** = आप है, **न उत** = अथवा नही, **शुक्लः** = सत्व गुणधारी (कपिल देव) ।

अनुवाद

राजा रहूगण बोले, हे ब्राह्मण ! आप इस जगत में अत्यन्त प्रच्छन्न भाव से तथा अज्ञात रूप से विचरण करते प्रतीत हो रहे है । आप कौन है ? क्या आप विद्वान ब्राह्मण तथा साधु पुरुष है ? आपने जनेउ धारण कर रखा है । कहीं आप दत्तात्रेय आदि अवधूतों मे से कोई विद्वान तो नही है ? क्या मै पूछ सकता हूँ कि आप किसके शिष्य है ? आप कहॉ रहते है ? आप इस स्थान पर क्यों आये हैं ? कही आप हमारे कल्याण के लिए तो नही आये ? कृपया बताये कि आप कौन है ?

तात्पर्य

राजा रहूगण को जव यह पता चला गया कि जड भरत गुरु-परम्परा से अथवा जन्म से ब्राह्मण कुल का है तो वह अधिक वैदिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए आतुर हो उठा। जैसा कि वेदो मे कथित है—**तद् विज्ञानार्थ स गुरुम् एवाभिगच्छेत्।** रहूगण जडभरत को अपना गुरु अगोकार कर चुका था, किन्तु गुरु को चाहिए कि वह पद को यज्ञोपवीत धारण करने से नही वरन् अपने ब्रह्मज्ञान से सिद्ध करे। यह भी महत्वपूर्ण वात है कि रहूगण ने जड भरत से उसके कुल के सम्वन्ध में पूछा। कुल भी दो प्रकार के होते है—एक तो वश परम्परा से प्राप्त तथा दूसरा गुरु-परम्परा से प्राप्त। इन दोनो ही प्रकारो से ज्ञान की प्राप्ति होती है। **'शुक्ल'** शब्द सात्विक गुण का सूचक है। किसी को आत्मज्ञान प्राप्त करना है तो उसे प्रामाणिक ब्राह्मण-गुरु के पास जाना चाहिए, चाहे वह गुरु-परम्परा से हो अथवा ब्राह्मणो के कुल से सम्वद्ध हो।

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा-
न्न त्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात्।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्रा-
च्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात् ॥१७॥

न=नही, **अहम्**=मै, **विशङ्के**=भयभीत हूँ, **सुर-राज-वज्रात्**=स्वर्ग के राजा इन्द्र के वज्र से; **न**=न तो, **त्र्यक्ष-शूलात्**=भगवान् शिव के त्रिशूल से, **न**=न तो; **यमस्य**=मृत्यु के अधीक्षक यमराज के, **दण्डात्**=दण्ड से, **न**=न तो, **अग्नि**=अग्नि के, **अर्क**=सूर्य के असह्य ताप के, **सोम**=चन्द्रमा के; **अनिल**=वायु के, **वित्त-प**=धन के स्वामी कुबेर के; **अस्त्रात्**=अस्त्रो से, **शङ्के**=भयभीत हूँ, **भृशम्**=अत्यधिक; **ब्रह्म-कुल**=ब्राह्मण-वृन्द, **अपमानात्**=अपमान से।

अनुवाद

महानुभाव! न तो मुझे इन्द्र के वज्र का भय है, न भगवान् शिव के त्रिशूल का। मुझे न तो मृत्यु के अधीक्षक यमराज के दण्ड की तनिक परवाह है न अग्नि, तप्त सूर्य, चन्द्रमा, वायु अथवा कुबेर के अस्त्रों से भयभीत होता हूँ। परन्तु मैं ब्राह्मण के अपमान से अत्यधिक डरता हूँ।

तात्पर्य

जब श्रीचैतन्य महाप्रभु प्रयाग मे दशाश्वमेध घाट पर रूप गोस्वामी को शिक्षा दे रहे थे तो उन्होने वैष्णव-अपमान की गम्भीरता का स्पष्ट सकेत किया था। उन्होने वैष्णव-अपराध की तुलना **हाती माता**—मत्त हाथी से की थी। जब मत्त हाथी उद्यान मे घुसता है तो वह सारे फल-फूल उजाड देता है। इसी प्रकार से यदि कोई वैष्णव का अपमान करता है तो वह अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति को नष्ट करता है। ब्राह्मण का अपमान अत्यन्त घातक होता है यह महाराज रहूगण जानते थे। अत. उन्होने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया। यद्यपि अनेक दारुण वस्तुएँ है—यथा वज्र, अग्नि, यमराज का दण्ड, भगवान् शिव का त्रिशूल आदि—किन्तु इनमे से एक भी जड भरत जैसे ब्राह्मण को अपमान के तुल्य दारुण नही है। अतः महाराज रहूगण तुरन्त ही पालकी से नीचे उतरे और ब्राह्मण जड भरत से क्षमा याचना के लिए उनके चरणकमलो पर लेट गये।

तद् ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-
विज्ञानवीर्यो विचरस्यपारः।
वचांसि योगग्रथितानि साधो
न नः क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम् ॥१८॥

तत्=अत , **ब्रूहि**=कृपया बतलाइये, **असङ्गः**=ससार के साथ किसी प्रकार का सम्पर्क न रखने वाला, **जड-वत्**=मूक तथा गूंगे मनुष्य की तरह लगने वाला, **निगूढ**=पूर्णतया प्रच्छन्न, **विज्ञान-वीर्यः**=आत्मतत्व के ज्ञान से पूर्ण तथा शक्तिशाली, **विचरसि**=घूम रहे हो; **अपारः**=अनन्त सात्विक महिमा वाला, **वचांसि**=उच्चरित शब्द, **योग-ग्रथितानि**=योग का समग्र अर्थ वहन करने वाला; **साधो**=हे साधु, **न**=नही, **नः**=हम सब, **क्षमन्ते**=समर्थ है, **मनसा अपि**=यहाँ तक कि मन से, **भेतुम्**=आलोचना करने पर भी।

अनुवाद

महाशय! ऐसा प्रतीत होता है कि आपका महत आध्यात्मिक ज्ञान प्रच्छन्न है। आप समस्त भौतिक संसर्ग से रहित है और परमात्मा के विचार मे पूर्णतया तल्लीन है। कृपया बतलाने का कष्ट करे कि आप जडवत् सर्वत्र क्यो घूम रहे है? हे साधु! आपने योगसम्मत शब्द कहे है, किन्तु हमारे लिए उनको समझ पाना सम्भव नही है। अत कृपा करके विस्तार से कहे।

तात्पर्य

जड भरत जैसे साधु पुरुष सामान्य शब्द नही वोलते। वे जो कुछ भी कहते है है वह योगियों तथा सिद्धो द्वारा स्वीकृत हुआ होता है। सामान्य व्यक्ति तथा साधु पुरुष का यही अन्तर है। श्रोता को भी जड भरत जैसे सिद्ध पुरुष के वचन समझने के लिए प्रवुद्ध होना चाहिए। भगवद्गीता अर्जुन को ही सुनाई गई, अन्यो को नही। श्रीकृष्ण ने जान-वूझ कर आत्म-ज्ञान की शिक्षा के लिए अर्जुन को चुना क्योकि अर्जुन परम भक्त और विश्वासपात्र मित्र था। इसी प्रकार महापुरुष शूद्रों, वैश्यो, स्त्रियो या अज्ञानियो को उपदेश न देकर ज्ञानियो को ही देते है। कभी-कभी सामान्य व्यक्तियों को दर्शन का उपदेश देना घातक भी होता है, किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कलियुग के पतित जीवो के लाभ हेतु हमे अमोघ साधन—हरे कृष्ण मन्त्र का जप—प्रदान किया है। सामान्य जनसमूह यद्यपि शूद्र तथा इससे भी निम्न है, किन्तु हरे कृष्ण मन्त्र के जप से वह शुद्ध हो सकता है। तब सभी व्यक्ति भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के दार्शनिक वचनो को समझ सकते है। इसीलिए हमारे श्रीकृष्ण-भावनामृत आन्दोलन ने सामान्य जनसमूह के लिए हरे कृष्ण महामन्त्र जप को स्वीकार किया है। जव क्रमशः लोग शुद्ध हो जाते है तो उन्हे भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत के उपदेश की शिक्षा दी जाती है। स्त्री, शूद्र तथा द्विज-वन्धु जैसे भौतिकवादी प्राणी आत्मोन्नति को नही समझ पाते तो भी उन्हे वैष्णव की शरण मे जाना चाहिए क्योकि वह शूद्रो को भी उच्च ज्ञान प्रदान करने की कला जानता है।

अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्व-
विदां मुनीनां परमं गुरुं वै।
प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत्
साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम् ॥१६॥

अहम्=मैं; **च**=तथा; **योग-ईश्वरम्**=योग के स्वामी, **आत्म-तत्व-विदाम्**=आत्मतत्व के विज्ञान से परिचित विद्वान, **मुनीनाम्**=मुनियो का; **परमम्**=श्रेष्ठ; **गुरुम्**=गुरु, उपदेशक, **वै**=निस्सदेह, **प्रष्टुम्**=पूछने हेतु, **प्रवृत्तः**=कार्य लग्न; **किम्**=क्या, **इह**=इस ससार मे, **अरणम्**=सुरक्षित शरण, **तत्**=वह जो, **साक्षात् हरिम्**=प्रत्यक्ष श्रीभगवान्, **ज्ञान-कला-अवतीर्णम्**=जो सम्पूर्ण ज्ञान के अवतार के रूप मे अशधारी कपिल के रूप मे अवतरित हुए है।

अनुवाद

मै आपको योग शक्ति का परम स्वामी मानता हूँ। आप आत्मज्ञान से पूर्णतया

परिचित है। आप साधुओं में परम पूज्य हैं और आप समस्त मानव समाज के कल्याण के लिए अवतरित हुए है। आप आत्मज्ञान प्रदान करने आये है और ईश्वर के अवतार तथा ज्ञान के अंश कपिलदेव के साक्षात् प्रतिनिधि है। अतः मै आपसे पूछ रहा हूँ,—"हे गुरु! इस संसार में सर्वाधिक सुरक्षित शरण कौन सी है?"

तात्पर्य

भगवद्गीता मे (६ ४७) श्रीकृष्ण ने पुष्टि की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

"सव योगियो मे भी जो योगी श्रद्धाभाव से मेरे परायण होकर प्रेममय भक्तियोग के द्वारा मेरी सेवा करता है, वह मुझसे परम अतरग रूप मे युक्त है और परम श्रेष्ठ है।"

जड भरत पूर्ण योगी थे। पूर्वजन्म मे वे सम्राट भरत महाराज थे और अब वही साधुओ मे महापुरुष और समस्त योग शक्तियों के स्वामी थे। यद्यपि जड भरत सामान्य जीव थे, किन्तु श्रीभगवान् कपिल देव से समस्त ज्ञान उन्हें विरासत मे मिला था। अत. उन्हे साक्षात श्रीभगवान् माना जा सकता है। इसकी पुष्टि श्रील विश्वनाथ ठाकुर ने गुरु की प्रार्थना मे लिखे इस पद्य में की है—**साक्षाद्-धरित्वेन समस्त-शास्त्रैः**। जड भरत जैसा महापुरुष श्रीभगवान् के ही तुल्य है क्योंकि अन्यों को ज्ञान प्रदान करने के कारण वह ईश्वर का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ पर जड भरत को श्रीभगवान् का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि माना गया है क्योकि वे परमेश्वर की ओर से ज्ञान प्रदान कर रहे थे। इसोलिए महाराज रहूगण ने यह निश्चित किया कि उन्ही से आत्मतत्व के सम्बन्ध मे क्यो न पूछा जाय—**तद् विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत**—यहाँ इस वैदिक आज्ञा की भी पुष्टि हो जाती है। यदि कोई ब्रह्म जिज्ञासा (आत्मतत्व) को जानने का इच्छुक है तो उसे जड भरत जैसे गुरु के पास जाना चाहिए।

स वै भवाँल्लोकनिरीक्षणार्थ-
मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपिस्वित् ।
योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः ॥२०॥

सः=वह श्रीभगवान् या उनका अवतार श्रीकपिल देव, **वै**=निस्सदेह; **भवान्**=आप, **लोक-निरीक्षणार्थम्**=इस ससार के लोगो के चरित्रो का अध्ययन करने के लिए ही; **अव्यक्त-लिङ्गः**=आपनी वास्तविक पहचान प्रकट किए विना, **विचरति**=इस ससार मे भ्रमण कर रहे है, **अपि स्वित्**=क्या, **योग-ईश्वराणाम्**=समस्त योगियो का, **गतिम्**=वास्तविक आचरण, चरित्र, **अन्ध-बुद्धिः**=मोहग्रस्त होने से आत्मज्ञान के प्रति अन्धे; **कथम्**=किस प्रकार, **विचक्षीत**=जान सकता है; **गृह-अनुबन्धः**=गृहस्थ जीवन या सासारिकता मे आसक्त रहने वाला, मैं।

अनुवाद

क्या यह सच नही कि आप श्रीभगवान् के अवतार कपिल देव के साक्षात प्रतिनिधि हैं ? मनुष्यो की परीक्षा लेने और यह देखने के लिए कि वास्तव में कौन मनुष्य है और कौन नहीं, आपने अपने आपको गूँगे तथा बहरे मनुष्य की भाँति प्रस्तुत किया है। क्या आप संसार भर में इस प्रकार से भ्रमण नही कर रहे ? मै तो गृहस्थ जीवन तथा सांसारिक कार्यो में अत्यधिक आसक्त हूँ और आत्मज्ञान मे शून्य हूँ। इतने पर भी मै आपसे प्रकाश पाने के लिए आपके समक्ष उपस्थित हूँ। बताये कि मै किस प्रकार आत्मजीवन में प्रगति कर सकता हूँ ?

तात्पर्य

यद्यपि महाराज रहूगण राजा की भूमिका निभा रहे थे, किन्तु जड भरत ने उन्हें बता दिया था कि वे न तो राजा थे, न ही जड भरत कोई गूँगा-बहरा पुरुष। ऐसे नाम तो आत्मा के आवरण मात्र हैं। सबको इस ज्ञान तक पहुँचना है जैसा कि भगवद्गीता मे (२.१३) पुष्टि की गई है—**देहिनोऽस्मिन् यथा देहे**। प्रत्येक प्राणी शरीर के भीतर बन्द है। चूँकि शरीर कभी आत्मा के समरूप नही हो सकता, अतः समस्त शारीरिक कार्य मात्र मोहजनित है। जड भरत जैसे साधु की संगति से महाराज रहूगण को यह वोध हो सका कि राजा के रूप मे उनके सारे कार्य मोह जनित है। इसलिए उसने जड भरत से ज्ञान प्राप्त करना स्वीकार किया और यही उसकी सिद्धि का शुभारम्भ था। **तद्-विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्**। पुरुष को महाराज रहूगण की ही भाँति जड भरत के समान महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करके आत्मतत्व जानना चाहिए। **तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्** (भागवत ११ ३.२१)। मनुष्य को चाहिए कि वह जड भरत जैसे गुरु के पास पहुँच कर मानव जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध मे जिज्ञासा करे।

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये

यथासतोदानयनाद्यभावात्
समूल इष्टो व्यवहारमार्गः ॥२१॥

दृष्टः=प्रत्येक प्राणी का अनुभव है, **श्रम.**=श्रम, थकान; **कर्मतः**=कोई भी काम करने से; **आत्मनः**=आत्मा का, **वै**=निस्संदेह, **भर्तुः**=पालकी वाहक या कहार का, **गन्तुः**=चलने वाले का, **भवतः**=आपका; **च**=तथा; **अनुमन्ये**=मेरा अनुमान है, **यथा**=जितना; **असता**=असत से, जो तथ्य नही है, उससे, **उद्**=जल का, **आनयन-आदि**=लाने इत्यादि का कार्य, **अभावात्**=अभाव से, **स-मूलः**=साक्ष्य पर आधारित; **इष्टः**=पूज्य; **व्यवहार-मार्गः**=प्रत्यक्ष ज्ञान-विषय ।

अनुवाद

आपने कहा है कि मै श्रम से थकता नहीं हूँ। यद्यपि आत्मा देह से पृथक है, किन्तु शारीरिक श्रम करने से थकान लगती है और ऐसा लगता है कि यह आत्मा की थकान है। जब आप पालकी ले जा रहे है तो निश्चय ही आत्मा को भी कुछ श्रम करना होता होगा। ऐसा मेरा अनुमान है। आपने यह भी कहा है कि स्वामी तथा सेवक का बाह्य आचरण वास्तविक नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष जगत में यह वास्तविकता भले न हो तो भी इसके फलो से वस्तुएँ प्रभावित तो हो ही सकती हैं। ऐसा दृश्य तथा अनुभवगम्य है। अतः भले ही भौतिक कार्यकलाप अस्थायी हों, किन्तु उन्हें असत्य नही कहा जा सकता।

तात्पर्य

यह निर्गुण मायावाद दर्शन तथा व्यावहारिक वैष्णव दर्शन की विवेचना है। मायावाद दर्शन इस प्रत्यक्ष जगत को असत्य मानता है, किन्तु वैष्णव दर्शनशास्त्री इसे स्वीकार नही करते। वे यह जानते है कि प्रत्यक्ष जगत क्षणिक है, किन्तु असत्य नही। रात्रि मे दिखाई पडने वाला स्वप्न निश्चय ही असत्य होता है, किन्तु कभी-कभी स्वप्नद्रष्टा भयानक स्वप्न से अत्यधिक प्रभावित होता है। आत्मा को थकान सत्य नही, किन्तु जब तक मनुष्य मोहग्रस्त बना रहता है, तब तक वह ऐसे झूठे स्वप्नों से प्रभावित होता है। स्वप्न देखते समय वास्तविक तथ्यो से बचा नही जा सकता और बद्धजीव को अपने स्वप्न के कारण कष्ट भोगना पडता है। जल का घडा मिट्टी का बना होने से क्षणिक (नाशवान) है। वास्तव मे जल का घड़ा (जल पात्र) नही होता, वह तो मात्र मिट्टी रहता है। किन्तु जब तक उसमे जल भरा जा सकता है उसका सदुपयोग किया जा सकता है। इसे सरासर झूठ नही कह सकते।

स्थाल्यग्नितापात्पयसोऽभिताप-
स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्
तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात् ॥२२॥

स्थालि=वटलोई, **अग्नि-तापात्**=अग्नि के ताप से, **पयसः**=पात्र मे भरा दूध; **अभितापः**=तप्त हो जाता है, **तत्-तापतः**=उसके ताप से, दूध के गर्म होने से; **तण्डुल-गर्भ-रन्धिः**=दूध मे रहने से चावल का भीतरी भाग पक जाता है; **देह-इन्द्रिय-अस्वाशय**=इन्द्रियाँ; **सन्निकर्षात्**=से सम्बन्ध होने से, **तत्-संसृतिः**=श्रम तथा अन्य कष्टो का अनुभव; **पुरुषस्य**=आत्मा का, **अनुरोधात्**=पालन करने से।

अनुवाद

राजा रहूगण बोले—महाशय! आपने बताया कि शारीरिक स्थूलता तथा कृशता जैसी उपाधियाँ आत्मा के लक्षण नही है। यह सही नही है क्योकि सुख तथा दुख जैसी उपाधियों का अनुभव आत्मा को होता है। आप दूध तथा चावल को एक पात्र में भर कर अग्नि के ऊपर रखें तो दूध तथा चावल क्रम से स्वत: तप्त होते है। इसी प्रकार शारीरिक सुखों तथा दुखों से हमारी इन्द्रियाँ, मन तथा आत्मा प्रभावित होते है। आत्मा को इस परिवेश से सर्वथा बाहर नही रखा जा सकता।

तात्पर्य

महाराज रहूगण ने जो तर्क प्रस्तुत किया वह व्यावहारिक दृष्टि से ठीक है, किन्तु यह देहात्म बुद्धि के प्रति आसक्ति से उत्पन्न होता है। यह कहा जा सकता है मोटरकार मे बैठा व्यक्ति मोटरकार से सर्वथा पृथक है, किन्तु यदि मोटरकार को कोई क्षति पहुँचती है तो उसके स्वामी को आत्मीयता के कारण कष्ट पहुँचता है। वस्तुत मोटरकार की क्षति का उसके स्वामी से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है, किन्तु उस स्वामी ने मोटरकार के साथ तादात्म्य कर रखा है अत: उसे सुख-दुख होता है। इस वद्धावस्था से बचने का उपाय है मोटरकार के प्रति अपनी आसक्ति को हटा लेना। तव उसके स्वामी को कार के क्षतिग्रस्त होने न होने से किसी प्रकार के शोक या हर्ष का अनुभव नही होगा। इसी प्रकार आत्मा को शरीर तथा इन्द्रियों से कोई प्रयोजन नही रहता, किन्तु अविद्या के कारण वह अपने को देह से अभिन्न मानकर उसके हर्ष-शोक से वैसा ही अनुभव करने लगता है।

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां
यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम् ।
स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य
यदीहमानो विजहात्यघौघम् ॥२३॥

शास्ता=शासक, **अभिगोप्ता**=नागरिको का शुभचिन्तक; **नृ-पतिः**=राजा; **प्रजानाम्**=नागरिको का, **यः**=जो, **किङ्करः**=आज्ञा पालने वाला; **वै**=निस्सन्देह; **न**=नही, **पिनष्टि पिष्टम्**=पहले से पिसे हुए को पीसता है; **स्व-धर्मम्**=अपना कर्तव्य; **आराधनम्**=उपासना, **अच्युतस्य**=श्रीभगवान् का, **यत्**=जो; **ईहमानः**=करते हुए, **विजहाति**=मुक्त कर दिये जाते है, **अघ-ओघम्**=सभी प्रकार के पाप तथा पाप कर्म ।

अनुवाद

महाशय ! आपने बताया कि राजा तथा प्रजा अथवा स्वामी और सेवक का सम्बन्ध शाश्वत नही होता । यद्यपि ऐसे सम्बन्ध क्षणिक है तो भी जब कोई व्यक्ति राजा बनता है तो उसका कर्तव्य नागरिको पर शासन करना और नियमों की अवज्ञा करने वालों को दण्डित करना है । उनको दण्डित करके वह नागरिको को राज्य के नियमो का पालन करने की शिक्षा देता है । पुनः, आपने कहा है कि मूक तथा बधिर को दण्ड देना चर्वित का चर्वण करना या पिसी लुगदी को पीसना है जिसका अभिप्राय यह हुआ कि इससे कोई लाभ नही होता । किन्तु यदि कोई परमेश्वर द्वारा आदिष्ट अपने कर्तव्यो के पालन मे लगा रहता है तो उसके पाप कर्म निश्चय ही घटते है । अतः यदि किसी को बलपूर्वक उसके कर्तव्यो मे लगा दिया जाय तो उसे लाभ पहुँचता है क्योंकि इस प्रकार उसके समस्त पाप दूर हो सकते है ।

तात्पर्य

महाराज रहूगण द्वारा प्रस्तुत किया गया यह तर्क अत्यन्त प्रभावोत्पादक है । श्रील रूप गोस्वामी अपने ग्रन्थ भक्तिरसामृतसिधु मे (१.२.४) कहते है कि—**तस्मात् केनाप्युपायेन मन. कृष्णे निवेशयेत**—जैसे भी हो सके, श्रीकृष्णभावना मे लगना चाहिए । वस्तुत. प्रत्येक जीवित प्राणी श्रीकृष्ण का शाश्वत सेवक है, किन्तु विस्मृति के कारण वह माया का शाश्वत दास बन जाता है । जब तक वह माया की सेवा मे तत्पर रहता है, उसे सुख नही मिल सकता । हमारे श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य लोगो को कृष्णभक्ति मे तत्पर करना है । इससे वे समस्त प्रकार के कल्मषो एव पापकर्मो से मुक्त हो सकेगे । इसकी पुष्टि भगवद्गीता मे (४ १०) इस

प्रकार की गई है—**वीत-राग-भय-क्रोधाः**। भौतिक कार्यों से विरक्त होने पर भय तथा क्रोध से छुटकारा मिलता है। तपस्या से मनुष्य शुद्ध होकर परमधाम जाने का अधिकारी बन जाता है। राजा का कर्तव्य है कि अपनी प्रजा पर इस प्रकार शासन करे कि वह कृष्णभक्त हो सके। यह सबो के लिए लाभप्रद होगा। दुर्भाग्यवश राजा या राष्ट्रपति जनता को ईश्वर की सेवा की बजाय इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रेरित करते हैं। किन्तु यह किसी के लिए भी लाभप्रद नही। महाराज रहूगण ने अपनी पालकी ढोने के लिए जड भरत को लगाया था, जो राजा के लिए एक प्रकार की इन्द्रियतृप्ति ही था। किन्तु यदि कोई ईश्वर की सेवा मे कहार बनता है तो वह निश्चित रूप से लाभप्रद है। यदि नास्तिक सभ्यता मे कोई राष्ट्रपति लोगो को किसी प्रकार से भक्ति या श्रीकृष्णभावना के जागरण के प्रति उन्मुख कर सके तो वह नागरिको की सर्वश्रेष्ठ सेवा कर सकता है।

तन्मे भवान्नरदेवाभिमान-
मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो
यथा तरे सदवध्यानमंहः ॥२४॥

तत्=अत., **मे**=मुझको, **भवान्**=आप; **नर-देव-अभिमान-मदेन**=राजा की देह पाने के अभिमान से उन्मत्त, **तुच्छीकृत**=अवज्ञा की, **सत्-तमस्य**=मनुष्यो मे सर्वश्रेष्ठ आपका, **कृषीष्ट**=कृपया प्रदर्शित करे; **मैत्री-दृशम्**=मित्र के समान मुझ पर अपनी अहैतुकी कृपा, **आर्त-बन्धो**=दीनो का साथी, **यथा**=जिस प्रकार; **तरे**=मुक्त हो सकूँ, **सत्-अवध्यानम्**=आप जैसे महापुरुष की उपेक्षा करके, **अंहः**=पाप।

अनुवाद

आपने जो भी कहा है उसमे मुझे विरोधाभास लगता है। हे दीनबन्धु! मैने आपको अपमानित करके बहुत बड़ा अपराध किया है। राजा का शरीर धारण करने के कारण मै झूठी प्रतिष्ठा से फूला हुआ था, अतः मै अवश्य ही अपराधी हूँ। अब मेरी प्रार्थना है कि मुझ पर अकारण अनुग्रह की दृष्टि करें। यदि आप ऐसा करते है तो आपका अपमान करके मैने जो पापकर्म किया है उससे मुक्त हो सकूँगा।

तात्पर्य

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि वैष्णव के प्रति अपराध करने वाले समस्त परमार्थिक कार्य नष्ट हो जाते है। वैष्णव-अपराध प्रमत्त हाथी द्वारा किये गये

अपराध के तुल्य है। प्रमत्त हाथी अत्यन्त श्रम से तैयार किये गये उद्यान को विनष्ट कर सकता है। मनुष्य को भक्ति का कितना ही उच्च पद क्यो न प्राप्त हो, किन्तु यदि वह किसी प्रकार भी वैष्णव की अवमानना करता है तो सारी व्यवस्था बिखर जाती है। अनजाने राजा रहूगण ने जड भरत की अवमानना की, किन्तु जब ज्ञान हुआ तो क्षमा याचना कर ली। यही वह विधि है जिसके द्वारा वैष्णव अपराध से छूटा जा सकता है। कृष्ण अत्यन्त सरल एव कृपालु है। यदि कोई किसी वैष्णव के चरणकमल के निकट अपराध करता है तो उसे तुरन्त क्षमा मॉग लेनी चाहिए जिससे आत्म-प्रगति न रुके।

न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतेस्तवापि।
महद्विमानात् स्वकृताद्धि माद्दङ्
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः ॥२५॥

न=नही; **विक्रिया**=भौतिक परिवर्तन; **विश्व-सुहृत्**=प्रत्येक प्राणी के मित्र, श्रीभगवान् का; **सखस्य**=मित्र (आप) का; **साम्येन**=आपके मानसिक सन्तुलन के कारण, **वीत-अभिमतेः**=जिसने जीवन के देहात्मबोध को सर्वथा त्याग दिया है, **तव**=तुम्हारा; **अपि**=निस्सदेह; **महत्-विमानात्**=परम भक्त के तिरस्कार से, **स्व-कृतात्**=अपने कार्य से, **हि**=ही; **मादृक्**=मुझ जैसा व्यक्ति, **नङ्क्ष्यति**=विनष्ट हो जावेगा, **अदूरात्**=शीघ्र ही, **अपि**=निश्चय ही, **शूल-पाणिः**=भगवान् शिव (शूलपाणि) के समान शक्तिशाली होकर भी।

अनुवाद

हे ईश्वर! आप समस्त जीवात्माओ के मित्र श्रीभगवान् के सखा है। अतः आप सबो के समान है और देहात्म-बुद्धि से सर्वथा मुक्त है। यद्यपि मैने आपकी अवमानना करके अपराध किया है, किन्तु मै जानता हूँ कि मेरे इस तिरस्कार से आपको कोई हानि या लाभ नही होने वाला। आप दृढसंकल्प है जबकि मै अपराधी हूँ। इसलिए भले ही मै भगवान् शिव के समान बलवान क्यो न होऊँ, किन्तु एक वैष्णव के चरणकमल पर अपराध करने के कारण मै तुरन्त ही नष्ट हो जाऊँगा।

तात्पर्य

महाराज रहूगण अत्यन्त बुद्धिमान थे और और वैष्णव के प्रति किये गये अपराध के अशुभ फलो से भली-भॉति परिचित थे। अतः वे जड भरत द्वारा क्षमा किये जाने के लिए उत्सुक थे। प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि महाराज रहूगण के पदचिह्नो

का अनुसरण करते हुए वैष्णव के चरणकमल पर अपराध न करे। श्रील वृन्दावन दास ठाकुर **चैतन्यभागवत** (मध्य १३) में कहते हैं—

शूलपाणि-सम यदि भक्त-निन्दा करे।
भागवत प्रमाण—तथापि शीघ्र मरे॥

हेन वैष्णवेरे निन्दे सर्वज्ञ ह-इ।
से जनेर अधः-पात सर्व-शास्त्रे क-इ॥

"यदि कोई वैष्णव की निन्दा करता है तो वह त्रिशूलधारी भगवान् शिव के समान शक्तिशाली होकर भी अपने आत्म-पद से गिर जायेगा। यह समस्त वैदिक शास्त्रों का निर्णय है।" उन्होंने **चैतन्यभागवत** (मध्य २२) मे यह भी कहा है—

वैष्णवेर निन्दा करिबेक यार गण।
तार रक्षा सामर्थ्य नाहिक कोन जन॥

शूलपाणि-सम यदि वैष्णवेरे निन्दे।
तथापिह नाश याय—कहे शास्त्र-वृन्दे॥

इहा ना मानिया ये सुजन निन्दा करे।
जन्मे जन्मे से पापिष्ट दैव-दोषे मरे॥

"जो वैष्णव की निन्दा करता है उसे कोई नही बचा सकता। चाहे वह भगवान् शिव के समान वलशाली क्यों न हो; यदि वह वैष्णव की निन्दा करता है तो उसका विनाश ध्रुव है। यही समस्त शास्त्रो का निर्णय है। यदि कोई शास्त्रो के निर्णय की अवहेलना करके वैष्णव की निन्दा करता है तो इसके कारण जन्म-जन्मान्तर तक कष्ट भोगता है।"

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भक्तिवेदान्त भाष्ये दशमोऽध्यायः॥ १०॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पचम स्कध के अन्तर्गत, "जड भरत तथा महाराज रहूगण की वार्ता" शीर्षक नामक दसवे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय ग्यारह

जड भरत द्वारा राजा रहूगण को शिक्षा

इस अध्याय मे ब्राह्मण जड भरत द्वारा रहूगण को दी गई शिक्षाएँ विस्तार से दी गई है। वे राजा से कहते है, "आप अधिक अनुभवी नही है तो भी आप अपने ज्ञान से गर्वित होकर विद्वान होने का दिखावा कर रहे है। वास्तव मे जो व्यक्ति दिव्य पद को प्राप्त होता है वह सामाजिक व्यवहार की परवाह नही करता क्योकि इससे आध्यात्मिक प्रगति मे वाधा पहुँचती है। सामाजिक व्यवहार का क्षेत्र कर्मकाण्ड अर्थात् भौतिक लाभ है। ऐसे कार्यो से कोई आत्म-उन्नति नही कर सकता। वद्धजीव सदैव ही प्रकृति के गुणो से अभिभूत होता रहता है जिससे भौतिक लाभों, शुभ तथा अशुभ वस्तुओ से ही उसका सरोकार रहता है। दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि इन्द्रियो का राजा मन जन्म जन्मान्तर भौतिक कार्यो मे ही व्यस्त रहा आता है। इसी मानसिक कूट रचना के आधार पर सामाजिक व्यवहार को सूत्रबद्ध किया गया है। यदि मनुष्य का मन इन कार्यो में लिप्त रहता है तो वह इसी ससार में बँधा रहता है। विभिन्न मतो के अनुसार ग्यारह या बारह प्रकार की मानसिक गतिविधियाँ है जो सैकड़ों हजारो रूपो मे प्रकट हो सकती है। जो व्यक्ति श्रीकृष्णभावना भावित नहीं है वही इन मानसिक कूट रचनाओ के वशीभूत होता है और अन्त मे माया द्वारा नियन्त्रित होने लगता है। जो जीव मानसिक कूट-रचनाओं से मुक्त है वह भौतिक कल्मष से रहित आत्मा को प्राप्त करता है। जीव दो प्रकार के होते है—जीवात्मा तथा परमात्मा। जो परम-आत्मा है वही भगवान् वासुदेव कृष्ण है। वही सबो के हृदयो मे प्रविष्ट होकर जीव के विभिन्न कार्यो को नियन्त्रित करता है। इसीलिए वह समस्त जीवात्माओ का परम आश्रय है। मनुष्य को परम आत्मा तथा अपने पारस्परिक सम्वन्ध का तभी बोध होता है जब वह सामान्य व्यक्तियो की अवाञ्छित सगति से पूर्णतया विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार अविद्या के सागर का सतरण किया जा सकता है। बहिरगा शक्ति के प्रति आसक्ति ही बन्धन का मूल कारण है। मनुष्य को चाहिए कि मानसिक कूट-रचनाओ पर विजय प्राप्त करे, क्योकि जब तक ऐसा नही किया जाता तब तक वह भौतिक चिन्ताओं से मुक्त नही हो सकता। यद्यपि मानसिक कूट-रचनाओ का कोई महत्व नही है तो भी उनका प्रभाव विलक्षण होता है। मन पर नियन्त्रण रखने मे ढील नही वरतनी चाहिए। यदि ढील बरती जाती है तो मन इतना प्रबल हो जाता है कि मनुष्य अपनी सही

स्थिति भूल जाता है। वह यह भूल जाता है कि वह कृष्ण का शाश्वत दास है और उसका एकमात्र कर्तव्य कृष्ण-भक्ति (श्रीकृष्णभावना) है। माया के वश मे होकर वह इन्द्रिय-सुखो का ही सेवन करने लगता है। मनुष्य को चाहिए कि श्रीभगवान् तथा उसके भक्त की सेवा रूपी खड्ग से मानसिक कूट-रचनाओं का अन्त कर दे (**गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज**)।

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादान्
वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति ॥ १ ॥

ब्राह्मणः उवाच=ब्राह्मण ने कहा, **अकोविदः**=अनुभवहीन, **कोविद-वाद-वादान्**=अनुभवी व्यक्तियो के द्वारा प्रयुक्त शब्द; **वदसि**=तुम बोल रहे हो, **अथो**=अत., **न**=नही; **अति-विदाम्**=अत्यन्त अनुभवी व्यक्तियो का, **वरिष्ठः**=अत्यन्त महत्वपूर्ण, **न**=नही, **सूरयः**=ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति; **हि**=निस्सन्देह; **व्यवहारम्**=सासारिक तथा सामाजिक आचरण (कर्म); **एनम्**=यह; **तत्त्व**=सत्य का, **अवमर्शेन**=बुद्धि द्वारा उत्तम न्याय, **सह**=साथ; **आमनन्ति**=विवेचना करते है।

अनुवाद

ब्राह्मण जड भरत ने कहा—"हे राजन ! अनुभवी न होने पर भी तुम अत्यन्त अनुभवी व्यक्ति के समान बोलने का प्रयत्न कर रहे हो अतः मै तुम्हें अनुभवी व्यक्ति नही मानता। अनुभवी व्यक्ति कभी भी तुम्हारे समान स्वामी तथा सेवक अथवा भौतिक सुखों और दुखों के सम्बन्ध में इस प्रकार से नहीं बोलता। ये तो मात्र बाह्य कार्य है। कोई भी महान अनुभवी व्यक्ति परम सत्य को जानते हुए इस प्रकार बाते नहीं करता।"

तात्पर्य

कृष्ण ने भी अर्जुन को इसी प्रकार प्रताडित किया था। **अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे,** "पाण्डित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिए शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नही है" (भगवद्गीत २ ११)। इसी प्रकार सामान्य रूप से ९९.९ प्रतिशत लोग अत्यन्त अनुभवी परामर्शदाताओ की भाँति बाते करने का प्रयत्न करते है, किन्तु वे आत्मज्ञान में शून्य होते है, अत. बच्चो के समान ऊट-

पटाँग वोलते है । फलतः उनके वचनो को महत्ता नही प्रदान की जा सकती । मनुष्य को श्रीकृष्ण या उसके भक्त से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि कोई इस अनुभव —अर्थात् आत्मज्ञान के आधार पर बोलता है तो उसके शब्द मूल्यवान होते है । इस समय सम्पूर्ण जगत मूर्खो से पूर्ण है। भगवद्गीता मे ऐसे व्यक्तियो को **'मूढ'** कहा गया है । वे मानव समाज पर आधिपत्य जमाये रहने का प्रयत्न कर रहे है, किन्तु वे आत्मज्ञान से रहित है, अत समूचा ससार अस्तव्यस्त दशा मे है। इन दयनीय परिस्थितियो से उबरने के लिए जड भरत, भगवान् कृष्ण तथा कपिल देव जैसे महापुरुषो से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जीवन की समस्याओ को हल करने का यही एकमात्र उपाय है ।

तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः ॥ २ ॥

तथा=अत., **एव**=निस्सदेह, **राजन्**=हे राजा !, **उरु-गार्ह-मेध**=गृहस्थ जीवन से सवद्ध अनुष्ठान, **वितान-विद्या**=विस्तारशील ज्ञान, **उरु**=अत्यधिक, **विजृम्भितेषु** =रुचि रखने वालो मे, **न**=नही, **वेद-वादेषु**=वेद वाक्य बोलने वाले; **हि**= निस्सन्देह, **तत्त्व-वादः**=आत्म-तत्व, **प्रायेण**=प्राय , **शुद्धः**=समस्त कल्मषो से रहित, विशुद्ध, **नु**=निस्सदेह, **चकास्ति**=प्रतीत होते है, **साधु**=भक्ति को प्राप्त पुरुष ।

अनुवाद

हे राजन ! स्वामी तथा सेवक, राजा तथा प्रजा इत्यादि के प्रसंग तो भौतिक विषय है । वेदो में प्रतिपादित भौतिक विषयो मे रुचि रखने वाले व्यक्ति यज्ञों को करके तथा भौतिक विषयो के प्रति श्रद्धालु बने रह करके संतुष्ट रहते है। ऐसे लोगो को कभी भी आत्म-तत्त्व प्रकट नही हो पाता ।

तात्पर्य

इस श्लोक मे दो शब्द महत्वपूर्ण है—**वेद-वाद** तथा **तत्व-वाद** । भगवद्गीता के अनुसार (२ ४२-४३), जो लोग वेदो मे ही आसक्त है और वेदो या वेदान्तसूत्र का उद्देश्य नही समझते वे **'वेदवाद रताः'** है ।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यगति प्रति ॥

"अल्प बुद्धि मनुष्य वेद के उन अलकारिक वचनो मे वहुत आसक्त रहते है जिनमे स्वर्ग, उच्चकुल, ऐश्वर्य और भोगो को देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मो का विधान है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलापा के कारण ही वे ऐसा कहते है कि इनसे श्रेष्ठ और कुछ नही है।"

वेदवाद अनुयायी सामान्यतः कर्मकाण्ड के प्रति रुचि रखते है। इससे उन्हे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वे प्राय· चातुर्मास्य विधि का सेवन करते है। **अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य-याजिनः सुकृतं भवति**—जो चातुर्मास्य-यज्ञ करता है वह पवित्र हो जाता है और पवित्र होने पर वह स्वर्ग को जाता है (**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्व-स्थाः**)। वेदो के कुछ अनुयायी कर्मकाण्ड का पालन करते है जिससे वे जीवन के उच्चतर स्तर को प्राप्त हो। किन्तु अन्यो का तर्क है कि वेदो का उद्देश्य यह नही है। **तद् यथैवेह कर्म-जितः लोकः क्षीयते एवम् एवम् उत्र पुण्य-जितः लोकः क्षीयते।** इस ससार मे उच्च कुल, उच्च शिक्षा, रूप अथवा धन के कारण कोई भी पुरुप उच्च वन सकता है। ये पूर्व जन्म मे किये गये पुण्यो के वरदान है; यदि हम पुण्य कर्मो मे आसक्त रहें तो अगले जीवन मे हमें ये सारी सुविधाएँ मिल सकती है और हम स्वर्ग मे जन्म ले सकते है। किन्तु इन सव का अन्त होना है—**क्षीणे पुण्ये मर्त्य-लोक विशन्ति** (भगवद्-गीता ९ २१)—पुण्य कर्मो के क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक मे प्रवेश करना पडता है। वैदिक आज्ञाओ के अनुसार वेदो का मुख्य उद्देश्य पुण्यकर्म करना नही है। वेदो का मुख्य उद्देश्य तो भगवद्गीता में विवेचित है। **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**—वेदो का मुख्य उद्देश्य तो श्रीभगवान् कृष्ण को जानना है। जो वेदवादी है वे परम ज्ञानी नही है और ज्ञानकाण्ड (ब्रह्मवादी) के अनुयायी भी पूर्ण नही है। किन्तु जव कोई उपासना से धरातल पर पहुँचकर श्रीभगवान् की उपासना अगीकार कर लेता है तो वह पूर्ण हो जाता है (**आराधनानां सर्वेषां विष्णोराराधनं परम्**)। यद्यपि वेदो मे देवताओ की उपासना तथा यज्ञो के अनुष्ठान का उल्लेख है, किन्तु ऐसी उपासना निम्नकोटि की है क्योकि उपासको को ज्ञात नही है कि परम लक्ष्य तो विष्णु है (**न ते विदुः स्वार्थ-गतिं हि विष्णुम्**)। जव कोई विष्णु-आराधना अथवा भक्तियोग के धरातल पर आता है तो उसे सिद्धि प्राप्त होती है। अन्यथा, जैसा कि भगवद्गीता मे कहा गया है वह तत्ववादी न होकर वेदवादी (वेदो का अन्धा अनुयायी) होता है। वेदवादी तव तक भौतिक कल्मष से शुद्ध नही हो पाता जब तक वह तत्ववादी नही बन जाता अर्थात् तत्व—परम-सत्य को नही जान लेता। तत्व भी तीन प्रकार से अनुभव

किया जाता है—**ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्दयते**। तत्व का ज्ञान होने पर भी भगवान्, विष्णु और उनके अशो की उपासना करते रहना चाहिए अन्यथा मनुष्य इतने पर भी अपूर्ण रहेगा। **बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते**—अनेक जन्मो के पश्चात् वास्तविक ज्ञानी कृष्ण की शरण जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि अल्प ज्ञानी मनुष्य भगवान्, ब्रह्म या परमात्मा को नही समझ सकता, किन्तु वेदो का अध्ययन कर लेने के बाद तथा परम सत्य श्रीभगवान् का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर मनुष्य पूर्णज्ञान के पद को प्राप्त होता है।

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्
वरीयसीरपि वाचः समासन्।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात् ॥ ३ ॥

न=नही; **तस्य**=उसका (वेदपाठी का), **तत्त्व-ग्रहणाय**=वैदिक ज्ञान के वास्तविक प्रयोजन को स्वीकारने के लिए; **साक्षात्**=प्रत्यक्ष, **वरीयसीः**=परम आदरणीय, **अपि**=यद्यपि, **वाचः**=वेद वाक्य, **समासन्**=अत्यधिक हो गया, **स्वप्ने**=स्वप्न मे, **निरुक्त्या**=उदाहरण से, **गृह-मेधि-सौख्यम्**=इस जगत के भीतर सुख, **न**=नही, **यस्य**=जिसका; **हेय-अनुमितम्**=तुच्छ जान पड़ने से, **स्वयम्**=स्वत., **स्यात्**=होवे।

अनुवाद

मनुष्य को स्वप्न स्वतः झूठा और व्यर्थ लगने लगता है। इसी प्रकार उसे इस लोक में अथवा स्वर्ग में इसी जीवन में अथवा अगले जन्म मे भौतिक सुख की कामना तुच्छ प्रतीत होने लगती है। जब उसे इसका बोध हो जाता है तो श्रेष्ठ साधन होने पर भी वेद सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में अपर्याप्त लगने लगते है।

तात्पर्य

भगवद्गीता मे (२ ४५) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया कि वह प्रकृति के तीन गुणो से प्रेरित भौतिक विषयो के प्रति अतीत (दिव्य) बने (**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन**)। वैदिक अध्ययन का उद्देश्य प्रकृति के तीन गुणो के विषयो का उल्लघन कर देना है। निस्सदेह इस संसार मे सात्विक गुण को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और सत्व गुण पद प्राप्त होने पर मनुष्य स्वर्ग को चला जाता है। किन्तु यह कोई सिद्धि नही है। मनुष्य को तो यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि सत्वगुण पद भी उत्तम

नही है । स्वप्न मे भले ही कोई यह देखे कि वह राजा हो गया है, उसके स्त्री, सतान आदि है, किन्तु स्वप्न के अन्त मे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यह सब झूठ है । इसी प्रकार आत्ममोक्ष चाहने वाले पुरुष के लिए समस्त भौतिक सुख अवाछनीय है। जव तक मनुष्य ऐसा नही सोचता तब तक उसे तत्व-ज्ञान नही होता । सभी कर्मी, ज्ञानी तथा योगी एक न एक भौतिक उन्नति चाहते है । कर्मी शारीरिक सुविधा के लिए अहर्निश कार्य करते है, जबकि ज्ञानी लोग यही चिन्तन करते रहते है कि कर्म के बन्धन से वे किस प्रकार छूटकर ब्रह्मतेज मे मिल जावे । योगीजन भौतिक सिद्धि और जादुई शक्ति प्राप्त करने के पीछे पड़े रहते है । ये सभी भौतिक दृष्टि से पूर्ण वनने का प्रयत्न करते है, किन्तु भक्त अत्यन्त सरलतापूर्वक भक्ति के निर्गुण पद को प्राप्त होता है, फलत. भक्त के लिए कर्म, ज्ञान तथा योग के फल तुच्छ है । इसलिए केवल भक्त ही तत्व-ज्ञान को प्राप्त होता है, अन्य कोई नही । निस्संदेह ज्ञानी का पद कर्मी से श्रेष्ठ है, किन्तु यह पद भी अपर्याप्त है । ज्ञानी को भी मुक्त होना चाहिए और मुक्ति के बाद ही वह भक्ति कर सकता है (**मद्भक्तिं लभते पराम्**) ।

यावन्मनो रजसा पूरुषस्य
सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम् ।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरङ्कुशं कुशलं चेतरं वा ॥ ४ ॥

यावत्=जव तक, **मनः**=मन, **रजसा**=रजोगुण से, **पूरुषस्य**=जीवात्मा का, **सत्त्वेन**=सतोगुण से, **वा**=अथवा, **तमसा**=तमोगुण से, **वा**=अथवा, **अनुरुद्धम्**=नियन्त्रित, **चेतोभिः**=ज्ञानेन्द्रियो से, **आकूतिभिः**=कर्मेन्द्रियो से, **आतनोति**=फैलाता है, **निरङ्कुशम्**=हाथी के समान स्वच्छन्द (जिसको अकुश से वश मे किया जाता है); **कुशलम्**=कुशलता, कल्याण, **च**=भी, **इतरम्**=कुशलता के अतिरिक्त अर्थात् पाप कर्म, **वा**=अथवा ।

अनुवाद

जव तक जीवात्मा का मन तीन-गुणो (सतो, रजो तथा तमो) से दूषित रहता है तव तक वह स्वच्छन्द, अनियन्त्रित हाथी के समान रहता है । वह इन्द्रियों का उपयोग करके शुभ तथा अशुभ कर्मो के क्षेत्र को वृहत्तर बनाता है । परिणाम यह निकलता है कि जीवात्मा इस संसार में मात्र सुख तथा दुख का अनुभव करता है ।

तात्पर्य

"चैतन्यचरितामृत" मे वतलाया गया है कि शुभ तथा अशुभ कर्म दोनो ही भक्ति

के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। भक्ति का अर्थ है मुक्ति—भौतिक बन्धन से छुटकारा, किन्तु शुभ तथा अशुभ कर्मों से ससार मे बँधना पडता है। यदि वेदो मे वर्णित शुभाशुभ कर्मों के प्रति मन आकृष्ट हो जाता है तो मनुष्य सदैव अधकार मे रहा आता है; उसे परम पद कभी नही प्राप्त हो पाता। चेतना को तमो से रजो और रजो को सतो मे बदलते रहने से समस्या का समाधान नही होता। जैसा कि भगवद्गीता मे (१४ २६) कहा गया है—**स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते**। मनुष्य को दिव्य पद पर पहुँचना है अन्यथा जीवन का उद्देश्य पूरा नही हो सकता।

स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा।
बिभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेद-
मन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति ॥ ५ ॥

सः=वह, **वासना**=अनेक कामनाओ से युक्त, **आत्मा**=मन, **विषय-उपरक्तः** =भौतिक सुख में आसक्त, इन्द्रियतृप्ति, **गुण-प्रवाहः**=सत्व, रजो अथवा तमो गुण की शक्ति से प्रेरित, **विकृतः**=काम आदि से विरूपित, **षोडश-आत्मा**=प्रमुख सोलह तत्व (पाँच स्थूल तत्व तथा दस ज्ञानेन्द्रियाँ एव मन); **बिभ्रत्**=घूमते हुए; **पृथक्-नामभिः**=विभिन्न नामो से, **रूप-भेदम्**=विभिन्न रूप धारण करते हुए, **अन्तः-बहिष्ट्वम्**=प्रथम कोटि या निम्न कोटि का गुण, उत्तमता या अधमता, **च**=तथा, **पुरैः**=विभिन्न शारीरिक रूपो से, **तनोति**=प्रकट करता है।

अनुवाद

शुभ तथा अशुभ कर्मो की आकांक्षाओं में लीन रहने के कारण मन काम तथा क्रोध के विकारों से ग्रस्त होता रहता है। इस प्रकार वह भौतिक इन्द्रिय सुख के प्रति आकृष्ट होता है। कहने का तात्पर्य यह कि मन सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से संचालित होता है। ग्यारह इन्द्रियो तथा पाँच तत्वों—इन सब सोलह कलाओं में से मन प्रधान है। अतः मन के ही कारण विभिन्न देवताओ, मनुष्यों, पशुओं तथा पक्षियों में जन्म लेना पड़ता है। उच्च या निम्न पद पर स्थित होने के अनुसार ही मन उच्च या निम्न देह अंगीकार करता है।

तात्पर्य

चौरासी लाख योनियो मे देहान्तरण का कारण भौतिक गुणो के कारण मन का दूषित होना है। मन के ही कारण आत्मा को शुभ तथा अशुभ कर्म करने पड़ते है।

यह ससार प्रकृति की तरगो की भाँति विस्तीर्ण है। इस सम्बन्ध मे भक्ति विनोद ठाकुर का कहना है—**मायार वशे याच्छ भेसे, खाच्छ हाबुडुबु भाइ**—"मेरे भाई, आत्मा माया के अधीन है और तुम उसकी तरंगो मे बह रहे हो।" भगवद्गीता मे (३.२७) भी इसी की पुष्टि हुई है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

"सम्पूर्ण कर्म वास्तव मे प्रकृति के गुणो से सम्पन्न होते है परन्तु गुणो से उत्पन्न अहकार द्वारा मोहित जीवात्मा अपने को कर्ता मान बैठता है।"

अस्तित्व (ससार) का अर्थ है भौतिक प्रकृति द्वारा पूर्ण नियन्त्रण। प्रकृति के आदेशो को अगीकार करने वाला केन्द्र मन ही है। इस प्रकार जीवात्मा कल्प-कल्पान्तर तक विभिन्न देह धारण करता रहता है।

कृष्ण भुलि' सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख ।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख ॥

(चैतन्य चरि० मध्य २० ११७)

श्रीकृष्ण के विस्मरण से ही जीवात्मा प्रकृति के नियमो से बँध जाता है।

दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति ।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः ॥ ६ ॥

दुःखम्=अशुभ कर्मो के कारण दुख, **सुखम्**=शुभ कर्म से उत्पन्न सुख, **व्यतिरिक्तम्**=मोह, **च**=तथा, **तीव्रम्**=अत्यन्त कठिन, **काल-उपपन्नम्**=काल-क्रम मे प्राप्त, **फलम्**=फल; **आव्यनक्ति**=उत्पन्न करता है, **आलिङ्ग्य**=आलिगन करते हुए, **माया-रचित**=प्रकृति द्वारा उत्पन्न, **अन्तः-आत्मा**=मन, **स्व-देहिनम्**=स्वय जीव, **संसृति**=संसार की प्रतिक्रियाओ का, **चक्र-कूटः**=जो जीव को चक्र मे छलता है।

अनुवाद

सांसारिक मन जीव की आत्मा को आच्छादित करके उसे विभिन्न योनियों में

घुमाता रहता है। इसे संसृति कहते है। मन के ही कारण जीवात्मा को भौतिक दुख तथा सुख का बोध होता है। इस प्रकार मोहग्रस्त होकर यह मन शुभ तथा अशुभ विषयों तथा उनके कर्म को उत्पन्न करता है। इस प्रकार आत्मा बद्ध हो जाता है।

तात्पर्य

इस ससार में प्रकृति के वशीभूत होकर मानसिक विषयो से सुख तथा दुख उत्पन्न होते है। जीवात्मा मोहग्रस्त होकर विभिन्न उपाधियों से अनवरत बद्ध जीवन बिताता रहता है। ऐसी जीवात्माएँ **नित्य बद्ध** कही जाती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मन ही बद्ध जीवन के लिए उत्तरदायी होता है इसीलिए समस्त योग क्रियाएँ मन तथा इन्द्रियो को नियन्त्रित करने के लिए होती है। यदि मन वश में हो जाता है तो इन्द्रियाँ स्वयमेव नियन्त्रित रहती है और इस तरह आत्मा शुभ तथा अशुभ कर्मों के फल से बच जाता है। यदि मन श्रीकृष्ण के चरणकमलो मे अनुरक्त रहे (**स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोः**) तो इन्द्रियाँ स्वतः ईश्वर की सेवा मे लग जाती है। जब मन तथा इन्द्रियाँ भक्ति मे लग जाती है तो जीवात्मा सहज ही कृष्ण-भक्त बन जाता है। जब कोई मनुष्य निरन्तर कृष्ण का ध्यान धरता है तो वह परम योगी बन जाता है, जिसकी पुष्टि भगवद्गीता मे की गई है (**योगिनाम् अपि सर्वेषां मद्-गतेनान्तरात्मना**)। यह अन्तरात्मा ही मन है जो प्रकृति के द्वारा बंधा हुआ है। जैसा कि यहाँ कहा गया है—**माया-रचितान्तरात्मा स्व-देहिनं संसृति-चक्र-कूटः**—मन परम शक्तिमान होने के कारण जीवात्मा को आच्छादित कर के उसे भवसागर की तरगो मे ला पटकता है।

तावानयं व्यवहारः सदाविः
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
गुणागुणत्वस्य परावरस्य ॥ ७ ॥

तावान्=उस समय तक; **अयम्**=यह; **व्यवहारः**=कृत्रिम उपाधियाँ (मोटा, दुबला, दैव या मानवीय), **सदा**=सदैव; **आविः**=प्रकट करते हुए; **क्षेत्र-ज्ञ**=जीवात्मा का; **साक्ष्यः**=प्रमाण, **भवति**=है; **स्थूल-सूक्ष्मः**=मोटा तथा दुबला; **तस्मात्**=अतः; **मनः**=मन, **लिङ्गम्**=कारण; **अदः**=यह, **वदन्ति**=कहते है, **गुण-अगुणत्वस्य**=गुणो अथवा अगुणो का; **पर-अवरस्य**=तथा जीवन की उच्च और निम्न दशाएँ।

अनुवाद

मन जीवात्मा को इस संसार में विभिन्न योनियों में घुमाता रहता है जिससे जीवात्मा को मनुष्यों, देवताओं, स्थूल-कृश मनुष्यों आदि विविध रूपो का लौकिक अनुभव होता है। विद्वानों का कथन है कि देह के बन्धन तथा मुक्ति का कारण मन ही है।

तात्पर्य

यदि मन बन्धन का कारणस्वरूप बनता है तो मुक्ति का भी कारणस्वरूप यही है। मन को **पर-अवर** कहा गया है। **पर** का अर्थ "दिव्य" तथा अवर का अर्थ "भौतिक" है। जब मन ईश्वर की सेवा में अनुरक्त रहता है (**स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोः**) तो इसे **पर** अर्थात् दिव्य कहते है। किन्तु जब यह इन्द्रियतृप्ति मे व्यस्त रहता है तो इसे **अवर** या भौतिक कहते है। इस समय बद्ध अवस्था मे हमारा मन पूर्णतया इन्द्रियतृप्ति मे लगा हुआ है, किन्तु भक्ति के द्वारा इसे शुद्ध करके आदि श्रीकृष्ण भावना मे लाया जा सकता है। हमने प्रायः अम्बरीष महाराज का दृष्टान्त दिया है। **स वै मनः कृष्ण-पदारविन्दयोः वचांसि वैकुण्ठ-गुणानुवर्णने**। कृष्णभावनामृत मे मन पर नियन्त्रण आवश्यक है। जीभ का उपयोग कृष्ण के सदेश को प्रसारित करने और ईश्वर का गुणगान करने अथवा कृष्ण का "प्रसाद" प्राप्त करने मे किया जाना चाहिए। **सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ**—जब मनुष्य जीभ का उपयोग ईश्वर की की सेवा मे करता है तो अन्य इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती है। जैसा कि "नारदपचरात्र" मे कहा गया है—**सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तं तत्-परत्वेन निर्मलम्**—मन तथा इन्द्रियो के शुद्ध हो जाने पर मनुष्य-जीवन तथा उसकी उपाधियाँ शुद्ध हो जाती है। तब मनुष्य अपने को मनुष्य, देवता, कुत्ता, बिल्ली, हिन्दू, मुसलमान आदि कुछ भी नहीं मानता। मन तथा इन्द्रियों के शुद्ध होने और कृष्ण की सेवा में पूर्णतया अर्पित होने पर मुक्ति मिल जाती है और मनुष्य श्रीभगवान् के धाम को वापस जाता है।

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात्।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम्।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम् ॥ ८ ॥

गुण-अनुरक्तम्=गुणो के प्रति आसक्त होकर, **व्यसनाय**=ससार में बद्ध होने के लिए; **जन्तोः**=जीवात्मा के, **क्षेमाय**=परम कल्याण के लिए, **नैर्गुण्यम्**=गुणों से अप्रभावित रहकर; **अथो**=इस प्रकार, **मनः**=मन, **स्यात्**=हो जाता है; **यथा**=जिस प्रकार (जितना कि); **प्रदीप**=दीपक, **घृत-वर्तिम्**=घी के भीतर रखी वत्ती, **अशनम्**=जलकर, **शिखाः**=ज्वाला, लौ, **सधूमाः**=धुँआ से युक्त, **भजति**=भोगती है, **हि**=निश्चय ही, **अन्यदा**=अन्यथा; **स्वम्**=अपने आप, **पदम्**=पद; **तथा**=उसी तरह, **गुण-कर्म-अनुबद्धम्**=गुणों तथा कर्मो से बद्ध, **वृत्तीः**=नाना प्रकार के कार्य; **मनः**=मन, **श्रयते**=शरण लेता है; **अन्यत्र**=अन्यथा; **तत्त्वम्**=अपनी मूल स्थिति।

अनुवाद

जब जीवात्मा का मन सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति में लीन हो जाता है तो जीवन-वंधन तथा सांसारिक कष्ट प्राप्त होते है। किन्तु जब वही उनसे अनासक्त हो जाता है तो मुक्ति का कारण बनता है। जब दीपक की बत्ती से ठीक-ठीक लौ नही उठती तो दीपक काला पड़ जाता है, किन्तु घी भरा होने पर यह ठीक से जलता है और तीव्र प्रकाश निकलता है। इसी प्रकार जब मन इन्द्रिय-तृप्ति में संलग्न रहता है तो इससे कष्ट प्राप्त होते है और जब यह उनसे विरक्त हो जाता है तो श्रीकृष्णभावना का आदि प्रकाश निकलने लगता है।

तात्पर्य

अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि मन ही इस देह तथा मुक्ति का भी कारण-स्वरूप है। मन के ही कारण प्रत्येक प्राणी कष्ट उठा रहा है, अतः यह आवश्यक है कि मन को ठीक से प्रशिक्षित किया जाय या भौतिक आसक्ति से इसे विमल करके ईश्वर की सेवा मे लगाया जाय। इसे ही आत्म-वृत्ति कहते है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता मे (१४.२६) इस प्रकार हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

"जो पूर्ण रूप से मेरी भक्ति करता है और किसी भी स्थिति में उससे गिरता नही वह अविलम्ब त्रिगुणमयी माया का उल्लघन करके सिद्ध हो जाता है।"

हमे अपने मन को पूर्णतया कृष्णभावनाभावित कार्यो मे लगाना चाहिए। तब यह हमारी मुक्ति और परमधाम जाने का कारण बन जायेगा। किन्तु यदि हम सासारिक विषयो मे इसे लगाये रहेगे तो यह बन्धन का कारण बनेगा और हम इसी ससार मे नाना देह धारण करते रहेगे।

एकादशासन्मनसो हि वृत्तय
आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः ।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां
वदन्ति हैकादश वीर भूमीः ॥ ९ ॥

एकादश=ग्यारह; **आसन्**=है; **मनसः**=मन की; **हि**=निश्चय ही; **वृत्तयः**=वृत्तियाँ; **आकूतयः**=कर्मेन्द्रियाँ; **पञ्च**=पाँच; **धियः**=ज्ञानेन्द्रियाँ; **अभिमानः**=अहकार; **मात्राणि**=विभिन्न विषय, **कर्माणि**=विभिन्न कर्म; **पुरम् च**=तथा शरीर, समाज, राष्ट्र, परिवार या जन्मभूमि; **तासाम्**=इन कार्यों का; **वदन्ति**=कहते है; **ह**=ओह !; **एकादश**=ग्यारह, **वीर**=हे वीर पुरुष !, **भूमीः**=कार्यक्षेत्र, कर्मक्षेत्र ।

अनुवाद

पाँच कर्मेन्द्रियाँ है तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ । इनके साथ ही अहंकार भी आता है । इस प्रकार मन की ग्यारह प्रकार की वृत्तियाँ है । हे वीर ! पण्डित लोग इन्द्रियों के विषय (यथा शब्द और स्पर्श), कायिक कर्म (यथा मलत्याग) तथा विभिन्न प्रकार के देह, समाज, मैत्री तथा व्यक्तित्व—इन सबको मन के कार्य के अन्तर्गत मानते है ।

तात्पर्य

मन पाँच ज्ञानेन्द्रियो तथा पाँच कर्मेन्द्रियों का नियामक है । प्रत्येक इन्द्रिय का अपना कार्यक्षेत्र (विषय) होता है । प्रत्येक दशा मे मन ही स्वामी या नियामक है । अहकारवश मनुष्य अपने को शरीर मानने लगता है और "यह मेरा शरीर, मेरा घर, मेरा परिवार, मेरा समाज, मेरा राष्ट्र इत्यादि" के रूप मे सोचता रहता है । ये झूठी उपाधियाँ अहकार के विस्तार के कारण है । इस तरह मनुष्य यह या वह सोचता है और यह जीवात्मा संसार मे उलझ जाता है ।

गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः ॥१०॥

गन्ध=गन्ध, महक; **आकृति**=रूप, **स्पर्श**=छूने का बोध; **रस**=स्वाद, **श्रवांसि**=तथा शब्द, **विसर्ग**=मलत्याग, **रति**=सभोग, **अर्ति**=गति, गमन, **अभिजल्प**=भाषण; **शिल्पाः**=पकड़ना या छोड़ना, लेना-देना, **एकादशम्**= ग्यारह; **स्वीकरणम्**=स्वीकार करते हुए, **मम**=मेरा, **इति**=इस प्रकार, **शय्याम्** =यह शरीर, **अहम्**=मैं, **द्वादशम्**=बारहवाँ, **एके**=कुछ लोगो ने; **आहुः**= कहा है।

अनुवाद

शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद (रस) तथा गन्ध ये ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार है। भाषण, लेन-देन, गमन, मलत्याग तथा संभोग ये कर्मेन्द्रियों के कार्य है। इसके अतिरिक्त एक अन्य धारणा है जिसके अन्तर्गत मनुष्य सोचता है कि "यह मेरा शरीर है, यह मेरा समाज है, यह मेरा परिवार है, यह मेरा राष्ट्र है।" यह ग्यारहवॉ व्यापार मन का है और अहंकार कहलाता है। कुछ दार्शनिकों के अनुसार यह बारहवॉ व्यापार है और इसका कार्यक्षेत्र शरीर है।

तात्पर्य

विभिन्न प्रकार के ग्यारह विषय (व्यापार) है। नाक से हम सूँघते है, नेत्रों से देखते है, कानो से सुनते है और इस प्रकार हम ज्ञान सचित करते है। इसी तरह हाथ, पाँव, लिंग, गुदा, मुख आदि कर्मेन्द्रियॉ है। जब अहकार का विस्तार होता है तो मनुष्य सोचता है, "यह मेरा शरीर, परिवार, समाज, देश है।"

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशामी मनसो विकाराः।
सहस्रशः शतशः कोटिशश्च
क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः ॥११॥

द्रव्य=भौतिक पदार्थो (विषयो) से, **स्व-भाव**=स्वभाव से, **आशय**=सस्कृति (संस्कार) से, **कर्म**=पूर्व निर्धारित कर्मफल से, **कालैः**=समय से, **एकादश**= ग्यारह; **अमी**=ये सब; **मनसः**=मन के, **विकारा**=रूपान्तर (भेद), **सहस्रशः**= हजारो मे; **शतशः**=सैंकडो में, **कोटिश च**=तथा करोडो मे, **क्षेत्र-ज्ञतः**=आदि श्रीभगवान् से, **न**=नही, **मिथः**=परस्पर, **न**=न तो, **स्वतः**=अपने आप से, **स्युः**=है।

अनुवाद

भौतिक तत्व (द्रव्य या विषय), प्रकृति (स्वभाव), मूल कारण, संस्कार, भाग्य तथा समय (काल) ये सब भौतिक कारण हैं। इन भौतिक कारणों से विक्षुब्ध होकर ग्यारह वृत्तियाँ पहले सैकड़ों, फिर हजारों और तब करोड़ों भेदों में बदल जाती है। किन्तु ये सभी भेद स्वतः परस्पर मिश्रण के द्वारा घटित नही होते वरन् वे श्रीभगवान् के आदेशानुसार होते हैं।

तात्पर्य

किसी को यह नही सोचना चाहिए कि द्रव्य की समस्त अन्तःक्रियाएँ, चाहे वे स्थूल हो या सूक्ष्म, जिनसे मन का तथा चेतना में परिवर्तन होता है वे स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रही है। वे सब श्रीभगवान् के निर्देशन मे घटित होती है। भगवद्-गीता मे (१५ १५) श्रीकृष्ण कहते है कि ईश्वर सबो के हृदय मे स्थित है (**सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च**)। जैसा कि वर्णित है परमात्मा (क्षेत्रज्ञ) सबको आदेशित कर रहा है। जीवात्मा भी क्षेत्रज्ञ है, किन्तु परम क्षेत्रज्ञ तो श्रीभगवान् ही है। वही साक्षी और आज्ञा देने वाला है। उसी के निर्देशन मे सब कुछ घटित होता है। जीवात्मा की विभिन्न वृत्तियाँ उसके अपने स्वभाव से उत्पन्न होती है और प्रकृति माया के माध्यम से श्रीभगवान् द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है। शरीर, प्रकृति तथा तत्व श्रीभगवान् के आदेशाधीन है। वे स्वत. कार्य नही करते। प्रकृति (माया) न तो स्वतन्त्र है न स्वतः कार्यशील। जैसा कि भगवद्गीता मे (९ १०) पुष्टि की गई है, प्रकृति के पीछे श्रीभगवान् है—

मयाध्यक्षेन प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

"हे कुन्तीपुत्र ! यह प्रकृति (माया) मेरी अध्यक्षता मे कार्य करती हुई सम्पूर्ण चराचर प्राणियो को रचती है। इस कारण इस जगत का बारम्बार सृजन और सहार होता है।"

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-
र्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः।
आविर्हिता क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः॥१२॥

क्षेत्र-ज्ञः=जीव, **एताः**=ये सब, **मनसः**=मन के, **विभूतीः**=विभिन्न वृत्तियाँ, **जीवस्य**=जीवात्मा की, **माया रचितस्य**=माया द्वारा उत्पन्न; **नित्याः**=अनादि-काल से, **आविर्हिताः**=कभी-कभी प्रकट, **क्वापि**=कही, **तिरोहिताः च**=तथा अप्रकट, **शुद्धः**=शुद्ध, **विचष्टे**=इसे देखता है; **हि**=निश्चय ही, **अविशुद्ध**=अशुद्ध, **कर्तुः**=कर्ता का ।

अनुवाद

कृष्णभक्ति से रहित जीव के मन में माया द्वारा उत्पन्न अनेक विचार तथा वृत्तियाँ होती हैं । वे अनन्त काल से विद्यमान रही है । कभी-कभी वे जाग्रत तथा स्वप्न अवस्था में प्रकट होती है, किन्तु सुषुप्तावस्था या समाधि में वे लुप्त हो जाती हैं । जीवन्मुक्त (जो इस जन्म में ही मुक्त हो चुका है) इन सब व्यापारों को स्पष्ट देखता है ।

तात्पर्य

जैसा कि भगवद्गीता मे (१३ २) कहा गया है—**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व-क्षेत्रेषु भारत ।** क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवो के दो भेद है । एक तो सामान्य जीव और दूसरा परम जीव (परमात्मा) । सामान्य जीव अपने शरीर के विषय मे कुछ हद तक ही जानता है, किन्तु परमात्मा समस्त देहियो को जानता है । जीव स्थानिक है, किन्तु परमात्मा सर्वव्यापी है । इस श्लोक मे **क्षेत्रज्ञ** सामान्य जीव के लिए प्रयुक्त है । यह सामान्य जीव दो प्रकार का होता है—नित्य बद्ध तथा नित्य मुक्त । इनमें से पहला शाश्वत बद्ध रहने वाला और दूसरा शाश्वत मुक्त रहता है । शाश्वत मुक्त जीव वैकुण्ठ जगत मे रहता है और वह इस भौतिक जगत मे कभी नही आता । जो भौतिक जगत मे रहते है वे नित्य बद्ध है। ये जीव मन को नियन्त्रित करके मुक्त हो सकते है क्योंकि बद्धजीवन का कारण मन है । जब मन को वश मे कर लिया जाता है और आत्मा उसके वश मे नही रहता तो इसी भौतिक जगत मे आत्मा मुक्त हो सकता है । मुक्त होने पर वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जीवन्मुक्त को पता होता है कि वह किस प्रकार बद्ध हुआ, अतः वह अपने को शुद्ध करने और श्रीभगवान् के धाम को वापस जाने का प्रयत्न करता है । बद्ध तथा मुक्त अवस्थाओ की तुलना सुप्त तथा जाग्रत अवस्था से की जाती है । जो बेखबर होकर सोते है वे नित्य-बद्ध है और जो जाग्रत है वे अपने को श्रीभगवान् कृष्ण का विभिन्न अश मानते है । अतः वे इस भौतिक जगत मे भी श्रीकृष्ण की सेवा मे तत्पर होते है । जैसा कि श्रील रूप गोस्वामी ने पुष्टि की है—**ईहा यस्य हरेर्दास्ये ।** श्रीकृष्ण की सेवा करने वाला मुक्त हो जाता है, भले ही वह इस ससार मे बद्ध जीवात्मा प्रतीत हो । **जीवन्मुक्तः स उच्यते**—प्रत्येक दशा मे कोई तभी मुक्त माना जा सकता है जब उसका एकमात्र कार्य श्रीकृष्ण की सेवा करना हो ।

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः।
नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमाययाऽऽत्मन्यवधीयमानः ॥१३॥

यथानिलः स्थावरजङ्गमाना-
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत्।
एवं परो भगवान् वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः ॥१४॥

क्षेत्र-ज्ञः=श्रीभगवान् (श्लोक १२ मे सामान्य जीव); **आत्मा**=सर्वव्यापी; **पुरुषः**=असीम शक्ति वाला नियन्ता, **पुराणः**=आदि, **साक्षात्**=प्रत्यक्ष अनुभव तथा अधिकारियो से श्रवण करके; **स्वयम्**=व्यक्तिगत, **ज्योतिः**=ब्रह्मतेज प्रकट करने वाला, **अजः**=अजन्मा, **परेशः**=श्रीभगवान्, **नारायण**=समस्त जीवो का आश्रय, **भगवान्**=छः पूर्ण ऐश्वर्यो से युक्त श्रीभगवान्, **वासुदेवः**=प्रकट तथा अप्रकट, सबो का आश्रय, **स्व-मायया**=अपनी शक्ति से, **आत्मनि**=अपने आप मे, अथवा सामान्य जीवो मे, **अवधीयमानः**=नियन्ता के रूप में रह कर; **यथा**=जिस प्रकार, **अनिलः**=वायु; **स्थावर**=जड, न चलने वाले जीव; **जङ्गमानाम्**=तथा जगमो (सचल) का; **आत्म-स्वरूपेण**=परमात्मा रूप के द्वारा; **निविष्टः**=निहित; **ईशेत्**=नियन्त्रण करता है, **एवम्**=इस प्रकार, **परः**=दिव्य; **भगवान्**=श्रीभगवान्; **वासुदेवः**=प्रत्येक पदार्थ के आश्रय, **क्षेत्रज्ञः**=क्षेत्रज्ञ नाम से अभिहित, **आत्मा**=प्राण शक्ति, **इदम्**=यह जगत, **अनुप्रविष्टः**=भीतर प्रविष्ट।

अनुवाद

क्षेत्रज्ञ दो प्रकार के है—जीवात्मा तथा श्रीभगवान्। (जीवात्मा का वर्णन पीछे किया जा चुका है, यहाँ श्रीभगवान् की विवेचना की जा रही है)। श्रीभगवान् सृष्टि का सर्वव्यापक कारण है। वह अपने मे पूर्ण है और अन्यों पर आश्रित नही है। वह सुनकर तथा प्रत्यक्ष अनुभव (दर्शन) से देखा जाता है। वह आत्मतेजस्वी है और उसे जन्म, मृत्यु, जरा अथवा व्याधि कुछ भी नहीं सताते। वह ब्रह्मादि समस्त देवताओ का नियन्ता है। उसका नाम नारायण है और वह इस संसार के प्रलय के पश्चात् समस्त जीवात्माओ का आश्रय है। वह परम ऐश्वर्यवान है और समस्त

भौतिक वस्तुओं का आश्रय है। अत. वह वासुदेव श्रीभगवान् के नाम से जाना जाता है। अपनी शक्ति से ही वह समस्त जीवात्माओं के हृदयो में स्थित है जिस प्रकार समस्त चराचर प्राणियों में वायु या जीवनीशक्ति (प्राण) रहती है। इस प्रकार वह शरीर को वश में रखता है। अपने अंश रूप मे श्रीभगवान् समस्त देहों में प्रवेश करके उनको नियन्त्रित करता रहता है।

तात्पर्य

इसकी पुष्टि भगवद्गीता मे (१५ १५) की गई है—**सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।** प्रत्येक प्राणी के हृदय मे स्थित परमात्मा के द्वारा प्रत्येक जीव शासित होता है। वह इस ससार को उत्पन्न करने वाला पुरुष—पुरुष-अवतार है। पुरुष-अवतार महाविष्णु है और महाविष्णु श्रीभगवान् श्रीकृष्ण के अश के अश मात्र है। श्रीकृष्ण के प्रथम विस्तार (प्रकाश) बलदेव है और वासुदेव, संकर्षण, अनिरुद्ध तथा प्रद्युम्न अन्य विस्तार है। वासुदेव ही ब्रह्मज्योति के मूल कारण है और यह ब्रह्मज्योति वासुदेव के शरीर की किरणों का विस्तार (प्रकाश) है।

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटिष्वशेष-वसुधादि-विभूति-भिन्नम्।
तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेष-भूतं
गोविन्दमादि-पुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं आदि ईश्वर गोविन्द की पूजा करता हूँ जो परम शक्ति से समन्वित है। उनके दिव्य रूप का तेज निर्गुण ब्रह्म है जो परम, पूर्ण तथा अनन्त है और जो करोड़ों ब्रह्माण्डो मे असख्य लोको को उनके ऐश्वर्यो सहित प्रदर्शित करता है।" (ब्रह्मसहिता ५ ४०)। भगवद्गीता मे (९.४) श्रीभगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

"मेरे प्राकृत इन्द्रियो से अतीत अव्यक्त रूप द्वारा यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। सम्पूर्ण चराचर प्राणी मुझमे स्थित है परन्तु मै उनमे नही हूँ।"

श्रीकृष्ण के अश रूप वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की यह स्थिति है।

न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन।

विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत् ॥१५॥

न=नही; **यावत्**=जब तक; **एताम्**=यह, **तनु-भृत्**=जिसने शरीर अगीकार किया है, मनुष्य, **नरेन्द्र**=हे राजन, **विधूय मायाम्**=ससार से उत्पन्न कल्मप को धोते हुए, **वायुना उदयेन**=वैदिक साहित्य तथा सत्सगति से दिव्य ज्ञान जगने के कारण, **विमुक्त-सङ्गः**=समस्त सगति से मुक्त, **जित-षट-सपत्नः**=छः शत्रुओ (पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ तथा मन) को जीत कर, **वेद**=जानता है, **आत्म-तत्त्वम्**= आत्मतत्व, **भ्रमति**=घूमता है, **इह**=इस ससार मे, **तावत्**=तव तक ।

अनुवाद

हे राजा रहूगण ! जब तक बद्ध-आत्मा भौतिक देह को स्वीकार करता है और भौतिक सुख के कल्मष से मुक्त नही हो जाता तथा जब तक अपने छः शत्रुओं को जीत कर आत्मज्ञान को जागृत करके आत्मसाक्षात्कार को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक उसे इस जगत में विभिन्न स्थानों तथा नाना योनियों में घूमना पड़ता है ।

तात्पर्य

जब किसी मनुष्य का मन देहात्मबुद्धि मे लिप्त रहता है तो वह अपने को किसी एक राष्ट्र, परिवार, देश या जाति से सम्बद्ध मानता है । इन्हे उपाधियॉ कहते है । मनुष्य को इनसे मुक्त होना होता है (**सर्वोपाधि विनिर्मुक्तम्**) । जब तक मनुष्य इनसे मुक्त नही होता उसे इस ससार मे बद्धजीवन बिताना पडता है । मनुष्य जोवन का लक्ष्य इन भ्रान्तियो को दूर करना है । यदि ऐसा नही किया जाता तो जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है ।

न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य ।
यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते ॥१६॥

न=नही, **यावत्**=जब तक, **एतत्**=यह; **मनः**=मन; **आत्म-लिङ्गम्**=आत्मा की झूठी उपाधि के रूप मे; **संसार-ताप**=इस जगत के कष्टो का, **आवपनम्**= खेत, **जनस्य**=जीव का; **यत्**=जो, **शोक**=शोक का; **मोह**=मोह का, **आमय**=रोग का, **राग**=आसक्ति का, **लोभ**=लालच का, **वैर**=शत्रुता का, **अनुबन्धम्**=परिणाम, **ममताम्**=ममता, **विधत्ते**=देता है ।

अनुवाद

इस संसार में आत्मा की उपाधि यह मन समस्त दुःखों का मूल है। जब तक बद्धजीवात्मा इस तथ्य को नहीं जानता तब तक उसे देह की दयनीय दशा को स्वीकार करके इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न योनियो में घूमना पड़ता है। चूँकि यह मन रोग, शोक, मोह, राग, लोभ तथा वैर से ग्रस्त रहता है इस कारण से बन्धन तथा झूठी ममता उत्पन्न होती है।

तात्पर्य

मन वन्धन तथा मुक्ति दोनो का कारण है। अशुद्ध मन सोचता है कि मै ही देह हूँ, किन्तु शुद्ध मन जानता है कि वह देह नही है अतः मन को समस्त उपाधियो का मूल माना जाता है। जव तक जीवात्मा ससार के सम्पर्क तथा उसके कलमषो से दूर नही रहता तव तक यह जन्म, मृत्यु, रोग, मोह, राग, लोभ तथा वैर मे तल्लीन रहता है। इस प्रकार जीवात्मा वँध कर भौतिक कष्टो को भोगता रहता है।

भ्रातृव्यमेनं तदद‍भ्रवीर्य-
मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम् ॥१७॥

भ्रातृव्यम्=बलवान शत्रु, **एनम्**=यह मन, **तत्**=वह, **अदभ्र-वीर्यम्**=अत्यधिक शक्तिमान्, **उपेक्षया**=उपेक्षा से; **अध्येधितम्**=वृथा ही शक्ति मे बढ़ा हुआ, **अप्रमत्तः**=मोहरहित, **गुरोः**=गुरु के; **हरे.**=श्रीभगवान् के, **चरण**=चरण कमलो का; **उपासना-अस्त्रः**=उपासना रूपी अस्त्र, **जहि**=जीत लो, **व्यलीकम्**=झूठा, मिथ्या, **स्वयम्**=अपने आप, **आत्म-मोषम्**=जीवात्मा की वैधानिक स्थिति को प्रच्छन्न करने वाला।

अनुवाद

यह दुर्दम मन जीवात्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। यदि इसकी उपेक्षा की जाती है या इसे अवसर प्रदान किया जाता है तो यह प्रबल से प्रबलतर होकर विजयी बन सकता है। यद्यपि ऐसा होता नही किन्तु यह अत्यधिक शक्तिमान है। यह आत्मा की वैधानिक स्थिति को आच्छादित कर देता है। हे राजन! इस मन को गुरु के चरणारविन्द तथा श्रीभगवान् की सेवा रूपी अस्त्र से जीतने का प्रयत्न कीजिये। इसमें अत्यन्त सतर्कता बरतें।

तात्पर्य

जिस एक अस्त्र से मन को जीता जा सकता है वह है उपेक्षा। मन सदैव हमे इसे अथवा उसे कर लेने के लिए कहता रहता है, अतः हमे मन के आदेशो की उपेक्षा करने मे पटु बनना चाहिए। मन को क्रमशः आत्मा के आदेश मानने के लिए प्रशिक्षित करना चाहिए। मनुष्य को मन के आदेशों का पालन नही करना है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहा करते थे कि जगने के बाद तथा सोने के पूर्व नित्य ही मन को जूतो से पीटना चाहिए। इस प्रकार से मन को वश मे किया जा सकता है। समस्त शास्त्रो का भी यही आदेश है। यदि मनुष्य ऐसा नही करता तो वह मन के आदेशो का पालन करने के लिए बाध्य है। दूसरी प्रामाणिक विधि है गुरु की आज्ञाओ का कठोरता से पालन करना और ईश्वर की सेवा मे लगे रहना। इससे मन स्वतः वश मे आ जायेगा। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने श्रील रूप गोस्वामी को उपदेश दिया है कि—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव।
गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

जब गुरु तथा कृष्ण के अनुग्रह से भक्ति-बीज प्राप्त होता है तो मनुष्य का असली जीवन प्रारम्भ होता है। यदि वह गुरु की आज्ञा का पालन करता है तो कृष्ण के अनुग्रह से वह मन की दासता (सेवा भाव) से मुक्त हो जाता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां भक्तिवेदान्त भाष्ये पञ्चम-स्कन्धे ब्राह्मण रहूगण संवादे एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पचम स्कन्ध के अन्तर्गत, "जड भरत द्वारा राजा रहूगण को उपदेश" शीर्षक नामक ग्यारहवे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय बारह

महाराज रहूगण तथा जड भरत की वार्ता

महाराज रहूगण इतने पर भी अपने प्रकाश-प्राप्त होने के सम्बन्ध मे सन्देहशील थे, इसलिए उन्होने ब्राह्मण जड भरत से अपने उपदेशो को तथा उसकी समझ में न आने वाले विचारो को दोहराने के लिए कहा । इस अध्याय में महाराज रहूगण उन जड भरत को नमस्कार करते है जिन्होने अपने वास्तविक रूप को छिपा रखा था । राजा उनके उपदेश से समझ गये कि वे आत्मज्ञान मे कितने बढ़े-चढे है । उन्होने उनका जिस प्रकार अनादर किया था उसके लिए क्षमा माँगी । मानो अविद्या के सर्प से डसे गये महाराज रहूगण को गारुडी जड भरत ने जिला लिया । बाद मे जिन विपयो पर वार्ता हो चुकी थी उनके सम्बन्ध मे शका रह जाने के कारण उन्होने एक-एक करके अनेक प्रश्न फिर से पूछे । जड भरत के चरण-कमल के प्रति किये गये पूर्व अपराध से वे मुक्त हो लेना चाहते थे ।

महाराज रहूगण जड भरत के सारगर्भित उपदेशो को ठीक से न समझ पाने के कारण कुछ-कुछ असन्तुष्ट थे, अतः जड भरत ने अपने उपदेशो को और अधिक स्पष्ट करते हुए दुहराया । उन्होने कहा कि ससार की सभी जीवात्माएँ, चाहे चर हो या अचर, वे विभिन्न प्रकारों से पृथ्वी के ही रूपान्तर (गतियाँ) है । राजा को अपने राज-देह का अत्यन्त गर्व था, किन्तु वह पृथ्वी का ही एक रूपान्तर था । अहकार-वश राजा पालकी के कहार के प्रति स्वामी-सेवक जैसा व्यवहार कर रहा था और अन्य जीवात्माओ के प्रति भी निष्ठुर था । फलत. वह जनता को सुरक्षा प्रदान करने मे अक्षम था और अज्ञानी होने के कारण उसकी गणना साधु पुरुषो मे नही की जा सकती थी । यद्यपि विभिन्न वस्तुएँ अपने-अपने रूपान्तरो के कारण विभिन्न नाम (उपाधियाँ) धारण करती है, किन्तु इस जगत की प्रत्येक वस्तु पृथ्वी का रूपान्तर है । वस्तुतः ये सभी किस्मे एक ही है और अन्त मे परमाणुओ मे विलीन हो जाती है । इस ससार मे कुछ भी स्थिर नही है । अनेक किस्म की वस्तुएँ तथा उनकी उपधियाँ हमारे मानसिक आडम्बर है । परम सत्य तो मोह से परे है और तीन रूपो मे प्रकट होता है—निर्गुणब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा श्रीभगवान् । परम सत्य के परम साक्षात्कार तो श्रीभगवान् ही है, जो भक्तो द्वारा वासुदेव कहलाते है । जब तक भक्तो के चरण की धूलि को मस्तक पर धारण नही किया जाता तब तक कोई श्रीभगवान् का भक्त नही बन सकता ।

जड भरत ने राजा को अपने पूर्वजन्म के सम्बन्ध मे भी बताया और कहा कि ईश्वर की कृपा से उन्हे विगत जन्म की सारी घटनाएँ स्मरण है। अपने पूर्वजन्म के कर्मो के कारण जड भरत अत्यन्त सतर्क थे। ससारी पुरुषो से मिलने-जुलने से बचने के लिए उन्होने गूँगे तथा बहरे जैसे व्यक्ति के आचरण अपना रखे थे। त्रिगुणो की संगति अत्यन्त बलशाली होती है। पुरुषों की कुसगति से बचने का एकमात्र उपाय है भक्तों की संगति। उनकी सगति से नौ प्रकार की भक्तियाँ की जा सकती है—**श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद-सेवनम् अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्म-निवेदनम्।** इस प्रकार भक्तो की सगति से भौतिक सगति से छूटकर मूढता के पारावार को पार करते हुए श्रीभगवान् के धाम को प्राप्त हुआ जा सकता है।

रहूगण उवाच

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्ग-
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम् ॥ १ ॥

रहूगणः उवाच=राजा रहूगण ने कहा, **नमः**=मेरा नमस्कार है; **नमः**=नमस्कार; **कारण-विग्रहाय**=समस्त कारणो के कारण, परमात्मा से प्रकट होने वाले को; **स्वरूप-तुच्छीकृत-विग्रहाय**=अपने सत्य रूप को प्रकट करके शास्त्रो के विरोधो को दूर करने वाले, **नमः**=नमस्कार, **अवधूत**=हे योगेश्वर !, **द्विज-बन्धु-लिङ्ग**=ब्राह्मण कुल में उत्पन्न पुरुष के लक्षणो के द्वारा (भले ही ब्राह्मण का कर्म न करता हो); **निगूढ**=प्रच्छन्न, **नित्य-अनुभवाय**=उसे जिसका शाश्वत आत्म साक्षात्कार होता हो, **तुभ्यम्**=तुम्हे।

अनुवाद

राजा रहूगण ने कहा—हे महात्मा ! आप श्रीभगवान् से अभिन्न है। आपके सत्य प्रभाव से शास्त्रों के समस्त विरोध दूर हो गये हैं। आप ब्राह्मण सखा के वेश में अपने दिव्य आनन्दमय स्वरूप को छिपाये हुए है। मै आपको नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य

ब्रह्मसंहिता से ज्ञात होता है कि श्रीभगवान् समस्त कारणो के कारण (**सर्व कारण-कारणम्**) है। ऋषभदेव सर्व-कारण-स्वरूप श्रीभगवान् के साक्षात् अवतार थे। उनके पुत्र भरत महाराज को, जो अब ब्राह्मण जड भरत की भूमिका निभा

रहे थे, उनका शरीर उन्ही सर्व कारणो के कारण से प्राप्त हुआ था; इसीलिए उन्हे **कारण-विग्रहाय** कहा गया है।

ज्वरामयार्तस्य यथागदं सत्
निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः ।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टेः
ब्रह्मन् वचस्तेऽमृतमौषधं मे ॥ २ ॥

ज्वर=ज्वर, या ताप के, **आमय**=रोग से, **आर्तस्य**=पीडित पुरुष का, **यथा**=जिस प्रकार, **अगदम्**=औषधि, दवा, **सत्**=उचित, सही, **निदाघ-दग्धस्य**=धूप से झुलसे हुए का, **यथा**=जिस प्रकार; **हिम-अम्भः**=अति शीतल जल, **कु-देह**=इस शरीर मे, जो मल-मूत्र जैसी गदी वस्तुओ से पूरित है, **मान**=गर्व का; **अहि**=सर्प से, **विदष्ट**=दशित, काटा गया, **दृष्टेः**=दृष्टि वाले का, **ब्रह्मन्**=हे ब्राह्मणो मे श्रेष्ठ !, **वचः**=शब्द, वाणी, **ते**=तुम्हारी; **अमृतम्**=अमृत; **औषधम्**=दवा, **मे**=मेरे लिए।

अनुवाद

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मेरा शरीर मल से पूर्ण और मेरी दृष्टि गर्व के सर्प द्वारा दंशित है। अपनी भौतिक बुद्धि के कारण मै रुग्ण हूँ। इस प्रकार के ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के लिए आपके अमृतमय उपदेश वैसे ही हैं जैसे कि धूप (लू) से झुलसे हुए व्यक्ति के लिए शीतल जल होता है।

तात्पर्य

बद्धजीव का शरीर गन्दी वस्तुओ—अस्थि, रक्त, मूत्र, मल आदि से भरा रहता है। तो भी इस ससार के बुद्धिमान से बुद्धिमान मनुष्य सोचते है कि वे रक्त, अस्थि, रक्त, मूत्र तथा मल के योग से बने है। यदि ऐसा है तो फिर इन सर्वसुलभ पदार्थो से अन्य बुद्धिमान व्यक्ति क्यो नही बनाये जा सकते ? सम्पूर्ण ससार देहात्मबुद्धि से अभिभूत है और भले मनुष्य के रहने के लिए नारकीय परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही है। जड भरत ने राजा रहूगण को जो उपदेश दिये है वे अत्यन्त उपादेय है। वे सर्पदश की औपधि तुल्य है। वैदिक उपदेश अमृत एव शीतल जल के समान है।

तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम् ।

अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-
माख्याहि कौतूहलचेतसो मे ॥ ३ ॥

तस्मात्=अत:; **भवन्तम्**=आपको; **मम**=मेरे; **संशय-अर्थम्**=विषय जो मेरे लिए अस्पष्ट है; **प्रक्ष्यामि**=कहूँगा, प्रस्तुत करूँगा; **पश्चात्**=बाद मे; **अधुना**= इस समय; **सु-बोधम्**=सरलता से समझ मे आ जाने वाला, बोधगम्य; **अध्यात्म-योग**=आत्म-साक्षात्कार हेतु योग शिक्षा का, **ग्रथितम्**=रचित; **तव**=तुम्हारा, **उक्तम्**=वाणी, वचन; **आख्याहि**=पुन: विस्तार से समझाइये; **कौतूहल-चेतसः**= ऐसे उत्कण्ठा से पूर्ण कथनो के मर्म को समझने के लिए जिसका मन अत्यन्त उत्सुक है, **मे**=मुझको ।

अनुवाद

यदि किसी विशेष विषय पर मेरी शंकाएँ रह गई है तो मै उनके सम्बन्ध में आप से बाद में पूछूँगा । किन्तु इस समय आपने आत्म-साक्षात्कार के लिए जो योग-उपदेश दिये है उनको समझ पाना कठिन है । कृपया उन्हें सरल रीति से पुन: कहे जिससे मै उन्हें समझ सकूँ । मेरा मन अत्यन्त उत्सुक है और मै भलीभाँति समझ लेना चाहता हूँ ।

तात्पर्य

वैदिक साहित्य का उपदेश है—**तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।** बुद्धिमान व्यक्ति को दिव्य विज्ञान (तत्व) जानने के लिए परम उत्सुक (जिज्ञासु) होना चाहिए । इसके लिए उसे गुरु के निकट जाना चाहिए । यद्यपि जड भरत ने महाराज रहूगण को प्रत्येक वस्तु विस्तार से समझा दी थी, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी बुद्धि उसे समझने मे शक्य न थी । अत. उसने आगे विवेचना के लिए प्रार्थना की । जैसा कि भगवद्गीता मे (४ ३४) कहा गया है—**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।** विद्यार्थी को चाहिए कि गुरु के निकट पहुँच कर पूर्ण समर्पण कर दे (**प्रणिपातेन**) । उसे चाहिए कि उसके उपदेश समझने के लिए वह प्रश्न भी पूछे (**परिप्रश्नेन**) । उसे चाहिए कि गुरु को न केवल समर्पण करे वरन् प्रेमपूर्ण सेवा करे (**सेवया**) जिससे गुरु प्रसन्न होकर उसे दिव्य विषय को ठीक से समझा दे । यदि कोई वैदिक उपदेशो को गम्भीरता से सीखना चाहता है तो गुरु से स्पर्द्धा नही रखनी चाहिए ।

यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम् ।

न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन् भ्रमते मनो मे ॥ ४ ॥

यत् =जो, आह =आपने कहा है; **योग-ईश्वर** =हे योग के स्वामी !; **दृश्यमानम्** =भली-भाँति दिखते हुए; **क्रिया-फलम्** =शरीर को इधर-उधर हिलाने डुलाने का फल—यथा थकान; **सत्** =विद्यमान, **व्यवहार-मूलम्** =जिसका आधार केवल शिष्टता है; **न** =नही; **हि** =निश्चय ही; **अञ्जसा** =वस्तुत:, वास्तव मे, **तत्त्व-विमर्शनाय** = विमर्श द्वारा सत्य को समझने के लिए, **भवान्** =आप; **अमुष्मिन्** =उस कथन में, **भ्रमते** =चक्कर काट रहा है; **मनः** =मन; **मे** =मेरा ।

अनुवाद

हे योगेश्वर ! आपने कहा है कि शरीर को हिलाने-डुलाने से उत्पन्न थकान प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है, किन्तु वास्तव में कोई थकान नहीं रहती । वह तो कहने के लिए होती है । ऐसे प्रश्नोत्तरों से परम सत्य के विषय में कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । आपके इस कथन से मेरा मन कुछ-कुछ विचलित है ।

तात्पर्य

देहात्म-बुद्धि के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर से परम सत्य का ज्ञान नही होता । शारीरिक सुखो तथा दुखो की औपचारिक समझ परम सत्य के ज्ञान से भिन्न है । भगवद्गीता मे श्रीकृष्ण अर्जुन को वताते है कि शरीर के सुख-दुख का अनुभव क्षणिक है, वे तो आते जाते रहते है । मनुष्य को चाहिए कि इनसे विचलित न हो वरन् इन्हे करके आत्मतत्व प्राप्त करे ।

ब्राह्मण उवाच

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः ।
तस्यापि चाङ्घ्र्योरधि गुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥ ५ ॥

अंसेऽधि दार्वी शिबिका च यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते ।

यस्मिन् भवान् रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः ॥ ६ ॥

ब्राह्मणः उवाच=ब्राह्मण ने कहा; **अयम्**=यह; **जनः**=पुरुष; **नाम**=पदवी; **चलन्**=चलते हुए; **पृथिव्याम्**=पृथ्वी पर, **यः**=जो; **पार्थिवः**=पृथ्वी का रूप; **पार्थिव**=हे राजा, जिसका शरीर पार्थिव है; **कस्य**=किस; **हेतोः**=कारण; **तस्य अपि**=उसका भी; **च**=तथा; **अङ्घ्र्योः**=पाँव, **अधि**=ऊपर; **गुल्फ**=टखने; **जंघा** पिंडली; **जानु**=घुटने, **उरु**=जघन, जाँघ; **मध्योर**=कटि, कमर; **शिरः-धर**=गर्दन; **अंसाः**=कंधे, **अंसे**=कंधा, **अधि**=ऊपर; **दार्वी**=लकड़ी की बनी हुई; **शिबिका**=पालकी, **च**=तथा; **यस्याम्**=जिस पर, **सौवीर-राजा**=सौवीर का राजा, **इति**=इस प्रकार, **अपदेशः**=विख्यात; **आस्ते**=है; **यस्मिन्**=जिसमें; **भवान्**=आप; **रूढ**=चढे हुए; **निज-अभिमानः**=अहंकार, **राजा अस्मि**=मै राजा हूँ, **सिन्धुषु**=सिन्धु राज्य का, **इति**=इस प्रकार, **दुर्मद-अंधः**=अहकार के वशीभूत, मद से अधे ।

अनुवाद

स्वरूपसिद्ध ब्राह्मण जड भरत ने कहा—अनेक भौतिक संयोगों से विविध रूप तथा पार्थिव रूपान्तर बने हैं। कुछ कारणवश ये पृथ्वी पर हिलते-डुलते है और पालकीवाहक (कहार) कहलाते है। इनमें से वे रूपान्तर जो गति नही करते वे पत्थर जैसे स्थूल पदार्थ हैं। प्रत्येक दशा में यह भौतिक देह पाँव, टखना, पिडली, घुटना, जाँघ, कमर, गर्दन तथा सिर के रूप में पृथ्वी तथा पत्थर से बना है। इसके कंधों के ऊपर काठ की पालकी रखी है और उसके भीतर सौवीर का राजा बैठा है। राजा का शरीर पृथ्वी का अन्य रूपान्तर मात्र है, किन्तु उस शरीर के भीतर आप स्थित है और अहंकारवश अपने को सौवीर राज्य का राजा मान रहा है।

तात्पर्य

पालकीवाहक तथा पालकी के यात्री के शरीरो का विश्लेषण करते हुए जड भरत इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वास्तविक प्राणशक्ति तो जीवात्मा है। जीवात्मा भगवान् विष्णु का ही अपर रूप है, अतः इस ससार मे समस्त चर तथा अचर वस्तुओ मे मुख्य तत्व तो भगवान् विष्णु है। उनकी उपस्थिति के कारण ही प्रत्येक वस्तु कार्यशील है और कर्म तथा फल होते है। जो यह जानता है कि प्रत्येक वस्तु का मूल कारण भगवान् विष्णु है उसे तत्वज्ञानी समझना चाहिए। यद्यपि राजा रहूगण को राजा होने का अहकार था, किन्तु वह तत्वज्ञानी नही था। इसीलिए वह कहारो को, जिनमे स्वरूपसिद्ध ब्राह्मण जड भरत भी थे, डाँट रहा था। जड भरत द्वारा राजा पर यह पहला आरोप था जो प्रत्येक वस्तु को पदार्थ मान कर

अविद्या के कारण सुधी ब्राह्मण से बोलने का दुस्साहस कर रहा था। राजा रहूगण का तर्क था कि जीवात्मा तो शरीर के भीतर है अत जब शरीर थकता है तो उसके भीतर का जीवात्मा अवश्य थकता होगा। लेकिन अगले श्लोको मे यह भली-भाँति समझाया गया है कि शरीर की थकान से जीवात्मा को कष्ट नही होता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती आभूषणो से लदे एक बच्चे का उदाहरण प्रस्तुत करते है। यद्यपि बच्चे का शरीर अत्यन्त सुकुमार होता है, किन्तु न तो उसे थकान का अनुभव होता है और न उसके अभिभावक ही आभूषणो को उतारने के लिए व्यग्र होते है। जीवात्मा को शारीरिक सुख-दुख से कुछ भी लेना-देना नही रहता। ये तो मानसिक कूटरचना है। जो बुद्धिमान व्यक्ति होगा वह हर चीज का कारण ढूँढ निकालेगा। लौकिक व्यवहार मे भौतिक सयोगो तथा प्रतिवर्तनो को तथ्य कहा जा सकता है, किन्तु जीवित शक्ति, आत्मा को इनसे कोई सरोकार नही रहता। जो भौतिक दृष्टि से असतुलित है वे शरीर की परवाह करते है और "दरिद्र नारायण" की सृष्टि करते है। किन्तु यह सच नही है कि शरीर के दरिद्र (निर्धन) होने से आत्मा या परमात्मा भी दरिद्र हो जाते है। ऐसा तो अज्ञानी ही कहता है। आत्मा तथा परमात्मा शारीरिक सुख-दुख से सर्वथा पृथक है।

शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीनान्
विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः ॥ ७ ॥

शोच्यान्=शोचनीय है, **इमान्**=ये सब, **त्वम्**=तुम, **अधि-कष्ट-दीनान्**=अपनी दरिद्रता के कारण बेचारे पुरुष और अधिक कष्ट उठा रहे है; **विष्टचा**=बलपूर्वक; **निगृह्णन्**=पकडे हुए, **निरनुग्रहः असि**=तुम अत्यन्त दया से हीन हो; **जनस्य**=सामान्य लोगो का, **गोप्ता अस्मि**=मै रक्षक (राजा) हूँ, **विकत्थमानः**=डीग मारते हुए, **न शोभसे**=तुम्हे शोभा नही देता, **वृद्ध-सभासु**=विद्वानो की सभा मे; **धृष्टः**=बढ़-बढकर बाते करने वाला, उद्धत।

अनुवाद

किन्तु यह सच है कि बेगारी में तुम्हारी पालकी ले जाने वाले ये निर्दोष व्यक्ति इस अन्याय के कारण कष्ट उठा रहे है। उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय है क्योकि तुमने अपनी पालकी ले जाने के लिए जबरन उन्हे लगा रखा है। इससे सिद्ध होता है कि तुम क्रूर तथा निर्दय हो तो भी अहंकारवश तुम यह सोच रहे हो कि तुम

प्रजा के रक्षक हो। यह हास्यापद है। तुम जैसे मूर्ख को ज्ञानी पुरुषों की सभा में भला कौन पूज सकता है ?

तात्पर्य

राजा रहूगण को अपने राजा होने का अभिमान था और वह सोचता था कि अपनी इच्छानुसार प्रजा पर नियन्त्रण रखने का उसे अधिकार था जबकि वह बेगारी मे लोगो से पालकी ढुलवा कर अकारण ही उन्हे पीड़ित कर रहा था। इतने पर भी वह अपने को प्रजा का रक्षक मानता था। वस्तुत. राजा को श्रीभगवान् का प्रतिनिधि होना चाहिए। इसीलिए वह नरदेवता—अर्थात् मनुष्यो मे राजा—कहलाता है। किन्तु यदि राजा अपने को राज्य का प्रमुख समझकर प्रजा का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है तो वह गलती करता है। ऐसी प्रवृत्ति की विद्वान प्रशसा नही करते। वैदिक नियमो के अनुसार राजा को साधुओ, ब्राह्मणों तथा विद्वानों की सलाह लेनी चाहिए जो धर्मशास्त्र में दिये गये उपदेशो के अनुसार सलाह देते है। राजा का धर्म है कि वह इन उपदेशों को माने। सुधीजन अपने लाभ के लिए राजा द्वारा प्रजा का उपयोग कभी पसन्द नही करते। उसे चाहिए कि वह प्रजा को सरक्षण प्रदान करे। राजा को ऐसा दुष्ट नही सिद्ध होना चाहिए कि अपने स्वार्थ हेतु प्रजा का शोषण करे।

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि कलियुग में राज्य के शासक डाकू तथा चोर होगे। ये जनता के धन तथा उनकी सम्पत्ति को छल से या बलपूर्वक ले लेते है। इसीलिए श्रीभागवत मे कहा गया है—**राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्यु-धर्मभिः।** ज्यो-ज्यों कलियुग पास आ रहा है, ये लक्षण पहले से ही दृष्टिगोचर होने लगे है। हम सोच सकते है कि कलियुग के अन्त तक मानवीय सभ्यता किस अधोगति को प्राप्त होगी। निस्सदेह, कोई ऐसा ज्ञानी पुरुष नही बचेगा जो ईश्वर को तथा उसके साथ हमारे सम्बन्धो को समझ सके। दूसरे शब्दो मे कहना चाहे तो कह सकते है कि सभी मनुष्य पशु तुल्य हो जावेगे। उस समय मानव समाज को सुधारने के लिए श्रीकृष्ण कल्कि अवतार के रूप में प्रकट होगे। उनका कार्य होगा नास्तिको का वध क्योकि विष्णु या कृष्ण ही वास्तविक त्राता है।

जब राजा तथा राज्य के आमात्य कुव्यवस्था फैलाते है तो ईश्वर अवतार लेता है और व्यवस्था लाता है। श्रीकृष्ण भगवद्गीता मे कहते है—**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।** निस्सदेह इसमे अनेक वर्ष लगते है, किन्तु नियम यही है। जब राजा या आमात्य उचित नियमो का पालन नही करते तो प्रकृति युद्ध, अकाल आदि की व्यवस्था करती है। अतः यदि वे जीवन के परम उद्देश्य से परिचित नही है तो उन्हे प्रजा पर शासन करने का भार नही लेना चाहिए। वस्तुतः प्रत्येक वस्तु का परम स्वामी तो भगवान् विष्णु है। वह सबो का पालक है। राजा, पिता तथा अभिभावक ये तो भगवान् विष्णु के प्रतिनिधि मात्र होते है जिनके ऊपर व्यवस्था

की रखवाली तथा व्यवस्था को बनाये रखने का उत्तरदायित्व सौपा गया है। अतः राजा का यह कर्तव्य है कि प्रजा को इस प्रकार रखे कि उसे जीवन-उद्देश्य का ज्ञान हो सके। **न ते विदुः स्वार्थ-गतिं हि विष्णुम्।** दुर्भाग्यवश न तो राजा, न ही जनता जानती है कि जीवन का परम उद्देश्य भगवान् विष्णु को जानना और उन तक पहुँचना है। इस ज्ञान के अभाव मे प्रत्येक व्यक्ति अज्ञान मे रहता है और समाज में वंचको की भरमार हो जाती है।

यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम्।
तन्नामतोऽन्यद् व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत्क्रिययानुमेयम् ॥ ८ ॥

यदा=अतः, **क्षितौ**=पृथ्वी पर; **एव**=निश्चय ही; **चर-अचरस्य**=चर तथा अचर का; **विदाम**=हम जानते है; **निष्ठाम्**=प्रलय, सहार, **प्रभवम्**=सृष्टि; **च**=तथा; **नित्यम्**=प्रकृति के नियमों से नियमित रूप से, **तत्**=वह, **नामतः**=केवल नाम से की अपेक्षा, **अन्यत्**=अन्य; **व्यवहार-मूलम्**=भौतिक कार्यों का कारण; **निरूप्यताम्**=निश्चित किया गया, **सत्-क्रियया**=वास्तविक कार्य से, **अनुमेयम्**=निष्कर्ष निकालना चाहिए।

अनुवाद

हम इस पृथ्वी पर विभिन्न रूपों में जीवात्माएँ है। हममें से कुछ गतिशील है तो कुछ गति नही करते। हम सभी उत्पन्न होते हैं, कुछ समय तक रहते है और नष्ट हो जाने पर पृथ्वी में पुनः मिल जाते है। हम सभी पृथ्वी के विभिन्न रूपान्तर (पार्थिव) है। विभिन्न शरीर तथा उपाधियाँ पृथ्वी के रूपान्तर मात्र है और नाम के लिए ही विद्यमान रहती है क्योंकि प्रत्येक वस्तु पृथ्वी से निकलती है और जब सब कुछ विनष्ट हो जाता है तो वह फिर पृथ्वी में मिल जाता है। दूसरे शब्दों में, हम केवल धूल है और धूल ही रहेगे। सबको चाहिए कि इस पर विचार करें।

तात्पर्य

ब्रह्मसूत्र मे (२.१.१४) कहा गया है कि—**तद्-अनन्यत्वम् आरभम्भण-शब्दादिभ्यः।** यह दृश्य जगत पदार्थ तथा आत्मा का मिश्रण है किन्तु इसका कारण तो परब्रह्म श्रीभगवान् है। अत श्रीमद्भागवत मे (१.५.२०) कहा गया है कि—**इदं हि विश्वं भगवानिवेतरः।** यह सम्पूर्ण दृश्य जगत श्रीभगवान् की शक्ति का रूपान्तर मात्र है, किन्तु मोहवश किसी की समझ में यह नही आता कि ईश्वर इस

भौतिक जगत से अभिन्न है। वस्तुत वह भिन्न नही है। यह भौतिक जगत उसकी विभिन्न शक्तियो का केवल रूपान्तर है—**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।** वेदों में इसके अन्य रूप भी है—**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** द्रव्य तथा आत्मा भगवान् से अभिन्न हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता मे (७.४) इसकी पुष्टि की है—**मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।** माया श्रीकृष्ण की शक्ति है, किन्तु वह उनसे पृथक है। आत्म-शक्ति भी उन्ही की शक्ति है किन्तु यह उनसे अभिन्न है। जब यह माया परमात्मा की सेवा में तत्पर होती है तो आत्मशक्ति मे बदल जाती है जिस प्रकार आग मे रखने पर लोहा भी आग हो जाता है। जब हम विश्लेषण द्वारा यह समझ सकेगे कि श्रीभगवान् कारणस्वरूप है तो हमारा ज्ञान पूर्ण होगा। विभिन्न शक्तियो के रूपान्तर मात्र को समझ लेना अर्धज्ञान है। हमे परम कारण तक पहुँचना है। **न ते विदुः स्वार्थ गतिं हि विष्णुम्।** जो लोग समस्त स्रोतो के मूल कारण को जानने मे रुचि नही रखते उनका ज्ञान कभी पूर्ण नही होता। इस प्रत्यक्ष संसार मे कोई भी ऐसी वस्तु नही है जो श्रीभगवान् की परम शक्ति से उत्पन्न न हो सके। पृथ्वी से प्राप्त सुगन्धियाँ पृथ्वी से ही उद्भूत है, भले ही हम उन्हे नाना प्रकार से व्यवहार मे लावे। मिट्टी के बने जल पात्र का उपयोग भले ही हम कुछ काल तक जल भरने के लिए करे, किन्तु वह पात्र मिट्टी के अतिरिक्त और कुछ नही है। अतः पात्र तथा मिट्टी मे कोई अन्तर नही है। पात्र का मूल कारण या मूल अवयव तो श्रीभगवान् है और उसकी विभिन्न किस्मे आनुषगिक फल है। **छान्दोग्य उपनिषद** मे कहा गया है—**यथा सौम्य एकेन मृत-पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भनां विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।** पृथ्वी को जानने वाले को स्वभावतः पृथ्वी के आनुषंगिक फलो का भी ज्ञान हो जाता है। इसीलिए वेद कहते है—**यस्मिन् विज्ञाते सर्वम् एवं विज्ञातं भवति**—यदि कोई आदि कारण कृष्ण को जो समस्त कारणों के भी कारण है, जान लेता है तो उसे प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है, यद्यपि वह विभिन्न किस्मों (प्रकारो) में प्रस्तुत क्यो न हो। इन विभिन्न किस्मों (प्रकारो) के मूल कारण को समझने पर प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है। यदि हम प्रत्येक वस्तु के मूल कारण श्रीकृष्ण को समझ सके तो हमे उसकी गौण किस्मो (प्रकारो) को पृथक से जानने की आवश्यकता नही रह जावेगी। अतः प्रारम्भ से ही कहा गया है—**सत्यं परं धीमहि।** मनुष्य को परम सत्य श्रीकृष्ण या वासुदेव पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। वासुदेव शब्द श्रीभगवान् का सूचक है, जो समस्त कारणो के कारण है। **मत्-स्थानि सर्व-भूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।** यह प्रत्यक्ष तथा सात्विक दर्शन का सार है। व्यवहार ससार तात्विक ससार पर आश्रित है, इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ परमेश्वर

की शक्ति के कारण विद्यमान है यद्यपि हमारी अविद्या के कारण वह प्रत्येक पदार्थ में दिखाई नही पडता।

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात्परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः ॥ ६ ॥

एवम्=इस प्रकार, **निरुक्तम्**=मिथ्या वर्णन किया गया; **क्षिति-शब्द**=क्षिति अर्थात् "पृथ्वी" शब्द; **वृत्तम्**=उपस्थिति, **असत्**=असत्य, **निधानात्**=विलीन होने से; **परम-अणवः**=अत्यन्त सूक्ष्म कण; **ये**=जो सब; **अविद्यया**=अविद्या अर्थात् अज्ञान से, **मनसा**=मन से, **कल्पिताः**=कल्पना किये हुए; **ते**=वे, **येषाम्**=जिनका; **समूहेन**=समूह के द्वारा, **कृतः**=बनाया हुआ; **विशेषः**=विशेष।

अनुवाद

यह कहा जा सकता है कि विविधता तो स्वयं पृथ्वी से उत्पन्न होती है किन्तु, यह ब्रह्माण्ड भले ही थोड़े समय तक सत्य प्रतीत हो वास्तव में इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह पृथ्वी मूलतः सूक्ष्म कणों के संगठन से उत्पन्न हुई है, किन्तु ये कण अस्थायी है। वास्तव में परमाणु ब्रह्माण्ड का कारण नही, यद्यपि कुछ दार्शनिक ऐसा सोचते है। यह सत्य नहीं है कि इस संसार में पाई जाने वाली विविधता (किस्में) परमाणुओ के उलट-पुलट या विविध संगठनों के प्रतिफल हैं।

तात्पर्य

जो परमाणुवाद के समर्थक है उनका विचार है कि परमाणुओ के प्रोटान तथा इलेक्ट्रान मिलकर विभिन्न वस्तुओ की उत्पत्ति करते है। किन्तु वैज्ञानिक परमाणु-स्वयं के अस्तित्व का कारण खोजने मे असमर्थ है। ऐसी दशा मे हम यह नही कह सकते कि परमाणु ही ब्रह्माण्ड का कारणस्वरूप है। ऐसे सिद्धान्त अज्ञानी लोग प्रस्तुत करते है। वास्तविक बुद्धि के अनुसार इस दृश्य जगत का असली कारण परमेश्वर है। **जन्माद्यस्य यतः**—वह समस्त सृष्टि का मूल कारण है। जैसा कि भगवद्गीता मे (१० ८) कहा गया है—**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते**—कृष्ण ही मूल कारण है। **सर्व कारण-कारणं**—वह समस्त कारणो के कारण हैं। कृष्ण ही परमाणु तथा भौतिक ऊर्जा (शक्ति) के कारण है (भगवद्गीता ७.४)—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

परम कारण श्रीभगवान् है और केवल अज्ञानी व्यक्ति ही विभिन्न सिद्धान्तों के द्वारा अन्य कारणों के खोजने का प्रयत्न करते है।

एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यद्
असच्च सज्जीवमजीवमन्यत्।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम्॥१०॥

एवम् = इस प्रकार, **कृशम्** = दुर्बल या छोटा; **स्थूलम्** = मोटा; **अणुः** = लघु; **वृहत्** = बडा, **यत्** = जो, **असत्** = अस्थायी; **च** = तथा; **सत्** = अस्तित्वमान; **जीवम्** = जीवात्मा; **अजीवम्** = जड, जीवरहित पदार्थ, **अन्यत्** = अन्य कारण, **द्रव्य** = घटना; **स्व-भाव** = प्रकृति, आचरण; **आशय** = मन्तव्य; **काल** = समय; **कर्म** = कार्य, वृत्ति; **नाम्ना** = नामों से; **अजया** = प्रकृति द्वारा; **अवेहि** = तुम्हे जानना चाहिए; **कृतम्** = किया गया, **द्वितीयम्** = द्वैत।

अनुवाद

चूँकि इस ब्रह्माण्ड का कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, अतः इसके भीतर की वस्तुएँ—यथा लघुता, अन्तर, स्थूलता, कृशता, सूक्ष्मता, विशालता, कारण, कार्य, चेतना तथा द्रव्य—ये सब काल्पनिक हैं। ये एक ही वस्तु, मिट्टी, के बने पात्र हैं, किन्तु उनके नाम भिन्न-भिन्न हैं। ये अन्तर पदार्थ, प्रकृति, आशय, काल तथा क्रिया (कर्म) द्वारा जाने जाते हैं। तुम्हें जानना चाहिए कि ये प्रकृति द्वारा उत्पन्न यान्त्रिक अभिव्यक्तियाँ हैं।

तात्पर्य

इस जगत की क्षणिक अभिव्यक्तियाँ तथा विविधताएँ विभिन्न परिस्थितियो के अन्तर्गत प्रकृति की सृष्टियाँ है—**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।** कभी-कभी प्रकृति द्वारा सम्पन्न कर्म तथा बन्धन को हम वैज्ञानिक आविष्कार मान बैठते है और इस प्रकार ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करके वाहवाही लूटते है। इसका उल्लेख भगवद्गीता मे (३.२७) हुआ है—**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**—वहिरंगा शक्ति के द्वारा प्रच्छन्न होने से जीवात्मा इस जगत की विभिन्न सृष्टियो का यश लूटना चाहता है। वस्तुतः ये सभी श्रीभगवान् की शक्ति से गतिमान होकर

स्वत. उत्पन्न होती है। अतः परम कारण तो परम पुरुष है। **ब्रह्मसंहिता** में कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द-विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्व-कारण-कारणम्॥

वह समस्त कारणो का कारण—परम कारण है। इस प्रसग मे श्रील मध्वाचार्य का कहना है—**एवं सर्वं तथा प्रकृत्वयै कल्पितं विष्णोरन्यात्। एवं प्रकृत्याधारः स्वयं अनन्याधारो विष्णुरेव। अतः सर्व-शब्दाश्च तस्मिन्नेव।** वस्तुतः विष्णु ही मूल कारण है, किन्तु अज्ञानवश मनुष्य सोचता है कि पदार्थ ही प्रत्येक वस्तु का कारण है।

राजा गोप्ताश्रयो भूमिः शरणं चेति लौकिकः।
व्यवहारो न तत् सत्यं तयोर्ब्रह्माश्रयो विभुः॥

ये वाते ऊपर-ऊपर सोची जाती है, किन्तु यह सत्य नही है। प्रत्येक प्राणी का वास्तविक रक्षक तथा आश्रय परब्रह्म होता है, राजा नही।

गोप्त्री च तस्य प्रकृतिस्तस्या विष्णुः स्वयं प्रभुः।
तव गोप्त्री तु पृथ्वी न त्वं गोप्ता क्षितेः स्मृतः॥

अतः सर्वाश्रयैश्चैव गोप्ता च हरिरीश्वरः।
सर्वशब्दाभिधेयश्च शब्दवृत्तेर्हि कारणम्॥
सर्वान्तरः सर्वबहिरेक एव जनार्दनः॥

वास्तविक रक्षक तो प्रकृति है किन्तु विष्णु उसका भी स्वामी है। वह प्रत्येक वस्तु का स्वामी है। भगवान् जनार्दन अन्तः तथा वाह्य दोनो रूप मे अधीक्षक है। वे वाणी तथा शब्दो से जो भी व्यक्त होता है उसके कारण है।

शिरसोधारता यद्वद् ग्रीवायास्तद्वदेव तु।
आश्रयत्वं च गोप्तृत्वम् अन्येषाम् उपचारतः॥

भगवान् विष्णु सम्पूर्ण सृष्टि के विश्राम-स्थल है : **ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्** (भगवद्-गीता १४ २७)—ब्रह्म पर ही सब कुछ टिका है। सभी ब्रह्माण्ड ब्रह्मज्योति पर टिके है और सभी लोक (ग्रह) वायुमण्डल मे टिके है। प्रत्येक लोक मे समुद्र, पर्वत, राज्य-साम्राज्य है और प्रत्येक लोक मे न जाने कितनी जीवात्माएँ आश्रय पाती है। ये जीवात्माएँ अपने पैरो, जाँघो, कटि, कंधो के कारण पृथ्वी पर खड़ी है, किन्तु वस्तुत.

प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् की शक्तियो पर टिकी है। इसलिए वह **सर्व-कारण-कारणं** कहे जाते है।

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति ॥११॥

ज्ञानम्=परम ज्ञान, **विशुद्धम्**=कल्मषहीन, शुद्ध, **परम-अर्थम्**=जीवन का परम उद्देश्य प्रदान करने वाला, **एकम्**=एक; **अनन्तरम्**=अन्तरविहीन; **तु**=भी; **अबहिः**=बाह्यरहित; **ब्रह्म**=ब्रह्म, परम; **सत्यम्**=परम सत्य, **प्रत्यक्**=आन्तरिक, आभ्यन्तर, **प्रशान्तम्**=शान्त परमेश्वर, जिसकी उपासना योगी करते है; **भगवत्-शब्द-संज्ञम्**=भगवान् शब्द से ज्ञात; **यत्**=वह, **वासुदेवम्**=श्रीकृष्ण, वासुदेव के पुत्र; **कवयः**=बुद्धिमान अथवा विद्वान; **वदन्ति**=कहते है।

अनुवाद

तो फिर परम सत्य क्या है? उत्तर है अद्वैत ज्ञान जो कल्मष गुणों से रहित है। यह मुक्ति प्रदायक है। वह अद्वितीय, सर्वव्यापी तथा कल्पनातीत है। ज्ञान की प्रथम प्रतीति ब्रह्म है। फिर योगियों द्वारा अनुभव किया जाने वाला परमात्मा है। यह प्रतीति की दूसरी अवस्था है। अन्त में परम पुरुष मे ही उसी परम ज्ञान की पूर्ण प्रतीति की जाती है। सभी विद्वान परम पुरुष को वासुदेव के रूप में वर्णन करते है जो ब्रह्म, परमात्मा आदि का कारण है।

तात्पर्य

श्रीचैतन्य चरितामृत मे कहा गया है—**यद् अद्वैतं ब्रह्मोपनिषदि तदप्य अस्य तनु-भा।** परम सत्य का निर्गुण-ब्रह्मतेज श्रीभगवान् की दैहिक किरणो का बना होता है। **य आत्मान्तरयामी पुरुष इति सोऽस्यांश-विभवः।** आत्मा तथा अन्तर-यामी अथवा परमात्मा श्रीभगवान् का ही विस्तार है। **षड-ऐश्वर्यैः पूर्णो य इह भगवान् स स्वयं अयम्।** जिसे श्रीभगवान् कहा गया है और जो छः ऐश्वर्यो से ओत-प्रोत है वह वासुदेव है और श्रीचैतन्य महाप्रभु उससे अभिन्न है। बड़े-बड़े विद्वान तथा दार्शनिक अनेक जन्मो के बाद इसे स्वीकार करते है। **वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ** (भगवद्गीता ७ १९)। बुद्धिमान मनुष्य जान सकते है कि अन्ततः

वासुदेव कृष्ण ही ब्रह्म तथा परमात्मा का कारण है। इस प्रकार वासुदेव **सर्वकारण-कारणं** है। इसकी पुष्टि श्रीमद्भागवत मे (१.२.११) की गई है। वास्तविक तत्व अर्थात् परम सत्य तो भगवान् है, किन्तु परमसत्य की अपूर्ण प्रतीति से कुछ लोग उसी विष्णु को निर्गुण ब्रह्म या अन्तर्यामी परमात्मा कहते है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥

श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ मे ही कहा गया है—**सत्यं परं धीमहि**—हम परम सत्य का ध्यान कर सकते है। यहाँ पर परम सत्य के **ज्ञानं विशुद्धं सत्यम्** के रूप मे बताया गया है। परम सत्य कल्मषरहित एव दिव्य होता है। इससे सभी आत्म-सिद्धियाँ एव भौतिक जगत से मुक्ति प्राप्त होती है। परम सत्य तो वासुदेव कृष्ण है। कृष्ण के बाह्य तथा अन्त. मे कोई अन्तर नही है। वे पूर्ण है। उनके शरीर तथा आत्मा मे हमारे-जैसा अन्तर नही है। कभी-कभी तथाकथित विद्वान कृष्ण की वास्तविक स्थिति से परिचित न होने के कारण लोगो को यह कह कर गुमराह करते रहते है कि अन्तःकरण मे स्थित कृष्ण बाह्य रूप से भिन्न है। **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु**—कृष्ण के इस कथन के अनुसार कुछ तथाकथित विद्वान पाठको (श्रोताओ) को यह उपदेश देते है कि हमे व्यक्ति-कृष्ण को समर्पण न करके आन्तरिक कृष्ण को करना चाहिए। ये तथाकथित मायावादी विद्वान अपने अल्पज्ञान से कृष्ण को कभी नही समझ पावेगे। सद्गुरु ही कृष्ण को देखे रहता है अत वही उसका सही-सही वर्णन कर सकता है। तभी तो भगवद्गीता मे (४ ३४) कहा गया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

बिना अधिकारी विद्वान के पास गये कृष्ण को समझा नही जा सकता।

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा ।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम् ॥१२॥

रहूगणः = हे राजा रहूगण !, **एतत्** = यह ज्ञान, **तपसा** = कठिन तपस्या द्वारा, **न याति** = नही होता, **न** = नही, **च** = भी, **इज्यया** = श्रीविग्रह की पूजा के लिए

महत् आयोजन से, **निर्वपणात्**=अथवा समस्त सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करने और संन्यास ग्रहण करने से; **गृहात्**=आदर्श गृहस्थ जीवन से; **वा**=अथवा; **न**=न तो; **छन्दसा**=ब्रह्मचर्य धारण करने या वेदो के अध्ययन से; **न एव**=न तो; **जल-अग्नि-सूर्यैः**=जल, तपती धूप या जलती अग्नि में रह कर कठिन तपस्या करने से; **विना**=रहित, **महत्**=परम भक्तों की, **पाद-रजः**=चरण धूलि; **अभिषेकम्**=शरीर मार्जन, स्नान।

अनुवाद

हे राजा रहूगण ! महापुरुषों के चरणकमलों की धूलि से सम्पूर्ण शरीर को स्नान किये बिना परम सत्य की प्रतीति नही हो सकती। ब्रह्मचर्य धारण करके, गृहस्थ जीवन के विधि-विधानों के अनुपालन, वानप्रस्थ के रूप में गृहत्याग अथवा शीत ऋतु में जल में घुसे रहना, या ग्रीष्म में अग्नि में अथवा सूर्य की झुलसती धूप में पड़े रहना जैसी कठिन तपस्याओं से परम सत्य की प्रतीति नही हो सकती। परम सत्य को जानने के और भी अनेक साधन है, किन्तु परम सत्य उसे ही प्राप्त होता है जिसे महान भक्त का अनुग्रह प्राप्त हो।

तात्पर्य

केवल विशुद्ध भक्त ही दिव्य आनन्द का वास्तविक ज्ञान प्रदान कर सकता है। **वेदेषु दुर्लभम् अदुर्लभम् आत्म-भक्तौ।** केवल वेदो के आदेशो के पालन से आत्म-सिद्धि नही प्राप्त हो सकती। मनुष्य को विशुद्ध भक्त के पास पहुँचना होता है—**अन्याभिलाषिता-शून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।** ऐसे भक्त के अनुग्रह से परम सत्य कृष्ण और उनसे अपने सम्बन्ध को समझा जा सकता है। भौतिकवादी व्यक्ति कभी-कभी सोच बैठता है कि पुण्य कर्म करके तथा घर पर ही रह करके ही परम सत्य को समझा जा सकता है। इस श्लोक मे इसको अस्वीकार किया गया है। न ही कोई ब्रह्मचर्य के नियमो का पालन करके परम सत्य को जान सकता है। मनुष्य को केवल शुद्ध भक्त की सेवा करनी चाहिए। इससे परम सत्य समझ मे आ जावेगा।

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे ॥१३॥

यत्र=जिस स्थान में (भक्तो के समक्ष), **उत्तम-श्लोक-गुण-अनुवादः**=श्रीभगवान् की लीलाओ तथा गुणो की चर्चा, **प्रस्तूयते**=प्रस्तुत की जाती है, **ग्राम्य-कथा-विघात**=जिसके कारण लौकिक विषयो की चर्चा के लिए अवसर नही मिलता; **निषेव्यमाणः**=अत्यन्त मनोयोग से सुनी जाकर, **अनुदिनम्**=नित्यप्रति; **मुमुक्षोः**=भौतिक बधन से निकलने के लिए इच्छुक व्यक्ति; **मतिम्**=ध्यान, **सतीम्**=शुद्ध तथा सरल, **यच्छति**=लगा देती है; **वासुदेवे**=भगवान् वासुदेव के चरणकमलों मे ।

अनुवाद

तो वे शुद्ध भक्त कौन है ? शुद्ध भक्तो की सभा में राजनीति या समाजशास्त्र जैसे सांसारिक विषयों पर चर्चा चलाने का प्रश्न ही नही उठता । वहाँ तो श्रीभगवान् की लीलाओ एवं गुणों की ही चर्चा होती है । उनकी प्रशंसा तथा उपासना अत्यन्त मनोयोग से की जाती है । यहाँ तक कि विशुद्ध भक्तों की संगति से, ऐसा पुरुष जो परम सत्य में तदाकार होना चाहता है वह भी अपने इस विचार को त्याग कर वासुदेव की सेवा में आसक्त हो जाता है ।

तात्पर्य

इस श्लोक में शुद्ध भक्तो के लक्षण बताये गये है । शुद्ध भक्त कभी भी सासारिक विपयो मे रुचि नही रखता । श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने भक्तो को सासारिक विषयो के सम्वन्ध मे चर्चा करने के लिए वर्जित किया है । **ग्राम्य-वार्ता ना कहिबे**—मनुष्य को चाहिए कि भौतिक जगत के समाचारो के विषय मे वृथा चर्चा करने मे सलग्न न हो । इस प्रकार से उसे समय नही गंवाना चाहिए । भक्त के जीवन का यह महत्वपूर्ण पक्ष है । भक्त के समक्ष श्रीकृष्ण की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य आकाक्षा नही होती । श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन को इसलिए चलाया गया है जिससे लोगो को भगवान् की सेवा मे अहर्निश व्यस्त रखा जा सके । इस सस्था के विद्यार्थी प्रात. पॉच वजे से लेकर रात्रि के दस वजे तक कृष्णभक्ति का अनुशीलन करते है । उन्हे राजनीति, समाजशास्त्र तथा सामयिक विपयो की वृथा चर्चा मे समय गँवाने का अवसर ही नही मिल पाता । यह सव तो चलता ही रहेगा । भक्त को कृष्ण की भक्ति से प्रयोजन रहता है ।

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः ॥१४॥

अहम्=मै, **पुरा**=पहले (पूर्व जन्म मे); **भरतः नाम राजा**=भरत नाम का राजा, **विमुक्त**=मुक्त; **दृष्ट-श्रुत**=प्रत्यक्ष अनुभव से अथवा वेदो से ज्ञान प्राप्त करके, **सङ्ग-बन्धः**=सगति का बन्धन; **आराधनम्**=पूजा, **भगवतः**=श्रीभगवान् की, **ईहमानः**=सदैव करते हुए, **मृगः अभवम्**=मै मृग बन गया, **मृग-सङ्गात्**=मृग के साथ घनिष्ट मैत्री से; **हत-अर्थः**=भक्ति के विधि-विधानो की उपेक्षा करके।

अनुवाद

पूर्व जन्म में मै महाराज भरत के नाम से विख्यात था। मैने प्रत्यक्ष अनुभव तथा वेद-ज्ञान से प्राप्त अप्रत्यक्ष अनुभव से सांसारिक कार्यों से पूर्णतया विरक्त होकर सिद्धि प्राप्त की। मै पूर्णतया भगवान् की सेवा में तत्पर रहता था, किन्तु दुर्भाग्यवश मै एक छोटे मृग के प्रति इतना आसक्त हो उठा कि मैने सारे सात्विक कर्तव्यों की उपेक्षा कर दी। मृग के प्रति प्रगाढ़ स्नेह के कारण अगले जन्म में मुझे मृग का शरीर अंगीकार करना पड़ा।

तात्पर्य

यहाँ पर वर्णित घटना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पूर्ववर्ती श्लोक मे कहा गया है—**विना महत्-पाद-रजोऽभिषेकम्**—बिना महापुरुष के चरणकमल की धूलि को धारण किये सिद्धि प्राप्त नही की जा सकती। यदि सद्गुरु के आदेशो का निरन्तर पालन किया जाय तो गिरने का प्रश्न ही नही उठता। किन्तु ज्योही अज्ञानी शिष्य महत्वाकांक्षा के कारण अपने गुरु का स्थान बलात् ले लेता है त्योही उसका पतन हो जाता है। **यस्य प्रसादाद् भगवत्-प्रसादो यस्याप्रसादान्न गतिः कुतोऽपि।** यदि शिष्य गुरु को सामान्य व्यक्ति मानता है तो उसकी प्रगति रुक जाती है। भक्ति करते हुए भी भरत महाराज ने मृग के प्रति अत्यधिक आसक्त होने पर किसी गुरु से सलाह नही ली। फलत वह मृग से अत्यधिक आसक्त हो गये और अपने नैतिक कर्म भूल जाने से वे नीचे आ गये।

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥१५॥

सा=वह; **माम्**=मुझको, **स्मृतिः**=पूर्व जन्म के कर्मो की याद; **मृग-देहे**=मृग के शरीर मे, **अपि**=यद्यपि, **वीर**=हे वीर!; **कृष्ण-अर्चन-प्रभवा**=श्रीकृष्ण

की एकनिष्ठ सेवा के प्रभाव से प्रकट; **नो जहाति**=नही छोड़ा; **अथो**=अत., **अहम्**=मैं, **जन-सङ्गात्**=सामान्य पुरुषो के ससर्ग से, **असङ्ग**=पूर्णतया विरक्त; **विशङ्कमान:**=भयभीत होकर, **अविवृत:**=दूसरो से अलक्षित, गुप्त; **चरामि**=इधर-उधर घूमता हूँ।

अनुवाद

हे वीर राजा ! अपनी पूर्व अनन्य भगवत्-भक्ति के फलस्वरूप मृग शरीर में रहकर भी मुझे पूर्व जन्म की प्रत्येक वस्तु स्मरण रही आई। चूंकि मै अपने पूर्व जन्म के पतन से परिचित हूँ अतः मै सामान्य व्यक्तियों के संसर्ग से अपने को दूर रखता हूँ। उनकी कुसंगति से डर कर मै अलक्षित (गुप्त) होकर अकेला घूमता रहता हूँ।

तात्पर्य

भगवद्गीता मे (२ ४०) कहा गया है—**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य**। सचमुच ही मनुष्य जीवन से पशु जीवन मे पहुँचना महान पतन है किन्तु भगवद्भक्ति कभी वृथा नही जाती जैसा कि जड भरत या अन्य भक्तो के प्रसग मे देखा जाता है। भगवद्-गीता का (८ ६) कथन है—**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्**। प्राकृतिक नियम के अनुसार मृत्यु के समय मन विशेष प्रकार के ध्यान मे तल्लीन रहता है। इससे पशु जीवन मिल सकता है, किन्तु भक्त के लिए इससे कोई हानि नही पहुँचती। भरत महाराज को मृग शरीर प्राप्त होते हुए भी अपनी पूर्वस्थिति स्मरण रही। फलत. मृग शरीर मे भी उन्होने अपने पतन का कारण भली-भाँति स्मरण रखा। इसके कारण ही उनका जन्म अत्यन्त पवित्र ब्राह्मण कुल मे हुआ। इस तरह उनकी भगवत-सेवा वृथा नही हुई।

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनेहैव विवृक्णमोहः।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥१६॥

तस्मात्=इस कारण से; **नरः**=प्रत्येक व्यक्ति; **असङ्ग**=सासारिक पुरुषो के ससर्ग से विरक्त होकर, **सु-सङ्ग**=भक्तो की सगति से, **जात**=उत्पन्न, **ज्ञान-असिना**=ज्ञान रूपी तलवार से, **इह**=इस भौतिक जगत मे, **एव**=यहाँ तक कि; **विवृक्ण-मोहः**=मोह छिन्न-भिन्न हो जाता है, **हरिम्**=श्रीभगवान्, **तद्-ईहा**=उनके कार्यो का, **कथन-श्रुताभ्याम्**=श्रवन तथा कीर्तन इन दो विधियो से, **लब्ध-स्मृतिः**=खोई चेतना प्राप्त की जाती है, **याति**=प्राप्त करता है; **अतिपारम्**=परम अन्त, **अध्वनः**=परम धाम का।

अनुवाद

भक्तों की संगति मात्र से पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और फिर ज्ञान की तलवार से सांसारिक मोहों को छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। भक्तों की संगति से ही श्रवण तथा कीर्तन (श्रवणंकीर्तनम्) द्वारा भगवान् की सेवा में अनुरक्त हुआ जा सकता है। इस प्रकार सुप्त श्रीकृष्णभावना जागृत की जा सकती है और कृष्णभावना (भक्ति) के अनुशीलन द्वारा इसी जीवन में परमधाम को जाया जा सकता है।

तात्पर्य

भवबधन से मुक्त होने के लिए सासारिक व्यक्तियो की सगति त्याग करके भक्तो की सगति करनी चाहिए। इस सम्बन्ध मे सकारात्मक तथा नकारात्मक विधियाँ बताई गई है। भक्तो की सगति से सुप्त श्रीकृष्णभावना जागरित होती है। श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन सबो के लिए यह अवसर प्रदान करता है। जो भी कृष्णभक्ति मे आगे बढना चाहता है उसे हम आश्रय देते है। हम उनके रहने तथा भोजन की व्यवस्था करते है जिससे वे श्रीकृष्णभावना का शान्तिपूर्वक अनुशीलन करके इसी जीवन मे परमधाम को प्राप्त हो सके।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां भक्तिवेदान्त भाष्ये पञ्चम स्कन्धे ब्राह्मण रहूगण संवादे द्वादशोऽध्याय: ।। १२ ।।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पचम स्कन्ध के अन्तर्गत, "महाराज रहूगण तथा जड भरत की वार्ता" शीर्षक नामक बारहवे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।

अध्याय तेरह

राजा रहूगण तथा जड भरत के बीच और आगे वार्ता

ब्राह्मण जड भरत राजा रहूगण पर अत्यन्त दयालु हो उठे और उसे इस जगत से छुडाने के लिए उन्होने ससार रूपी जगल (भवाटवी) का अलकारिक वर्णन किया। उन्होने वताया कि यह ससार एक विशाल जंगल के समान है जिसमे भौतिक जीवन के ससर्ग के कारण मनुष्य उलझ जाता है। इस जगल मे लुटेरे (छ: इन्द्रिया) तथा सियार, भेडिये तथा सिह जैसे हिंस्र पशु (पत्नी, सतान तथा परिजन) रहते है जो परिवार के मुखिया का रक्तपान करना चाहते है। ये सब मिलकर मनुष्य की शक्ति का शोपण करना चाहते है। इसी जगल मे घास से ढका हुआ एक काला छेद (श्याम विवर) भी है जिसमे कोई भी गिर सकता है। जगल मे आकर और अनेक आकर्षणो से आसक्त होकर मनुष्य इस ससार, समाज, मित्रता, प्रेम तथा परिवार से तदाकार हो जाता है। रास्ता भूल कर और यह न जानते हुए कि किधर जाना है, पशु-पक्षियो द्वारा सताये जाने के साथ ही वह अनेक कामनाओ का शिकार होता है। इस प्रकार इस जगल मे वह परिश्रम करता हुआ इधर-उधर घूमता रहता है। वह क्षणिक सुख से प्रसन्न होता है और दुख से दुखी होता है। वस्तुत: इस जगल मे सुख-दुख के कारण वह कष्ट उठाता रहता है। कभी उस पर साँप (निद्रा) प्रहार करता है और सर्पदश से हत चेतन हो जाता है। किंकर्तव्यविमूढ होने से वह यह नही समझ पाता कि क्या करे। कभी-कभी वह अपनी पत्नी को छोडकर दूसरी स्त्री के प्रति आकृष्ट होकर उसके साथ प्रेम करने की सोचता है। उसे अनेक रोग, शोक तथा ग्रीष्म एव शीत प्रताड़ित करते रहते है। इस प्रकार इस ससार रूपी जगल मे अनेक कष्ट उठाने पडते है। सुखी बनने के उद्देश्य से जीवात्मा एक स्थान को छोडकर दूसरे स्थान जाता है, किन्तु भौतिकवादी (विषयी) पुरुष इस ससार मे कभी सुखी नही रहता। भौतिक विषयो मे लिप्त रहने के करण वह सदैव विक्षुब्ध रहता है। वह भूल जाता है कि एक दिन उसे मरना भी है। वह भले ही कष्ट क्यो न उठावे, किन्तु माया से मोहग्रस्त होकर भौतिक सुख के पीछे दीवाना रहता है। इस प्रकार वह भगवान् से अपने सम्बन्ध को भूल जाता है।

जड भरत से यह सुनकर महाराज रहूगण की श्रीकृष्णभावना जागरित हो

उठी और जड भरत की सगति से उसे लाभ पहुँचा। उसे ज्ञात हो सका कि उसका मोह भंग हो चुका है अतः उसने अपने दुर्व्यवहार के लिए जड भरत से क्षमा माँगी। यह सब शुकदेव गोस्वामी ने राजा परीक्षित को कह सुनाया।

ब्राह्मण उवाच

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक् ।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दति ॥ १ ॥

ब्राह्मणः उवाच=ब्राह्मण जड भरत ने कहा, **दुरत्यये**=जिसको पार करना कठिन है, दुर्गम; **अध्वनि**=सकाम कर्मो के पथ पर (इस जन्म मे कर्म करना, इन कर्मो के आधार पर अगले जन्म मे शरीर ग्रहण करना और इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र को स्वीकार करना); **अजया**=माया के द्वारा, **निवेशितः**=सन्निविष्ट, **रजः-तमः-सत्त्व-विभक्त-कर्म-दृक्**=बद्ध आत्मा जो लाभप्रद कर्मो तथा उनके फलो को तुरन्त देख लेता है जो सतो, रजो तथा तमो गुणों द्वारा तीन समूहो मे विभक्त है, **सः**=वह, **एषः**=यह, **स-अर्थ**=सकाम, **अर्थ-परः**=धन प्राप्ति मे तुला हुआ, **परिभ्रमन्**=सर्वत्र घूमते हुए; **भव-अटवीम्**=भव नामक जगल अर्थात् जन्म-मरण का चक्र, **याति**=प्रवेश करता है, **न**=नही, **शर्म**=सुख; **विन्दति**=प्राप्त करता है।

अनुवाद

ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त जड भरत ने आगे कहा—हे राजा रहूगण ! जीवात्मा इस संसार के दुर्लघ्य पथ पर घूमता रहता है और बारम्बार जन्म तथा मृत्यु स्वीकार करता है। प्रकृति के तीन गुणों (सत्व, रज तथा तम) के प्रभाव से इस संसार के प्रति आकृष्ट होकर जीवात्मा प्रकृति के जादू से केवल तीन प्रकार के फल जो शुभ, अशुभ तथा शुभाशुभ होते है देख पाता है। इस प्रकार वह धर्म, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति तथा मुक्ति की अद्वैत भावना (परमात्मा में तादात्म्य) के प्रति आसक्त होता रहता है। वह उस वणिक के समान अहर्निश श्रम करता है जो जंगल में कुछ सामग्री प्राप्त करके उससे लाभ उठाने के उद्देश्य से प्रवेश करता है। किन्तु उसे इस संसार में वास्तविक सुख उपलब्ध नही हो पाता।

तात्पर्य

यह सरलता से समझ मे आता है कि इन्द्रियतृप्ति का मार्ग कितना कठिन तथा

दुर्लघ्य है। इस मार्ग को न जानने के कारण मनुष्य विभिन्न देहो मे पुन: पुन: जन्म धारण करता है। इससे उसे इस ससार मे कष्ट उठाना पडता है। इस जीवन मे कोई यह सोचकर भले प्रसन्न हो ले कि वह अमरीकी, भारतीय, अग्रेज या जर्मन है, किन्तु अगले जन्म मे उसे चौरासी लाख योनियो मे कोई दूसरा शरीर धारण करना होगा। अगला शरीर कर्म के अनुसार प्राप्त होगा। तब उसे वही शरीर स्वीकार करना होगा—किसी प्रकार के प्रतिवाद से लाभ नही होगा। यह प्रकृति का कठोर नियम है। अविद्यावश जीवात्मा को अपना परम आनन्दमय जीवन ज्ञात नही रहता जिससे वह माया के प्रभाव से भौतिक विषयो के प्रति आकृष्ट होता है। इस ससार मे उसे कभी भी सुख नही मिल पाता, किन्तु उसके लिए अत्यधिक श्रम करता है। यही माया है।

यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यवः
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात्।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः॥ २॥

यस्याम्=जिसमें (भवाटवी में); **इमे**=ये, **षट्**=छ; **नरदेव**=हे राजा!, **दस्यवः**=लुटेरे; **स-अर्थम्**=बद्धजीव, **विलुम्पन्ति**=लूटते है, सर्वस्व हर लेते है, **कु-नायकम्**=जो नामधारी गुरुओ द्वारा सदैव ही कुमार्ग मे ले जाये जाते है; **बलात्**=बलपूर्वक, **गोमायवः**—लोमडियो की तरह, **यत्र**=जिस जंगल मे, **हरन्ति**=लूट लेते है; **स-अर्थिकम्**=जीव जो अपने पोषण के लिए धन की खोज करता रहता है; **प्रमत्तम्**=आत्महित न समझने वाला पागल व्यक्ति; **आविश्य**=भीतर प्रवेश करके; **यथा**=जिस प्रकार; **उरणम्**=सुरक्षित मेमने, **वृकाः**=भेड़िये।

अनुवाद

हे राजा रहूगण! इस संसार रूपी जंगल (भवाटवी) में छह अत्यन्त प्रबल लुटेरे है। जब बद्धजीव कुछ भौतिक लाभ के हेतु इस जंगल में प्रवेश करता है तो ये छहों लुटेरे उसे गुमराह कर देते है। इस प्रकार से बद्ध वणिक (व्यापारी) यह नहीं समझ पाता कि वह अपने धन को किस प्रकार खर्चे और यह धन इन लुटेरों द्वारा छीन लिया जाता है। जिस प्रकार चौकसी मे पले मेमने को उठा ले जाने के लिए जंगल में भेड़िए, सियार तथा अन्य हिंस्र पशु रहते है उसी प्रकार पत्नी तथा सन्तान उस वणिक के अन्तर् में प्रवेश करके अनेक प्रकार से लूटते रहते हैं।

तात्पर्य

जगल मे अनेक लुटेरे, डाकू, सियार तथा भेड़िये होते है। सियारो की तुलना मनुष्य की पत्नी तथा बच्चो से की गई है। जिस प्रकार से सियार अर्द्धरात्रि मे चिल्लाते है, उसी प्रकार इस ससार मे पत्नी तथा बच्चे चिल्लाते है। बच्चे कहते है, "पिता जी, हमे यह चाहिए, लाकर दो, हम आपके प्रिय बच्चे है," अथवा स्त्री कहती, "मै तुम्हारी पत्नी हूँ, मुझे इस चीज की आवश्यकता है।" इस प्रकार से मनुष्य जंगल मे चोरो द्वारा लूट लिया जाता है। जीवन का उद्देश्य न जानने से मनुष्य गुमराह होता रहता है। जीवन का उद्देश्य तो विष्णु है (**न ते विदु स्वार्थ-गतिम् हि विष्णुम्**)। प्रत्येक व्यक्ति धनार्जन के लिए अथक श्रम करता है, किन्तु उसे यह पता नही रहता कि उसके स्वार्थ की पूर्ति तो श्रीभगवान् की सेवा करने मे है। श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति में अपना धन न लगाकर वह अपनी गाढी कमाई क्लवों, वेश्यालयो, मद्यपान, वधिकगृहो आदि मे खर्च कर देता है। पापकर्म के कारण उसे वह देहान्तर क्रिया (आवागमन) मे फॅस जाता है और उसे एक के बाद एक शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार लगातार कष्ट भोगने से उसे सुख नही मिल पाता।

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३ ॥

प्रभूत=प्रचुर; **वीरुत्**=लताओं का; **तृण**=घास के तिनको का; **गुल्म**=घने जंगलो का, **गह्वरे**=कुजो मे, **कठोर**=क्रूर, **दंशैः**=काटने से; **मशकै**=मच्छरो के द्वारा, **उपद्रुतः**=विक्षुब्ध, **क्वचित्**=कभी-कभी, **तु**=लेकिन, **गन्धर्व-पुरम्**=गन्धर्वो द्वारा वनाया गया मिथ्या स्थान, कल्पित गन्धर्वपुरी, **प्रपश्यति**=देखता है, **क्वचित्**=(तथा) कभी-कभी; **क्वचित्**=कभी-कभी, **च**=तथा; **आशु-रय**=अत्यन्त तेजी से; **उल्मुक**=उल्का के तुल्य; **ग्रहम्**=भूतप्रेत, पिशाच।

अनुवाद

इस जंगल मे झाड़ियों, घास तथा लताओं के झाड़झंखाड़ से बने सघन कुंजों मे बुरी तरह से काटने वाले मच्छरों (ईर्ष्यालु पुरुषों) के होने से बद्धजीव निरन्तर विक्षुब्ध रहता है। कभी उसे जंगल में काल्पनिक स्थान दिखता है तो कभी वह आसमान से टूटते उल्का के समान प्रेत को देखकर किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है।

तात्पर्य

भौतिक घर वस्तुत: कर्म छिद्र है । जीविकोपार्जन के लिए मनुष्य नाना प्रकार के उद्योगो एवं व्यापारो मे अपने को लगाता है और स्वर्ग लोक जाने के लिए कभी-कभी वडे-वडे यज्ञ करता है । इन कार्यो मे अनेक अवाछित लोगो से पाला पड़ता है जिनका आचरण मशक दश के समान कहा जा सकता है । इससे विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है । ऐसी परिस्थितियो मे भी मनुष्य विशाल आवास बनाने और सुख-पूर्वक जीवन विताने की कल्पना करता रहता है, किन्तु यह सम्भव नही हो पाता । स्वर्ण की उपमा उस प्रेत से दी गई है जो आकाश मे टूटे हुए उल्का की तरह होता है । वह एक क्षण के लिए दृष्टिगोचर होकर छिप जाता है । सामान्यत कर्मी ही स्वर्ग या सम्पत्ति से आकर्षित होते है जिनकी उपमा यहाँ भूत प्रेत तथा पिशाचिनियो से दी गई है ।

निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् ।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥ ४ ॥

निवास=आवास, **तोय**=जल, **द्रविण**=सम्पत्ति, **आत्म-बुद्धिः**=जो भौतिक वस्तुओ को आत्म या स्वय मानता है, **तत ततः**=इधर-उधर, **धावति**=दौडता है, **भोः**=हे राजा ! **अटव्याम्**=इस ससार के जगल-मार्ग पर, **क्वचित् च**=तथा कभी-कभी; **वात्या**=ववंडर से; **उत्थित**=ऊपर उठ कर; **पांशु**=धूलि से, **धूम्राः**=धुए के रग का प्रतीत होता है; **दिशः**=दिशाएँ, **न**=नही, **जानाति**=जानता है, **रजः-वल-अक्षः**=हवा की धूल से ढकी हुई आँखो वाला अथवा जो रजस्वला पत्नी के प्रति आकृष्ट है ।

अनुवाद

हे राजन ! इस संसार रूपी जंगल के मार्ग में घर, सम्पत्ति, कुटुम्बी आदि से भ्रमित बुद्धि वाला वणिक सफलता की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान को दौड़ता रहता है । कभी-कभी उसकी आँखे बवडर की धूल से ढक जाती हैं अर्थात् कामवश वह अपनी स्त्री की सुन्दरता के प्रति विशेष रूप से रजोकाल मे मुग्ध हो जाता है। इस प्रकार अन्धे होने से उसे यह नहीं दिखाई पड़ता कि कहाँ जाना है अथवा वह क्या कर रहा है ।

तात्पर्य

कहा गया है कि सारा आकर्षण पत्नी मे केन्द्रित होता है क्योकि सभोग ही गृहस्थ जीवन का केन्द्र बिन्दु है—**यन्मैथुनादि-गृहमेधि-सुखं हि तुच्छम्**। भौतिकवादी पुरुष स्त्री को केन्द्र वनाकर अहर्निश श्रम करता है। उसका एक-मात्र सुख सभोग है। इसीलिए कर्मी सदैव स्त्रियों के प्रति मित्र अथवा पत्नी रूप मे आकृष्ट होते है। निस्सन्देह बिना सभोग के उनका काम नही चल पाता। ऐसी दशा मे पत्नी की तुलना, विशेष रूप से जब वह रजस्वला होती है, ववडर से की जाती है। जो गृहस्थाश्रम का नियमानुसार पालन करते है वे माह मे एक बार, रजोकाल के बाद सभोग करते है। मनुष्य जैसे-जैसे इस अवसर की ताक मे रहता है, उसकी आँखें अपनी पत्नी की सुन्दरता से सम्मोहित होती रहती है। अत यह कहा गया है कि बवडर आँखो को धूल से ढक देता है। ऐसा कामी पुरुष यह नही जानता कि उसके सारे व्यापार विभिन्न देवताओ द्वारा, विशेष रूप से सूर्यदेव द्वारा देखे जा रहे है और अगले जन्म के कर्मो के लिए उनका अकन हो रहा है। ज्योतिप सम्वन्धी गणनाएँ ज्योतिशास्त्र कहलाती है। चूंकि इस जगत मे ज्योति अथवा तेज विभिन्न नक्षत्रो तथा ग्रहो से प्राप्त होता है, इसलिए यह विज्ञान ज्योतिशास्त्र कहलाता है। ज्योति की गणनाओ से हमारे भविष्य का पता चल जाता है। दूसरे शब्दो मे, समस्त ज्योतिर्पिड यथा नक्षत्र, सूर्य तथा चन्द्र हर एक बद्धजीव के व्यापारो को देखते रहते है। इसी के अनुसार उसे विशेष प्रकार की शरीर प्राप्त होता है। किन्तु कामी पुरुष की आँखे भौतिक जगत के बवडर की धूल से ढकी रहती है और वह यह कभी नही सोच पाता कि उसके समस्त व्यापारो का अवलोकन विभिन्न नक्षत्रो तथा ग्रहो द्वारा किया जा रहा है और उनका अकन भी हो रहा है। यह न जानते हुए बद्धजीव अपनी कामेच्छाओ की तुष्टि के लिए सभी प्रकार के पापकर्म करता रहता है।

अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा
अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ॥ ५ ॥

अदृश्य=न दिखने वाले, **झिल्ली**=झीगुरो अथवा मधुमक्खियो के एक प्रकार का, **स्वन**=शब्द से, **कर्ण-शूल**=कानो के लिए दुखदाई, कर्णकटु; **उलूक**=उल्लू की, **वाग्भि**=बोली से, **व्यथित**=अत्यन्त विचलित, **अन्तः-आत्मा**=मन तथा हृदय, **अपुण्य-वृक्षान्**=अपवित्र वृक्ष, जिनमें फल-फूल नही लगते, **श्रयते**=शरण लेता है, **क्षुध**=भूख से, **अर्दितः**=सताया हुआ, **मरीचि-तोयानि**=मृगतृष्णा के लिए, **अभिधावति**=पीछे दौड़ता है, **क्वचित्**=कभी-कभी।

अनुवाद

ससार रूपी जंगल में घूमते हुए बद्धजीव को कभी-कभी अदृश्य झींगुरों की तीक्ष्ण ध्वनि सुनाई पड़ती है जो उसके कानों को अत्यन्त दुखदाई लगती है। कभी-कभी उसका हृदय अपने शत्रुओ के कटु बचनो जैसी प्रतीत होने वाली उल्लुओं की ध्वनि से व्यथित (विचलित) हो उठता है। कभी वह बिना फल फूल वाले वृक्षों का आश्रय ग्रहण करता है क्योंकि वह भूखा रहता है, किन्तु उसे कुछ न मिलने से कष्ट भोगना पड़ता है। उसे जल की इच्छा होती है किन्तु वह केवल मृगतृष्णा से मोहित हो जाने के कारण उसके पीछे दौड़ता है।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत में यह कहा गया है कि भागवत दर्शन उन लोगो के लिए है जो ईर्ष्या से रहित है (**परमो निर्मत्-शराणाम्**)। यह ससार ईर्ष्यालु व्यक्तियो से परिपूर्ण है। यहाँ तक कि अन्तरगी भी पीछे से छुरा भोकने वाले होते है। इसीलिए इनकी तुलना जगल मे झीगुरो की झनकार से की गई है। मनुष्य को झीगुर नही दिखाई पडता, किन्तु उसकी ध्वनि उसको व्यथित करती रहती है। जब कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण भावना स्वीकार करता है तो उसे अपने सम्बन्धियो के कटु वचन सुनने पडते है। यह संसार का स्वभाव है। पीठ पीछे निन्दा करने वालो से जो मानसिक कष्ट होता है उससे बचा नही जा सकता। कभी-कभी अत्यन्त व्यथित हो उठने पर वह किसी पापी व्यक्ति के पास सहायता के लिए जाता है, किन्तु बुद्धि न होने से वह उसकी सहायता नही कर पाता। इस प्रकार जीव निराश हो जाता है। यह मरुस्थल मे जल की खोज के लिए मृगतृष्णा के पीछे दौड लगाने के समान है। ऐसे कर्मो से कोई लाभ नही होता। मायाशक्ति द्वारा निर्देशित होने से बद्धजीव को अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते है।

क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालषते निरन्धः।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः॥ ६॥

क्वचित् = कभी; **वितोयाः** = जलहीन, **सरितः** = नदियाँ, **अभियाति** = नहाने जाता है अथवा भीतर कूदता है, **परस्परम्** = एक दूसरे से, **च** = तथा, **आलषते** = कामना करता है, **निरन्धः** = अन्नहीन होने पर, **आसाद्य** = अनुभव करके; **दावम्** = जंगल की अग्नि, दावाग्नि, **क्वचित्** = कभी, **अग्नि-तप्तः** = आग से जलने के कारण,

निर्विद्यते=निराश होता है, **क्व**=कही; **च**=तथा; **यक्षैः**=डाकुओ तथा उचक्कों जैसे राजाओ द्वारा; **हृत्**=ले लिया जाने पर, छीने जाने पर; **असुः**=सम्पत्ति, जो प्राणो के समान प्रिय है।

अनुवाद

कभी-कभी बद्धजीव उथली नदी में कूद पड़ता है अथवा खाद्यान्न न होने पर ऐसे लोगों से अन्न माँगता है जो दानी नहीं है। कभी वह गृहस्थ जीवन की अग्नि से जलने लगता है जो दावाग्नि जैसी होती है, तो कभी वह उस सम्पत्ति के लिए दुखी हो उठता है जो उसे प्राणों से भी प्रिय है और जिसका अपहरण आय-कर के रूप में राजा लोग करते है।

तात्पय

सूर्य की झुलसती धूप मे रहने से मनुष्य कभी-कभी नदी मे कूद कर विश्रान्ति प्राप्त करता है। किन्तु यदि नदी शुष्कप्राय हो और पानी उथला हो तो कूदने वाले की हड्डियाँ चूर चूर हो सकती है। इसी प्रकार से बद्धजीव निरन्तर कष्टो का अनुभव करता रहता है। कभी अपने मित्रो से सहायता प्राप्त करने के उसके प्रयास सूखी नदी मे कूदने के समान फलित होते है। ऐसे प्रयासो से उसे कोई लाभ नही होता। केवल उसकी हड्डियाँ टूटती है। कभी-कभी अन्नाभाव के कारण मनुष्य को ऐसे व्यक्ति के पास जाना पड सकता है जो दानी नही है या फिर जान बूझ कर अन्न नही देना चाहता। कभी-कभी मनुष्य गृहस्थ जीवन मे ही बना रहता है जिसकी उपमा दावाग्नि से दी गई है (**संसार-दावानल-लीढ-लोक**)। जब सरकार किसी पर भारी कर लगा देती है तो मनुष्य दुखी होता है। भारी कर के कारण उसे अपनी आय छिपानी पडती है, किन्तु सारे यत्नो के बाद भी कभी-कभी सरकारी एजेट इतने सतर्क रहते है और इतने बलशाली होते है कि वे सारा धन छीन लेते है जिससे बद्धजीव अत्यधिक व्यथित रहता है।

इस ससार मे रहकर लोग सुखी रहने का प्रयास करते है, किन्तु उनका यह प्रयास दावाग्नि से पीडित जगल मे सुखी रहने के तुल्य है। जगल मे जाकर कोई आग लगाता नही, वह स्वतः प्रकट होती है। इसी प्रकार गृहस्थ जीवन या सांसारिक जीवन मे कोई दुखी नही रहना चाहता, किन्तु प्रकृति के सुख-दुख के नियम प्रत्येक व्यक्ति पर बरबस लादे जाते है। अपने भरण-पोषण के लिए किसी पर आश्रित होना कितना लज्जास्पद होता है इसीलिए वैदिक पद्धति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निराश्रित रहना चाहिए। केवल शूद्र ही स्वतन्त्र रूप से रहने मे असमर्थ है। उन्हे अपने भरण के लिए किसी-न-किसी की सेवा करनी होती है। शास्त्रो मे कहा गया है—**कलौ शूद्र-सम्भवाः**। इस कलियुग मे प्रत्येक व्यक्ति अपने देह-भरण के लिए अन्य की कृपा पर आश्रित रहता है इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को शूद्र कहा गया है। श्रीमद्भागवत के बारहवे स्कध मे कहा गया है कि कलियुग मे सरकार कर तो

उमूल करेगी, किन्तु उसके वदले मे जनता का कल्याण नही देखेगी। **अनावृष्ट्या विनंक्ष्यन्ति दुर्भिक्षः-कर-पीडिताः**। इस युग मे वर्पा की न्यूनता होगी जिससे अन्नाभाव होगा और जनता सरकार द्वारा लगाये गये करो से अत्यधिक पीडित होगी। इस प्रकार जनता शान्तिपूर्ण जीवन नही विता सकेगी, वह अपना घरवार छोड़कर निराशावश जगलों मे चली जावेगी।

शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
शोचन् विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम्।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम् ॥ ७ ॥

शूरैः=प्रवल शत्रुओ द्वारा, **हृत-स्व**=जिसका समस्त धन चुराया जा चुका है, **क्व च**=कभी-कभी, **निर्विण्ण-चेताः**=हृदय मे अत्यन्त खिन्न एव व्यथित, **शोचन्**=अत्यधिक पश्चात्ताप करते हुए, **विमुह्यन्**=किंकर्तव्यविमूढ होकर, **उपयाति**=हो जाता है, **कश्मलम्**=सज्ञाशून्य अचेत, **क्वचित्**=कभी-कभी; **च**=भी, **गन्धर्व-पुरम्**=जगल मे स्थित कपोलकल्पित नगर, **प्रविष्टः**=प्रवेश हुआ, **प्रमोदते**=वह आनन्द भोगता है, **निर्वृत-वत्**=सिद्ध पुरुप के समान, **मुहूर्तम्**=केवल क्षण भर के लिए।

अनुवाद

कभी-कभी अपने से बड़े तथा बलवान व्यक्ति द्वारा पराजित होने अथवा लूटे जाने पर जीवात्मा की सारी सम्पत्ति चली जाती है। इससे वह दुखी रहता है, क्षति पर पश्चात्ताप करता है यहाँ तक कि कभी-कभी अचेत भी हो जाता है। कभी-कभी वह ऐसे विशाल प्रासाद की कल्पना करने लगता है जिसमे वह अपने परिवार तथा अपने धन समेत सुखपूर्वक रह सके। यदि ऐसा हो सकता है तो वह अत्यन्त सन्तुष्ट रहता है, किन्तु ऐसा सुख क्षणिक होता है।

तात्पर्य

इस श्लोक मे **गन्धर्व-पुरम्** अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। कभी-कभी जगल के बीच वहुत वडा किला दृष्टिगोचर होने लगता है, इसे ही "हवाई किला" कहा जाता है। वास्तव मे इस किले का अस्तित्व मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्यत्र कही नही होता। इसे **गंधर्वपुर** कहा जाता है। इस ससार रूपी जगल मे वद्धजीव कभी-कभी बडे-बड़े किले तथा गगनचुम्बी प्रासादो की कल्पना करने मे अपनी शक्ति नष्ट करता है और इनमे अपने परिवार सहित सुखपूर्वक रहने की आशा वाँधता है। किन्तु प्राकृतिक

नियम ऐसा होने नही देते। जब वह ऐसे किले मे प्रवेश करता है तो क्षण भर के लिए हर्षित हो लेता है, किन्तु उसका यह सुख स्थायी नही होता। यह सुख कुछ ही वर्ष चल पाता है क्योकि मृत्यु के समय उसे यह किला छोडना पड़ता है। सासारिक विनिमय का यही विधान है। विद्यापति ने ऐसे सुख को उस सुख के समान वताया है जो मरुस्थल मे पानी की एक बूंद देखकर उत्पन्न होता है। मरुस्थल सूर्य के प्रखर ताप से जलने लगता है, अतः यदि हम इसको शीतल वनाना चाहे तो करोड़ो गैलन पानी की आवश्यकता पड़ेगी। भला ऐसे में पानी की एक बूंद का क्या प्रभाव हो सकता है? पानी का महत्व है, किन्तु एक बूंद जल से मरुस्थल की तपन कम नही हो सकती। इस ससार का प्रत्येक व्यक्ति महत्वाकाक्षी है, किन्तु झुलसाने वाली तपन है। ऐसे मे काल्पनिक किले से क्या काम सरेगा? इसीलिए विद्यापति ने गाया है—**तातल सैकते, वारि-विन्दु-सम, सुत-मित-रमणि-समाजे।** गृहस्थ जीवन, मित्रो तथा समाज के सुख की तुलना जलते हुए रेगिस्तान मे पानी के बूंद से की गई है। यह समूचा ससार सुख प्राप्त करने के प्रयास मे लगा है क्योकि सुख जीव के लिए पहली शर्त है। दुर्भाग्यवश इस ससार मे आकर जीवात्मा अपने अस्तित्व के लिए केवल सघर्ष करता है। यदि कुछ काल के लिए वह सुखी हो भी जाता है तो उसका प्रवल शत्रु उसका सर्वस्व लूट लेता है। ऐसे अनेक उदाहरण है जिनमे वड़े-वड़े व्यापारी सहसा दीवालिये बन जाते है। तो भी इस ससार की प्रकृति ऐसी है कि मूढ लोग इसके प्रति आकृष्ट होकर आत्म-साक्षात्कार को भूल जाते है।

चलन् क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
र्नगारुरुक्षुर्विमना इवास्ते।
पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः
कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय॥ ८॥

चलन्=चलते हुए; **क्वचित्**=कभी कभी; **कण्टक-शर्कर**=कॉटे तथा ककड़ो से छिद कर; **अङ्घ्रिः**=जिनके पॉव, **नग**=पर्वत; **आरुरुक्षुः**=चढ़ने का इच्छुक; **विमनाः**=उदास; **इव**=सदृश; **आस्ते**=हो जाता है, **पदे-पदे**=प्रत्येक पग पर; **अभ्यन्तर**=भीतरी, पेट के भीतर, **वह्निना**=क्षुधा की प्रबल अग्नि से; **अर्दितः**=थक कर तथा दुखी होकर; **कौटुम्बिकः**=कुटुम्बियो के साथ रहने वाला व्यक्ति; **क्रुध्यति**=क्रोध करता है, **वै**=निश्चय ही, **जनाय**=अपने परिवार पर।

अनुवाद

कभी-कभी जंगल का व्यापारी पर्वतों तथा पहाड़ियों के ऊपर चढ़ना चाहता है,

किन्तु अपर्याप्त पदत्राण के कारण उसके पैरों में कंकड़ तथा काँटे गड़ जाते हैं जिससे वह अत्यन्त उदास हो जाता है। कभी जब उसके परिवार का कोई प्राणी अत्यन्त क्षुधित हो उठता है तो वह व्यापारी अपनी दयनीय स्थिति के कारण अपने कुटुम्बियों पर क्रुद्ध हो उठता है।

तात्पर्य

महत्वाकांक्षी वद्धजीव अपने परिवार सहित इस ससार मे सुखी रहना चाहता है। उसकी उपमा जगल के उस यात्री से दी गई है जो काँटो तथा ककड़ो से पूर्ण पहाडी पर चढ़ना चाहता है। जैसा कि पिछले श्लोक मे कहा गया है, समाज, मैत्री तथा प्रेम से प्राप्त सुख मरुस्थल की झुलसती गर्मी मे जल के बूंद के समान है। मनुष्य अपने समाज मे महान तथा शक्तिशाली बनने की सोचता है, किन्तु यह काँटो से परिपूर्ण पहाडी पर चढने के समान है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने परिवार की तुलना पर्वत से की है। कुटुम्बियो के साथ सुख की कामना मानो भूखे पेट काँटो से भरे पर्वत पर चढने का प्रयास हो। कुटुम्बियो को सन्तुष्ट रखने के लिए प्रयत्न करने के वावजूद लगभग ९९ ९१ प्रतिशत जनसख्या का परिवारिक जीवन दुखी है। पाश्चात्य देशो मे जो पारिवारिक सदस्यो के असन्तोष के कारण पारिवारिक जीवन रहा ही नही। तलाक की अनेक घटनाएँ होती रहती है और बच्चे असन्तोष के कारण माता-पिता का सरक्षण छोड़ देते है। विशेष रूप से इस कलिकाल मे पारिवारिक जीवन घटता जा रहा है। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति आत्म-केन्द्रित होता जा रहा है। यदि किसी के पास परिवार चलाने के लिए पर्याप्त धन रहता भी है तो भी परिवार मे उससे कोई प्रसन्न नही रहता। फलस्वरूप वर्णाश्रम धर्म के अनुसार वीच मे ही पारिवारिक जीवन त्यागना पडता है—**पचाशोर्ध्व वनं व्रजेत्**—मनुष्य को चाहिए पचास वर्ष की आयु मे गृह त्याग कर वृन्दावन या जगल मे चला जाय। यह श्रील प्रह्लाद महाराज के द्वारा किया गया विधान है (भागवत ७ ५ ५)—

तत् साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात्।
हित्वाऽऽत्मपातं गृहमन्धकूप वनं गतो यद्धरिमाश्रयते ॥

"जंगल-जगल घूमने मे कोई हित नही। मनुष्य को चाहिए कि वह वृन्दावन जाकर गोविन्द की शरण ले। इससे वह सुखी वनेगा।" अत. श्रीकृष्णभावनामृत संघ एक कृष्ण-वलराम का मन्दिर बनवा रहा है जिसमे अपने सदस्यो तथा वाहरी लोगो को बुलाकर शान्त वातावरण मे रहकर जीवन विताने के लिए व्यवस्था होगी। इससे दिव्यलोक तक उठने और श्रीभगवान् के धाम को जाने मे सहायता मिलेगी। इस श्लोक मे एक अन्य वाक्य भी महत्वपूर्ण है—**कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय**। जव मनुष्य का मन अनेक प्रकार से विचलित रहता है तो वह अपनी पत्नी तथा वच्चो पर क्रोध जताकर अपने आपको तुष्ट करता है। पत्नी तथा वच्चे स्वभावत: पिता

पर आश्रित रहते है, किन्तु पिता परिवार का ठीक से पालन न कर सकने के कारण मानसिक रूप से दुखी रहता है, अत. वह वृथा ही स्वजनो को डाँटता है। जैसा कि श्रीमद्भागवत मे (१२ २ ९) कहा गया है—**आछिन्नदाराद्रविणा यास्यन्ति गिरि काननम्।** पारिवारिक जीवन से त्रस्त होकर मनुष्य तलाक द्वारा या अन्य साधनो से परिवार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। यदि विच्छेद करना है तो हँसी-खुशी से क्यो नही करते ? नियमपूर्वक विच्छेद बलात् विच्छेद से अच्छा होता है। बलात् विच्छेद से कोई सुखी नही रह सकता, किन्तु पारस्परिक विचार-विमर्श या वैदिक व्यवस्था के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि एक निश्चित आयु के ऊपर वह पारिवारिक प्रपचो से विलग हो ले और श्रीकृष्ण पर पूर्णत: आश्रित हो ले। इससे जीवन सार्थक बनता है।

क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः।
दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकै-
रन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे ॥ ९ ॥

क्वचित्=कभी-कभी, **निगीर्णः**=निगले जाने पर, **अजगर-अहिना**=अजगर नामक बडे सर्प द्वारा, **जनः**=बद्धजीव, **न**=नही, **अवैति**=समझता है, **किंचित्**= कुछ भी; **विपिने**=जगल मे, **अपविद्धः**=कष्ट से तीरो से बेधा हुआ, **दष्टः**=दश किया गया, काटे जाने पर, **स्म**=निस्सदेह, **शेते**=लेट जाता है, **क्व च**=कभी-कभी, **दन्द-शूकैः**=अन्य सर्पो द्वारा, **अन्धः**=अन्धा, **अन्ध-कूपे**=अधे कुएँ मे, **पतितः** =गिरा हुआ, **तमिस्रे**=नारकीय जीवन मे।

अनुवाद

कभी-कभी इस भौतिक जंगल मे बद्धजीव को अजगर निगल लेते है। ऐसी अवस्था मे वह चेतना तथा ज्ञान शून्य होकर मृत व्यक्ति तुल्य जंगल में पड़ा रहता है। कभी-कभी अन्य सर्प भी आकर काट लेते है। अचेतन होने के कारण वह नारकीय जीवन के अन्धे कूप मे गिर जाता है जहाँ से बचकर निकल पाने की कोई आशा नही रहती।

तात्पर्य

जब कोई व्यक्ति साँप के काटे जाने से बेहोश हो जाता है तो उसे यह नही पता चलता कि बाहर क्या हो रहा है। यह बेहोशी की अवस्था गाढ निद्रा की अवस्था है। इसी प्रकार बद्धजीव वस्तुत माया की गोद मे सो रहा है। भक्तिविनोद ठाकुर

का गीत—**कत निद्रा याओ माया-पिशाचिर कोले**—"हे जीवात्मा, तुम इस तरह माया की गोद मे कब तक सोते रहोगे ?" मनुष्यो को यह पता नही चल पाता कि वे इस संसार मे वास्तव मे सो रहे है और उन्हे आत्म-जीवन का कोई ज्ञान नही रहता। अतः चैतन्य महाप्रभु कहते है—

एनेचि औषधि माया नाशिबार लागिऽ।
हरि-नाम-महा-मंत्र लओ तुमि मागिऽ॥

"मै प्रत्येक जीव को चिर निद्रा से जगाने की औषधि लाया हूँ। आप ईश्वर का पवित्र नाम, **हरे कृष्ण महामन्त्र** को पाकर जगे।" **कठोपनिषद**(१ ३.१४)का भी कथन है—**उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**—"हे जीवात्मा, तुम इस ससार में सो रहे हो। उठो और मनुष्य जीवन का लाभ उठावो।" सुप्त दशा का अर्थ है ज्ञान की हानि। भगवद्गीता मे (२ ६९) भी कहा गया है—**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी**—"जो सब जीवो के लिए रात्रि है वही सयमी पुरुषो के जगने का समय है।" यहाँ तक कि स्वर्गलोक मे भी प्रत्येक प्राणी माया के वश मे है। कोई भी जीवन के वास्तविक मूल्य मे रुचि नही रखता। सुप्त अवस्था जिसे **काल-सर्प** कहा गया है, बद्धजीव को अविद्या मे रखती है, जिससे शुद्ध चेतना जाती रहती है। जगल मे अनेक अंधे कुएँ होते है और यदि कोई इनमे से किसी एक मे गिर जाय तो फिर उसे उबारने की कोई आशा नही रहती। सुप्तावस्था मे कुछ पशु, विशेष रूप से सर्प मनुष्य को निरन्तर काटते रहते है।

क्वहिं स्म चित्क्षुद्ररसान् विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः।
तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो
बलाद्विलुम्पन्त्यथ त ततोऽन्ये ॥१०॥

क्वहि स्म चित्=कभी-कभी, क्षुद्र=अत्यन्त लघु, **रसान्**=रति सुख; **विचिन्वन्**=खोजा हुआ, **तत्**=उन स्त्रियो का, **मक्षिकाभिः**=मधुमक्खियो से, अथवा पतियो या कुटुम्बियो से, **व्यथितः**=अत्यन्त दुखी, **विमानः**=अपमानित, **तत्र**=वहाँ पर; **अति**=अत्यन्त, **कृच्छ्रात्**=धन के व्यय के कारण कठिनाई से; **प्रतिलब्धमानः**=रति सुख प्राप्त करके; **बलात्**=वलपूर्वक, **विलुम्पन्ति**=अपहरण की गई; **अथ**=तत्पश्चात्, **तम्**=इन्द्रिय सुख की वस्तु (स्त्री), **ततः**=उससे, **अन्ये**=अन्य व्यभिचारी (कामी)।

अनुवाद

कभी-कभी थोड़े से रति-सुख के लिए मनुष्य चरित्रहीन स्त्री की खोज करता रहता है। इस प्रयास में उस स्त्री के सम्बन्धियों द्वारा उसका अपमान एवं प्रताड़न होता है। यह वैसा ही है जैसे कि मधुमक्खी के छत्ते से शहद (मधु) निकालते समय मक्खियाँ आक्रमण कर दें। कभी-कभी प्रचुर धन व्यय करने पर उसे कुछ अधिक इन्द्रिय भोग के लिए दूसरी स्त्री प्राप्त हो सकती है। किन्तु दुर्भाग्यवश इन्द्रिय सुख की सामग्री रूप वह स्त्री चली जाती है अथवा अन्य कामी द्वारा अपहरण कर ली जाती है।

तात्पर्य

वड़े-बड़े जंगलों में मधुमक्खी के छत्ते पाये जाते है। प्रायः लोग वहाँ जाकर छत्तो से मधु एकत्र करते है, कभी-कभी मक्खियाँ आक्रमण करके उन्हें दण्डित भी करती है। मनुष्य समाज में जो कृष्णभावनाभावित नही है वे भौतिक जीवन के जगल मे विषयी जीवन के मधु के लोभ के कारण रहते आते है। ऐसे कामी पुरुष कभी भी एक पत्नी से सन्तुष्ट नही होते। उन्हे अनेक स्त्रियाँ चाहिए। प्रतिदिन वे अत्यन्त कठिनाई से ऐसी स्त्रियाँ प्राप्त करते है और इस प्रकार का मधु चखने के प्रयास में उन पर कभी-कभी उस स्त्री के परिजनो का प्रहार भी हो जाता है और वड़ी ताड़ना पड़ती है। भले ही घूस देकर भोग के लिए कोई अन्य स्त्री पा ले, किन्तु दूसरा कामी उसका अपहरण कर सकता है। भौतिक ससार के जगल मे इस प्रकार का स्त्री-मृगया चलता रहता है, जो कभी वैध होता है तो कभी अवैध। फलतः इस कृष्णभावनामृत आन्दोलन मे भक्तों के लिए अवैध स्त्री-पुरुष संग वर्जित है। इससे वे अनेक विपत्तियो से बचे रहते है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी बरी-ब्याही एक पत्नी से तुष्ट रहे। वह अपने विषयो की तृप्ति अपनी पत्नी से कर सकता है। इससे समाज में कुव्यवस्था भी नही उत्पन्न होगी।

क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते।
क्वचिन्मिथो विपणन् यच्च किञ्चिद्
विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात् ॥११॥

क्वचित्=कभी, **च**=भी, **शीत-आतप-वात-वर्ष**=ठड, कड़ी गर्मी, तेज हवा तथा अधिक वर्षा की; **प्रतिक्रियाम्**=प्रतिक्रिया, जवाबी क्रिया, **कर्तुम्**=करना; **अनीशः**=असमर्थ; **आस्ते**=कष्ट मे रहा आता है; **क्वचित्**=कभी-कभी, **मिथः**=परस्पर, **विपणन्**=वेचकर, **यत् च**=जो कुछ; **किञ्चित्**=थोड़ा भी; **विद्वेषम्**=

पारस्परिक द्वेष (शत्रुता); **ऋच्छति**=प्राप्त करता है; **उत**=ऐसा कहते हैं; **वित्त-शाठ्यात्**=केवल धन के लिए एक दूसरे को ठगने के कारण।

अनुवाद

कभी-कभी जीवात्मा ठंड, कड़ी गर्मी, तेज हवा, अधिक वर्षा इत्यादि प्राकृतिक उत्पातों का सामना करने में लगा रहता है। किन्तु जब वह ऐसा नही कर पाता तो अत्यन्त दुखी होता है। कभी-कभी वह एक के बाद एक व्यावसायिक लेन-देन में ठगा जाता है। इस प्रकार ठगे जाने पर जीवात्माएं एक दूसरे से शत्रुता ठान लेती है।

तात्पर्य

यह जीवन सघर्ष का उदाहरण है जिसमे भौतिक प्रकृति के घातो का सामना किया जाता है। इससे समाज मे शत्रुता उत्पन्न होती है फलस्वरूप समाज ईर्ष्यालु पुरुषो से भर जाता है। एक व्यक्ति दूसरे से ईर्ष्या करता है। यही ससार की रीति है। श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन प्रेम का वातावरण उत्पन्न करना चाहता है। निस्सन्देह सबके लिए सम्भव नही कि श्रीकृष्णभावनाभावित (भक्त) हो किन्तु श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन ऐसे आदर्श समाज की सृष्टि कर सकता है जो द्वेषरहित हो।

क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन् परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥१२॥

क्वचित् क्वचित्=कभी-कभी, **क्षीण-धनः**=धनहीन होने पर, **तु**=लेकिन; **तस्मिन्**=उस जगल मे, **शय्या**=लेटने का विस्तर, **आसन**=बैठने का स्थान; **स्थान**=आवास; **विहार**=परिवार सहित सुखोपभोग, **हीनः**=रहित, **याचन्**=भीख माँग कर, **परात्**=अन्यो (मित्रो तथा सम्बन्धियो) से, **अप्रतिलब्ध-कामः**=कामना की पूर्ति न होने से, **पारक्य-दृष्टिः**=अन्यो की सम्पत्ति का लालची, **लभते**=प्राप्त करता है; **अवमानम्**=अनादर।

अनुवाद

संसार के जंगली मार्ग में कभी-कभी व्यक्ति धनहीन हो जाता है जिससे कारण उसके पास न तो समुचित घर, बिस्तर, या बैठने का स्थान होता है, न ही समुचित

पारिवारिक भोग ही उपलब्ध हो पाता है। अतः वह अन्यों से धन माँगता है, किन्तु जब माँगने पर भी उसकी इच्छाएँ अपूर्ण रही आती है तो वह या तो उधार लेता है या फिर अन्यों की सम्पत्ति चुराता है। इस तरह वह समाज में अपमानित होता है।

तात्पर्य

इस ससार मे भीख माँगने, उधार लेने या चुराने के सिद्धान्त अत्यन्त उपयुक्त है। जब किसी को आवश्यकता पड़ती है तो वह माँगता, उधार लेता या फिर चोरी करता है। यदि माँगने से काम नही चलता तो उधार लेता है। यदि उधार अदा नही कर पाता तो वह चोरी करता है और जब पकड़ा जाता है तो उसका अपमान किया जाता है। यह इस ससार का नियम है। कोई भी ईमानदारी से जीवित नही रह सकता, अत मनुष्य छल करके, माँग करके, उधार ले करके या चोरी करके अपनी तृप्ति करना चाहता है। इस तरह इस ससार मे कोई भी शान्तिपूर्वक नही रह पाता।

अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धो विवहन्मिथश्च ।
अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन् विपन्नः ॥१३॥

अन्योन्य=एक दूसरे से, **वित्त-व्यतिसंग**=धन के लेन-देन द्वारा, **वृद्ध**=बढ़ा हुआ; **वैर-अनुबन्धः**=वैर भाव, **विवहन्**=कभी-कभी व्याह द्वारा, **मिथः**=परस्पर; **च**=तथा; **अध्वनि**=ससार-पथ पर; **अमुष्मिन्**=वह, **उरु-कृच्छ्र**=कठिनाइयो से; **वित्त-बाध**=धन की कमी से; **उपसर्गैः**=रोगो से, **विहरन्**=घूमते हुए, **विपन्नः**=अत्यन्त चिन्तित हो जाता है।

अनुवाद

आर्थिक लेन-देन के कारण सम्बन्ध में कटुता उत्पन्न होती है जिसका अन्त शत्रुता में होता है। कभी पति-पत्नी भौतिक उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होते है और अपने सम्बन्ध बनाये रखने के लिए वे कठोर श्रम करते है तो कभी धनाभाव अथवा रुग्ण दशा के कारण वे अत्यधिक चिन्तित रहकर मरणासन्न हो जाते है।

तात्पर्य

इस ससार मे मनुष्यो तथा समाजो, यहाँ तक कि राष्ट्रो के बीच अनेक प्रकार

के पारस्परिक लेन-देन चलते है। किन्तु इनका अन्त दोनो पक्षो मे शत्रुता मे होता है। इसी प्रकार विवाह सम्बन्ध मे आर्थिक लेन-देन के कारण घातक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है। इससे मनुष्य या तो बीमार पड जाता है या आर्थिक रूप से चिन्तित रहने लगता है। आधुनिक युग मे अधिकाश देशों का आर्थिक विकास हुआ है, किन्तु व्यापारिक लेन-देन के कारण सम्बन्धो मे तनाव आया है। अन्त मे राष्ट्रो के बीच युद्ध छिड़ जाता है। इस उथल-पुथल से समूचे विश्व का विनाश होता है और लोगो को अत्यधिक कष्ट उठाना पडता है।

तांस्तान् विपन्नान् स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम् ॥१४॥

तान् तान्=उन सबों को, **विपन्नान**=विभिन्न प्रकार से व्यथित; **सः**=जीव; **हि**=निश्चय ही, **तत्र तत्र**=यहाँ-वहाँ; **विहाय**=छोडकर, **जातम्**=नवजातो को, नये पैदा हुओ को; **परिगृह्य**=लेकर, **स-अर्थः**=अपने हित की खोज मे जीव; **आवर्तते**=जगल मे घूमता रहता है, **अद्य-अपि**=आज तक, **न**=नही, **कश्चित्**=कोई भी, **अत्र**=यहाँ इस जगल में, **वीर**=हे वीर ! **अध्वनः**=भौतिक जीवन का मार्ग, **पारम्**=अन्त, **उपैति**=पाता है, **योगम्**=श्रीभगवान् की भक्ति साधना।

अनुवाद

हे राजन ! भौतिक जीवन रूपी जंगल के मार्ग में मनुष्य पहले अपने पिता तथा माता को खोता है और उनकी मृत्यु के बाद वह नवजात बच्चों से आसक्त हो जाता है। इस तरह वह भौतिक प्रगति के मार्ग में घूमता रहता है और अन्त में अत्यन्त व्यथित हो जाता है। किसी को मृत्यु के क्षण तक यह पता नही चल पाता कि इससे किस प्रकार निकले।

तात्पर्य

इस ससार मे गृहस्थ जीवन सभोग-सस्थान है। **यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखम्** (भागवत ७ ९ ४५)। माता-पिता के सभोग से सतान उत्पन्न होती है, सतानो का ब्याह होता है और वे भी उसी विषयी-जीवन का पालन करते है, उनके भी सताने होती है। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढी बिना मुक्ति प्राप्त किये यही क्रम चलता रहता है। इनमे से कोई भी उस ज्ञान तथा वैराग्य के मार्ग को अगीकार नही करता जिसका अन्त भक्तियोग में होता है। वास्तव मे मनुष्य जीवन तो ज्ञान और वैराग्य

के लिए ही होता है। इन्ही के माध्यम से भक्ति प्राप्त हो सकती है। दुर्भाग्यवश इस युग के लोग साधु संग से कतराते हैं और एक जैसा गृहस्थ जीवन बिताते हैं। इस तरह वे धन तथा विषय-कर्मों के आदान-प्रदान से पीड़ित रहते है।

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः।
मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति ॥१५॥

मनस्विनः=बड़े-बड़े वीर पुरुष (विचारक), **निर्जित-दिक्-गजेन्द्राः**=जिन्होने हाथियो के समान बलशाली वीरों को जीत लिया है, **मम**=मेरा (मेरा देश, मेरी भूमि, मेरा परिवार, मेरा धर्म); **इति**=इस प्रकार, **सर्वे**=समस्त (महान् राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक नेता); **भुवि**=इस ससार मे, **बद्ध-वैराः**= परम्परा वैरभाव उत्पन्न कर रखा है; **मृधे**=युद्ध मे, **शयीरन्**=भूमि मे मृत होकर गिरे हुए; **न**=नही, **तु**=लेकिन, **तत्**=श्रीभगवान् का धाम; **व्रजन्ति**=पहुँचते हैं; **यत्**=जो; **न्यस्त-दण्डः**=सन्यासी, **गत-वैरः**=जिसका विश्व भर में किसी से वैर-भाव नही है, **अभियाति**=उस सिद्धि को प्राप्त करता है।

अनुवाद

ऐसे अनेक राजनैतिक तथा सामाजिक वीर पुरुष हैं जिन्होंने सम-शक्ति वाले शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है तो भी वे अज्ञानवश यह विश्वास करके कि यह भूमि उनकी है परस्पर लड़ते हैं और युद्धभूमि में अपने प्राण गँवाते है। वे संन्यासियों के द्वारा स्वीकृत आध्यात्मिक पथ को ग्रहण कर सकने में अक्षम रहते हैं। वीर पुरुष तथा राजनैतिक नेता होते हुए भी वे आत्म-साक्षात्कार का पथ नहीं पा सकते।

तात्पर्य

वड़े-वड़े राजनीतिक नेता भले ही अपने समान शक्तिशाली राजनीतिक शत्रुओं को परास्त कर दे, किन्तु वे अहर्निश साथ रहने वाले प्रबल इन्द्रिय रूपी शत्रुओ का दमन नही कर पाते। इन निकटस्थ शत्रुओ को न जीत सकने के कारण ही वे अन्य शत्रुओ को जीतने का प्रयास करते रहते हैं और अन्तत. जीवन संघर्ष मे मर जाते हैं। वे न तो आत्म-साक्षात्कार का पथ ग्रहण करते है और न सन्यासी ही बनते हैं। कभी-कभी ये महान् नेता संन्यासी का वेश धारण करके अपने आपको महात्मा कहलवाने लगते हैं, किन्तु उनका एकमात्र प्रयोजन अपने राजनीतिक शत्रुओ को

परास्त करना रहता है। चूँकि वे अपने जीवन को "यह मेरा है" के मोह से भ्रष्ट कर चुके होते हैं, अतः न उनकी आत्म-उन्नति हो पाती है और न वे माया के चगुल से मुक्त हो पाते है।

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः ।
क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्
सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः ॥१६॥

प्रसज्जति=अधिकाधिक आसक्त होता है; **क्वापि**=कभी-कभी; **लता-भुज-आश्रयः**=जो अपनी सुन्दर पत्नी की लता सदृश कोमल बाहो का आश्रय लेता है; **तत्-आश्रय**=जो ऐसी लताओ में आश्रय लेते है, **अव्यक्त-पद**=जो अस्पष्ट पद (गीत) गाते हैं; **द्विज-स्पृहः**=पक्षियो का गाना सुनने का इच्छुक; **क्वचित्**=कभी-कभी; **कदाचित्**=कही, **हरि-चक्रतः त्रसन्**=सिह की दहाड़ से भयभीत, **सख्यम्**=मित्रता, **विधत्ते**=करता है; **बक-कङ्क-गृध्रैः**=बगुलों, सारसों तथा गीधो के साथ।

अनुवाद

कभी-कभी जीवात्मा संसार रूपी जंगल में लताओं का आश्रय लेता है और उन लताओं में बैठी चिड़ियों की चहचहाहट सुनना चाहता है। जंगल के सिंहों की दहाड़ से भयभीत होकर वह बगुलों, सारसो तथा गृद्धों से मैत्री स्थापित करता है।

तात्पर्य

इस ससार रूपी जगल में अनेक प्रकार के पशु, पक्षी, वृक्ष तथा लताएँ होती हैं। कभी-कभी जीवात्मा लताओ का आश्रय लेना चाहता है अर्थात् वह लताओ के समान भुजाओ वाली अपनी स्त्री का चुम्बन करना चाहता है। इन लताओं में अनेक चहकने वाले पक्षी रहते है—इससे यह सूचित होता है कि अपनी पत्नी की मधुरवाणी सुनकर सन्तुष्ट होना चाहता है। किन्तु वृद्धावस्था में वह सन्निकट-मृत्यु से भयभीत हो उठता है जिसकी तुलना दहाड़ते सिह से की गई है। सिह के आक्रमण से बचने के लिए वह धूर्त स्वामियो, योगियों, अवतारो, वचको की शरण में जाता है। इस प्रकार माया के द्वारा पथभ्रष्ट होकर वह अपना जीवन विनष्ट कर देता है। कहा गया है—**हरिं विना मृतिं न तरन्ति**—श्रीभगवान् की शरण लिए बिना कोई भी मृत्यु के आसन्न भय से बच नही सकता। यहाँ 'हरि' शब्द से सिह तथा श्रीभगवान् दोनो का सूचन होता है। हरि अर्थात् मृत्यु रूपी सिह से बचने के लिए

हरि (ईश्वर) की शरण लेनी होती है। किन्तु अल्पज्ञानी लोग मृत्यु के चंगुल से बचने के लिए अभक्त वचको की शरण मे जाते है। इस ससार रूपी जगल मे जीवात्मा सबसे पहले अपनी पत्नी की भुजवल्लरियो की शरण मे जाकर उसकी मधुरवाणी सुनना चाहता है। बाद मे वह नामधारी गुरुओ तथा साधुओ की शरण ग्रहण करता है जो बगुलो, सारसो तथा गीधो के समान है। इस प्रकार परमेश्वर की शरण मे न जाने से वह दोनो ओर से ठगा जाता है।

तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-
न्नरोचयन् शीलमुपैति वानरान्।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः
परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः ॥१७॥

तैः=उनके द्वारा (वचको, तथाकथित योगियो, स्वामियों, अवतारो तथा गुरुओ द्वारा); **वञ्चितः**=ठगा जाकर; **हंस-कुलम्**=परमहसो या भक्तो की सगति; **समाविशन्**=सम्पर्क करके, **अरोचयन्**=सन्तुष्ट न रहकर; **शीलम्**=शील, आचार; **उपैति**=पास जाता है, **वानरान्**=बदर, जो दुश्चरित्र कामी पुरुष तुल्य है; **तत्-जाति-रासेन**=ऐसे कामी पुरुषो के सग में विषय-तृप्ति द्वारा, **सुनिर्वृत-इन्द्रियः**=इन्द्रियसुख प्राप्त होने से अत्यधिक सतुष्ट; **परस्पर**=एक दूसरे का; **उद्वीक्षण**=मुख देख-देख कर; **विस्मृत**=भूला हुआ; **अवधिः**=जीवन का अन्त।

अनुवाद

संसार रूपी जंगल में नामधारी योगियों, स्वामियों, तथा अवतारों से ठगा जाकर जीवात्मा उनकी संगति छोड़कर असली भक्तों की संगति में आने का प्रयत्न करता है, किन्तु दुर्भाग्यवश वह सद्गुरु या परम भक्त के उपदेशों का पालन नही कर पाता, अतः वह उनकी संगति छोड़कर पुनः बन्दरों की संगति में वापस आ जाता है जो मात्र इन्द्रिय-तृप्ति तथा स्त्रियों मे रुचि रखते हैं। वह इन विषयीजनों के साथ रहकर संतोष लाभ करता है और संभोग तथा मद्य सेवन में लगा रहता है। इस तरह अपना जीवन नष्ट कर देता है। वह अन्य विषयीजनों को देख-देख कर भूला रहता है और मृत्यु निकट आ जाती है।

तात्पर्य

कभी-कभी मूढ व्यक्ति कुसगति से ऊब कर भक्तो तथा ब्राह्मणो की सगति मे आता है और गुरु से दीक्षा लेता है। वह गुरु के बताये गये विधि-विधानो का पालन

करने का यत्न करता है, किन्तु दुर्भाग्यवश उनको चालू नही रख पाता। फलतः वह भक्तो का सग छोड़कर उन पुच्छहीन लोगो (बन्दरो) का साथ करता है जो सभोग तथा मद्यपान मे ही रुचि रखते है। जो तथाकथित आत्मवादी है, उनकी तुलना वंदरों से की गई है। वाहर से वन्दर साधुओ से मिलते-जुलते है क्योकि वे नगे रहते और फल खाते है, किन्तु उनकी एकमात्र आकाक्षा होती है अनेक पत्नियाँ बनाकर विषयी जीवन विताना। कभी-कभी नामधारी आत्मवादी आत्म-जीवन की खोज के वहाने श्रीकृष्णभावनाभावित भक्तो का साथ करते है, किन्तु वे न तो विधि-विधानों का पालन कर पाते है, न आत्म-जीवन के पथ का ही अनुसरण करते है। फलतः वे भक्तों का साथ छोड़कर विषयी पुरुषो का साथ करते है, जिनकी तुलना बन्दरो से की गई है। वे पुनः विषयी भोग तथा मद्यपान को चालू कर देते है और एक दूसरे के मुख को देखते हुए वे सन्तुष्ट (प्रसन्न) रहते है। इस प्रकार से वे मृत्यु आने तक अपना जीवन विताते रहते है।

द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने।
क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥१८॥

द्रुमेषु=वृक्षो मे (अथवा वृक्षवत् घरो मे जिनमे बन्दर एक डाली से दूसरी डाली पर कूदते रहते है); **रंस्यन्**=भोगता हुआ; **सुत-दार-वत्सलः**=बच्चो तथा पत्नी के प्रति अनुरक्त, **व्यवायदीनः**=विषय भोग के कारण दुर्बल हृदय वाला; **विवशः**=त्यागने मे अक्षम, **स्व-बन्धने**=कर्म फल के बन्धन मे; **क्वचित्**=कभी-कभी, **प्रमादात्**=आसन्न मृत्यु के भय से, **गिरि-कन्दरे**=पर्वत की गुफा मे, **पतन्**=गिरकर, **वल्लीम्**=लताओ की शाखाएँ, **गृहीत्वा**=पकडकर, **गज-भीतः**=मृत्यु रूपी हाथी से भयभीत, **आस्थित.**=उस स्थिति मे रहा आता है।

अनुवाद

जब जीवात्मा एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने वाले बन्दर के सदृश बन जाता है तो गृहस्थ जीवन के वृक्ष में मात्र विषय सुख (संभोग) के लिए उस वृक्ष पर रहा आता है। इस प्रकार वह अपनी पत्नी से वैसे ही पद-प्रहार पाता है जैसे कि गधा गधी से। मुक्ति का साधन न पाने के कारण वह असहाय बनकर उसी अवस्था में रहा आता है। कभी-कभी उसे असाध्य रोग हो जाता है जो पर्वत की गुफा में गिरने जैसा है। वह इस गुफा के पीछे रहने वाले मृत्यु रूपी हाथी से भयभीत हो उठता है और लताओ की टहनियाँ पकड़े रहकर लटका रहता है।

तात्पर्य

यहाँ पर गृहस्थ के जीवन की भयावह स्थिति का वर्णन है। गृहस्थ का जीवन कष्टो से परिपूर्ण है और उसका एकमात्र आकर्षण अपनी पत्नी से सभोग रहता है जो उसे रति-क्रीड़ा के समय गधी के समान पद-प्रहार करती है। निरन्तर विषयी जीवन बिताने से उसे अनेक असाध्य रोग हो जाते है। उस समय, हाथी के समान मृत्यु से भयभीत होकर वह बन्दर के समान वृक्षो की शाखाएँ पकड़ कर लटका रहता है।

अतः कथञ्चित्स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो
भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥१९॥

अतः=इससे, **कथञ्चित्**=कुछ भी, **सः**=वह, **विमुक्तः**=मुक्त, **आपदः**=विपत्ति से; **पुनः च**=फिर से, **स-अर्थम्**=जीवन में रुचि लेता हुआ; **प्रविशति**=प्रवेश करता है, प्रारम्भ करता है; **अरिम्-दम**=शत्रुओ के हता, हे राजा!; **अध्वनि**=भोग पथ पर, **अमुष्मिन्**=उस; **अजया**=माया के प्रभाव से, **निवेशितः**=डूबा हुआ; **भ्रमन्**=घूमते हुए; **जनः**=बद्धजीव; **अद्य अपि**=मृत्यु तक; **न वेद**=नही जानता; **कश्चन**=कुछ भी।

अनुवाद

हे शत्रुओं के संहारक, महाराज रहूगण! यदि बद्धजीव किसी प्रकार से इस भयानक स्थिति से उबर आता है तो वह पुनः विषयी जीवन बिताने के लिए अपने घर को लौट जाता है क्योंकि वही आसक्ति का मार्ग है। इस प्रकार ईश्वर की माया से वशीभूत वह संसार रूपी जंगल में घूमता रहता है। उसे मृत्यु के निकट पहुँच कर भी अपने वास्तविक हित का पता नहीं चल पाता।

तात्पर्य

यह सासारिक जीवन की रीति है। जब कोई विषयो के प्रति आकृष्ट होता है तो वह अनेक प्रकार से बँध जाता है और अपने जीवन का सही लक्ष्य नही समझ पाता। अतः श्रीमद्भागवत का (७.५.३१) कथन है—**न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुम्**—सामान्यतः लोग जीवन के चरम उद्देश्य को नही समझ पाते। जैसा कि वेदो मे कहा गया है—**ॐ तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**—जो आत्मज्ञानी है वे

केवल विष्णु के चरणकमलो को देखते हैं। किन्तु बद्धजीव विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध को पुनः स्थापित करने मे कोई रुचि न रख कर भौतिक विषयो में लगा रहता है और नेताओ से पथभ्रष्ट होकर अखण्ड बन्धन मे रहा आता है।

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः।
असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥२०॥

रहूगण=हे राजा रहूगण !; **त्वम्**=तुम; **अपि**=भी, **हि**=निश्चय ही; **अध्वनः**=संसार पथ का, **अस्य**=इस; **संन्यस्त-दण्डः**=अपराधियो को दण्ड देने वाले राज दण्ड को त्याग कर; **कृत-भूत-मैत्रः**=प्रत्येक प्राणी के मित्र बन कर; **असत्-जित-आत्मा**=जिसका मन जीवन के भौतिक सुख के प्रति आकृष्ट नही होता; **हरि-सेवया**=परमेश्वर की प्रेममय सेवा के द्वारा, **शितम्**=पैनी, **ज्ञान-असिम्**=ज्ञान की तलवार; **आदाय**=हाथ में लेकर, **तर**=पार करो, **अति-पारम्**=उस अन्तिम छोर को (दूसरे पार)।

अनुवाद

हे राजा रहूगण! तुम भी भौतिक सुख के प्रति आकर्षण-मार्ग में स्थित होकर माया के शिकार हो। मै तुम्हे राज पद तथा अपराधियो को दण्ड देने वाले राज दंड का परित्याग करने की सलाह देता हूँ जिससे तुम समस्त जीवात्माओं के सुहृद (मित्र) बन सको। विषय भोगों को त्याग कर अपने हाथ में भक्ति से पैनाई हुई ज्ञान की तलवार को धारण करो। तब तुम माया की कठिन ग्रंथि को काट सकोगे और अज्ञानता के सागर को पारकर दूसरी ओर जा सकोगे।

तात्पर्य

भगवद्गीता में (१५.३-४) भगवान् कृष्ण ने इस ससार की तुलना मोह के वृक्ष से की है जिससे प्रत्येक प्राणी को छूटना है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

"इस वृक्ष का असली रूप इस ससार में नहीं दिखता। इसके आदि, अन्त अथवा आधार को कोई नही जान सकता। इसलिए इस ससार वृक्ष को दृढ निश्चय के साथ वैराग्य रूपी शस्त्र से काट कर फिर उस परमपद को खोजना चाहिए जिसे प्राप्त करके इस ससार मे फिर नही आना पडता। इसके लिए उन्ही आदि पुरुप श्रीभगवान् के शरणागत हो जाय जिनसे यह पुरातन ससार-प्रवृत्ति फैली है और अनादिकाल से जिनके आश्रित है।"

राजोवाच

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन्।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां
महात्मनां वः प्रचुरः समागमः ॥२१॥

राजा उवाच=राजा रहूगण ने कहा; **अहो**=ओह !; **नृ-जन्म**=मनुष्य का जन्म लेने वाले तुम, **अखिल-जन्म-शोभनम्**=सब योनियो मे श्रेष्ठ; **किम्**=क्या आवश्यकता, **जन्मभिः**=देवता जैसी उच्चयोनि मे जन्म लेने से; **तु**=लेकिन, **अपरैः**=अन्यान्य, निकृष्ट; **अपि**=निस्सदेह, **अमुष्मिन्**=अगले जन्म में, **न**=नही, **यत्**=जो, **हृषीकेश-यशः**=समस्त इन्द्रियो के स्वामी श्रीभगवान् हृषीकेश के पवित्र यश से; **कृत-आत्मनाम्**=जिनके हृदय विमल है, शुद्ध अन्त करण वाले, **महा-आत्मनाम्**=महात्माओ का, **वः**=हम सव का, **प्रचुरः**=अत्यधिक, **समागमः**=संगति।

अनुवाद

राजा रहूगण ने कहा—यह मनुष्य जन्म समस्त योनियों मे श्रेष्ठ है। यहाँ तक स्वर्ग में देवताओं के बीच जन्म लेना उतना यशपूर्ण नही जितना कि इस पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म है। तो फिर देवता जैसे उच्च पद का क्या लाभ ? स्वर्गलोक में अत्यधिक भोग सामग्री के कारण देवों को भक्तों की संगति का अवसर ही नही मिलता।

तात्पर्य

आत्म-साक्षात्कार के लिए मनुन्य जन्म एक महान सुअवसर होता है। चाहे कोई स्वर्गलोक मे देवताओ के बीच जन्म क्यो न ले, किन्तु भौतिक सुविधाओ की प्रचुरता के कारण भव-बन्धन से छुटकारा नही मिल पाता। इस पृथ्वी पर भी जो ऐश्वर्य-वान हैं वे कृष्ण-भक्ति की कोई परवाह नही करते। जो बुद्धिमान पुरुष भौतिकता के चगुल से छूटना चाहता है उसे चाहिए कि वह शुद्ध भक्तो की सगति करे। इस

संगति से वह क्रमशः धन तथा स्त्री के आकर्षण से विरक्त होता जावेगा। भौतिकता के मूलभूत तत्व धन तथा स्त्रियाँ है। अतः श्रीचैतन्य महाप्रभु ने यह उपदेश दिया है कि जो श्रीभगवान् के धाम को वापस जाना चाहते है उन्हे धन तथा स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए जिससे वे ईश्वर के साम्राज्य मे प्रवेश कर सके। धन तथा स्त्रियो का पूर्ण उपभोग ईश्वर की सेवा मे किया जा सकता है और जो ऐसा कर सकता है वह भव-वन्धन से मुक्त हो जाता है। **सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः** (भागवत ३.२५ २५)। भक्तो की सगति मे रह कर ही श्रीभगवान् के यश का आस्वादन सम्भव है। विशुद्ध भक्त की किंचित सगति से मनुष्य श्रीभगवान् के धाम जाने मे सफल हो सकता है।

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः ॥२२॥

न=नही, **हि**=निश्चय ही, **अद्भुतम्**=अद्भुत, **त्वत्-चरण-अब्ज-रेणुभिः**= आपके चरणकमलो की धूलि से, **हत-अंहस**=पाप से मुक्त मै, **भक्तिः**=प्रेम तथा भक्ति, **अधोक्षजे**=श्रीभगवान् मे, जो व्यवहार ज्ञान की पकड़ से परे है, **अमला**= सासारिक कल्मषो से रहित, विमल, **मौहूर्तिकात्**=क्षणिक, **यस्य**=जिसका; **समागमात्**=आने तथा सगति से, **च**=भी, **मे**=मेरा, **दुस्तर्क**=झूठे तर्कों का, कुतर्को का, **मूलः**=मूल, मूलकारण, **अपहतः**=पूर्णतया विनष्ट हो गये; **अविवेकः** =अज्ञान।

अनुवाद

यह कोई विचित्र बात नही है कि केवल आपके चरण कमलों की धूलि से धूसरित होने से मनुष्य तुरन्त विशुद्ध भक्ति के अधोक्षज पद को प्राप्त होता है जो ब्रह्मा जैसे देवता के लिए भी दुर्लभ है। आपके क्षणमात्र के समागम से अब मै समस्त तर्कों, अहंकार तथा अविवेक से मुक्त हो गया हूँ जो इस भौतिक जगत में बंधन के मूल कारण है। मै अब इन समस्त झंझटों से मुक्त हूँ।

तात्पर्य

शुद्ध भक्तो के समागम से भौतिक बधनो से मुक्ति निश्चित है। यह जड भरत की सगति से राजा रहूगण के प्रसग मे और भी सत्य है। राजा रहूगण तुरन्त ही

भौतिक संगति के दुष्परिणामो से मुक्त हो गये । शुद्ध भक्त द्वारा अपने शिष्य को दिये गये तर्क इतने विश्वसनीय होते है कि मूढ से मूढ़ शिष्य भी तुरन्त प्रकाश प्राप्त कर सकता है ।

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आवटुभ्यः ।
ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-
श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम् ॥२३॥

नमः =नमस्कार है; **महद्भ्यः** =महापुरुषो को; **अस्तु**=हो; **नमः**=मेरा नमस्कार; **शिशुभ्यः**=जो महापुरुष शिशु रूप में हो, उनका; **नमः** =सादर नमस्कार; **युवभ्यः**=जो युवा (तरुण) हो, उन्हें; **नमः** =सादर नमस्कार; **आ-वटुभ्यः** =जो बालक के रूप मे हो उन्हे; **ये**=जो सब, **ब्राह्मणाः**=दिव्यज्ञान मे सिद्ध, **गाम्**= पृथ्वी, **अवधूत-लिङ्गाः** =विभिन्न वेषो मे छिपे रहने वाले, **चरन्ति**=घूमते रहते है; **तेभ्यः**=उनसे; **शिवम् अस्तु**=कल्याण हो; **राज्ञाम्** =राजाओ का (जो गर्वित रहते है) ।

अनुवाद

मै उन महापुरुषों को नमस्कार करता हूँ जो इस धरातल पर शिशु, तरुण बालक, अवधूत या परम ब्राह्मण के रूप में विचरण करते है। यदि वे विभिन्न वेशों में कही छिपे हुए है तो भी मै सबको नमस्कार करता हूँ । उनके अनुग्रह से उनका अपमान करने वाले वंशों का कल्याण हो ।

तात्पर्य

राजा रहूगण को अत्यन्त पश्चाताप हुआ क्योकि उन्होने जड भरत को अपनी पालकी ढोने के लिए बाध्य किया था । अतः उन्होने समस्त प्रकार के ब्राह्मणो तथा स्वरूपसिद्ध पुरुषो की वन्दना करनी प्रारम्भ की, चाहे वे शिशु रूप मे हो या किसी भी वेश मे छिपे हुए हो । चारो अश्विनीकुमार पाँचवर्षीय बालको के रूप मे सर्वत्र घूमते थे । इसी प्रकार अनेक ब्राह्मण बच्चे, तरुण या अवधूत रूप मे विश्व का परिभ्रमण करते रहते है । सामान्यतः राजा लोग अहकारवश इन महापुरुषों का तिरस्कार करते है । अत. राजा रहूगण ने उनको ही सादर नमस्कार किया है जिससे अहंकारी राजवश नरक को न प्राप्त हो । यदि कोई महापुरुष का अपमान करता है तो श्रीभगवान् उसे क्षमा नही करते । दुर्वासा ने महाराज अम्बरीष का अपमान किया था, अतः जब वह भगवान् विष्णु के पास क्षमा के लिए पहुँचे तो उन्होने क्षमा

नही प्रदान की—उन्हे महाराज अम्बरीष के चरणो पर गिरना पड़ा, यद्यपि वे क्षत्रिय गृहस्थ थे। मनुष्य को चाहिए कि वह वैष्णव तथा ब्राह्मण का अपमान न करे।

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दित चरण आपूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार ॥२४॥

श्री-शुकः उवाच =श्रीशुकदेव गोस्वामी ने कहा; **इति एवम्**=इस प्रकार; **उत्तरा-मातः**=माता उत्तरा के पुत्र, हे महाराज परीक्षित !; **सः**=वह ब्राह्मण; **वै**= निस्सदेह, **ब्रह्म-ऋषि-सुतः**=अत्यन्त शिक्षित ब्राह्मण का पुत्र, जड भरत; **सिन्धु-पतये**=सिंधु राज्य के राजा को, **आत्म-स-तत्त्वम्**=आत्मा की वास्तविक वैधानिक स्थिति; **विगणयतः**=जड भरत का अपमान करने पर भी, **पर-अनुभावः**=परम आत्मज्ञानी, **परम-कारुणिकतया**=पतित-आत्माओ के प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण; **उपदिश्य**=उपदेश देकर; **रहूगणेन**=राजा रहूगण के द्वारा; **स-करुणम्** =दीनभाव से; **अभिवन्दित-चरणः**=जिसके चरण-कमलो की वन्दना की गई; **आपूर्ण-अर्णवः इव**=परिपूर्ण सागर के समान; **निभृत**=पूर्णतया शान्त; **करण**= इन्द्रियो की, **ऊर्मि**=लहरे, **आशयः**=अन्तःकरण मे, **धरणीम्**=पृथ्वी, **इमाम्**= यह; **विचचार**=घूमने लगे।

अनुवाद

श्रील शुकदेव गोस्वामी ने कहा, हे राजन, हे उत्तरा पुत्र ! राजा रहूगण द्वारा अपनी पालकी ले जाने के लिए बाध्य किये जाने से अपमानित होकर जड भरत के मन में असंतोष की लहरें प्राप्त थी, किन्तु उन्होंने इनकी उपेक्षा की और उनका हृदय पुनः सागर के समान शान्त हो गया। यद्यपि राजा रहूगण ने उनका अपमान किया, किन्तु वे थे महान् परमहंस। वैष्णव होने के नाते वे परम दयालु थे, अतः उन्होंने राजा को आत्मा की वास्तविक वैधानिक स्थिति बतलाई। तब उन्हें अपमान भूल गया क्योंकि राजा रहूगण ने विनीत भाव से उनके चरणकमलो पर क्षमा मांग ली थी। इसके बाद वे पुन: पूर्ववत् सारे विश्व का भ्रमण करने लगे।

तात्पर्य

श्रीमद्‌भागवत में (३.२५.२१) कपिलदेव ने महापुरुषो के लक्षण वतलाये है—**तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्**। साधु भक्त अन्यन्त सहिष्णु होता है। वह सर्वजीवो का मित्र होता है और ससार मे वैर नही पालता। शुद्ध भक्त मे साधु के समस्त गुण पाये जाते है। जड भरत इसके उदाहरण है। भौतिक शरीर होने से जब राजा रहूगण द्वारा उनका अपमान हुआ तो वे विक्षुब्ध अवश्य हुए थे, किन्तु बाद मे राजा के अनुनय-विनय से जडभरत ने उसे क्षमा कर दिया। जो कोई भी श्रीभगवान् के धाम को जाना चाहता है उसका परम कर्तव्य है कि वह राजा रहूगण के समान विनीत हो और जिस वैष्णव का अपमान किया हो उससे क्षमा माँगे। वैष्णव सामान्यतः परम दयालु होते है, अत· जब कोई उनके चरणो मे समर्पण कर देता है तो वे उनके पाप कर्म को क्षमा कर देते है। यदि ऐसा नही किया जाता तो पाप कर्म बने रहते हैं और फल अच्छा नही निकलता।

सौवीरयतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज। एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः ॥२५॥

सौवीर-पति=सौवीर राज्य का राजा, **अपि**=निश्चय ही; **सुजन**=महापुरुष से, **समवगत**=भली-भाँति अवगत होकर, जानकर, **परमात्म-स-तत्त्वः**=आत्मा तथा परमात्मा की वैधानिक स्थिति की सत्यता, **आत्मनि**=अपने आप में, **अविद्या**=अज्ञान से, **अध्यारोपिताम्**=भूल से आरोपित; **च**=तथा; **देह**=शरीर मे; **आत्म-मतिम्**=स्व-बोध, **विससर्ज**=पूर्णतया त्याग दिया, **एवम्**=इस प्रकार, **हि**=निश्चय ही, **नृप**=हे राजन्!, **भगवत्-आश्रित-आश्रित-अनुभावः**=परम्परानुसार सद्‌गुरु की शरण मे आये हुए भक्त की शरण मे (जो निश्चित रूप से अविद्या रूपी देहात्म-बुद्धि को निकाल पाने मे समर्थ है)।

अनुवाद

परम भक्त जड भरत से उपदेश ग्रहण करने के पश्चात् सौवीर का राजा, रहूगण आत्मा की वैधानिक स्थिति से पूर्णतया परिचित हो गया। उसने देहात्म-बुद्धि का सर्वशः परित्याग कर दिया। हे राजन्! जो भी ईश्वर के भक्त की शरण ग्रहण करता है वह धन्य है क्योंकि किसी कठिनाई के बिना वह देहात्मबुद्धि त्याग सकता है।

तात्पर्य

जैसा कि चैतन्य चरितामृत मे (मध्य २२.५४) मे कहा गया है—

"साधु संग", "साधु संग"—सर्व-शास्त्रे कय।
लवमात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

यह सच है कि चाहे क्षण भर की ही सगति क्यो न हो, यदि कोई शुद्ध भक्त की शरण जाता है तो उसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है। साधु भगवान् का शुद्ध भक्त होता है। यह हमारा स्वय का अनुभव है कि हम गुरु के प्रथम उपदेश से ही श्रीकृष्णभावना से अभिभूत हो उठे जिससे आज हम श्रीकृष्णभावनामृत के पथ पर है और कृष्ण-दर्शन को समझ सकते है। परिणाम यह हुआ कि आज अनेक भक्त श्रीकृष्णभावनामृत आन्दोलन मे सलग्न है। यह समूचा ससार देहात्मबुद्धि के वशीभूत होकर चक्कर लगा रहा है। संसार भर मे लोगो को ज्ञान प्रदान करने और कृष्ण भक्ति मे लगाने के लिए भक्तो का जाल बिछ जाना चाहिए।

राजोवाच

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोक-समधिगमः। अथ तदेवैतद्दुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति॥२६॥

राजा उवाच=राजा परीक्षित ने कहा; **यः**=जो; **ह**=निश्चय ही, **वा**=अथवा; **इह**=इस वर्णन मे, **बहु-विदा**=दिव्य ज्ञान की अनेक घटनाओ को जानने वाले, **महा-भागवत**=हे परम भक्त साधु; **त्वया**=आपके द्वारा; **अभिहित**=वर्णित; **परोक्षेण**=अलकारिक रीति से; **वचसा**=शब्दो से, **जीव-लोक-भव-अध्वा**=बद्धजीव की ससार रूप मार्ग, **सः**=वह, **हि**=निस्सदेह, **आर्य-मनीषया**=सिद्ध भक्तो की बुद्धि से, **कल्पित-विषय.**=कल्पना किया गया विषय; **न**=नही, **अञ्जसा**=प्रत्यक्ष, **अव्युत्पन्न-लोक**=अल्प बुद्धि वाले पुरुष, **समधिगमः**=पूर्ण ज्ञान; **अथ**=अत, **तत्-एव**=उसके कारण, **एतत्**=यह विषय; **दुरवगमम्**=दुर्बोध, समझने मे कठिन, **समवेत-अनुकल्पेन**=ऐसी घटनाओ (रूपक) का स्पष्टीकरण करने वाले; **निर्दिश्यताम्**=वर्णन करे, **इति**=इस प्रकार।

अनुवाद

तब राजा परीक्षित ने शुकदेव गोस्वामी से कहा—हे भगवान्, हे परम

साधु ! आप सर्वज्ञाता है। आपने बद्धजीव की स्थिति का अत्यन्त मनोहर वर्णन जंगल के वणिक के रूप में किया है। इन उपदेशो से कोई भी बुद्धिमान मनुष्य समझ सकता है कि देहात्मबुद्धि वाले पुरुष की इन्द्रियाँ उस जगल मे चोर-उचक्को सी है और उसकी पत्नी तथा बच्चे सियार तथा अन्य हिंस्र पशुओ के तुल्य है। किन्तु अल्पज्ञानियो के लिए इस आख्यान को समझ पाना सरल नही है क्योकि इस रूपक का सही-सही अर्थ निकल पाना कठिन है। अतः मै आपसे प्रार्थना करता हूँ कि इसका अर्थ खोलकर बतावे।

तात्पर्य

श्रीमद्भागवत मे ऐसे अनेक आख्यान तथा घटनाएँ है, जिनका वर्णन रूपक के माध्यम से किया गया है। ऐसे रूपको का अर्थ अल्पज्ञो की समझ मे नही आता, अत. ज्ञान-पिपासु छात्र का यह परम कर्तव्य है कि वह स्पष्ट व्याख्या के लिए प्रामाणिक गुरु के पास जाय।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां पञ्चमस्कन्धे भक्तिवेदान्त भाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के पचम स्कध के अन्तर्गत, "राजा रहूगण तथा जड भरत के बीच और आगे वार्ता" शीर्षक नामक तेरहवे अध्याय का भक्तिवेदान्त तात्पर्य समाप्त हुआ।